ओ३म्

वैदिक-ज्योति

आचार्य वैद्यनाथशास्त्री

वद (ओं वेदार्यसमाजी)

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

आर्यकन्या गुरुकुल

रानावाव पोरबंदर (सौराष्ट्र)

ओ३म्

वैदिक-ज्योति

लेखक— सामवेदभाष्यकार, आर्यसिद्धान्तसागर तथा कर्ममीमांसा
आदि पुस्तकों के लेखक वैदिक-अनुसंधान-कर्ता—

आचार्य वैद्यनाथशास्त्री

प्रथमावृत्ति १००० } सितम्बर १९५५ { मूल्य ७)

प्रकाशक : आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री
C/o. पोस्ट बोक्स १
राजवाडी, पोरबन्दर

: मुद्रक :
जीवन प्रिंण्टिग प्रेस
सुदामा रोड–पोरबन्दर

विशेष—

इस पुस्तक के महान् कार्य मे सहायतार्थ—
"स्व. सेठश्री पेपटलाल कालिदास वेदप्रचारनिधि"
की तरफ से—आर्यकन्यागुरुकुल एवं महिलामहाविद्यालय
पोरबन्दर तथा महर्षि—दयानन्द—विद्यालय, चौकी, सोरठ
आदि संस्थावें के संस्थापक, विविध आर्य संस्थावें तथा
उपयोगी कार्यों मे अब तक लगभग एक करोड़ चालीस
लाख रूपयें की राशि के दानी, महर्षि दयानन्दसरस्वती
के अनन्य भक्त, वेदप्रेमी धर्मनिष्ठ
सेठश्री नानजीभाई कालिदास मेहता के द्वारा
आर्थिक सहायता मिला है—
तदर्थ धन्यवाद—

लेखक

॥ ओ३म् ॥

-: प्राक्कथन :-

गतवर्ष सितम्बर मास मे मेरी पुस्तक कर्ममीमांसा प्रकाशित हो कर जनता के समक्ष आयी। भारत के उच्चकोटि के विद्वानोने इसकी भूरि भूरि प्रशंसा की। पुस्तक का प्रथम संस्करण भी चार मास के अन्दर ही समाप्त हो गया। अब वह पुस्तक आर्य-साहित्य-मण्डल अजमेर के द्वारा दूसरे संस्करण के रूप में जनता के सम्मुख शीघ्र ही प्रस्तुत की जावेगी।

प्रस्तुत पुस्तक, जिसकी मैं आज भूमिका लिखने बैठा हूँ वैदिक-ज्योति है। यह अब शीघ्र ही मुद्रित हो जनता के सामने आने वाली है। इस के निर्माणका सूत्रपात उसी समय हो गया था जब कि मैने वेदानुशीलन और वैदिक अनुसंधान का कार्य प्रारंभ किया। वर्षों के अनुसंधान और गवेषणा का परिणाम यह पुस्तक है। इस के एक एक निबन्ध बहुत ही खोज और विचार के बाद लिखे गये हैं। कभी कभी तो इनके प्रसंग में उठने वाली समस्यावों के समाधान खोज निकाल ने में मैं रात - रात भर जगता रह जाता था। यदि कोई प्रश्न सोते समय भी उठ खड़ा होता था तो उठ कर पुस्तकों के पृष्ट उलटने लगता था।

वैदिक अन्वेषण का मार्ग बहुत कठिन हो गया है। नवीन भाष्यकारों और पाश्चात्य विद्वानो ने वैदिक अनुशीलन की इतनी जटिल स्थिति बना दी है कि साधारण की उसमे गति नहीं। साथ ही ब्रह्मा से लेकर जैमिनि ऋषि पर्यन्त चली आयी तथा वर्तमान युग के महान् वेदज्ञ ऋषि दयानन्द द्वारा पुनरुज्जीवित वैदिक-प्रक्रिया को लेकर चलने में सीधे बहाव की ओर तैरना पड़ता है। नवीनो और पाश्चात्यविपश्चितों तथा उनके अनुयायी एतद्देशीयों की विरुद्ध विचारशैलियों का घोर सामना किये विना कार्य नहीं चलता है। वैदिक-साहित्य की दुरूहता एक अलग वस्तु है। क्यों कि वर्तमान समय में उस की परम्परा नष्ट सी हो गयी है। ऐसी स्थिति में वेदानुसंधान का कार्य कितना कठिन है, यह स्वयं समझ में आ सकता है।

जीवन की अनेक विघ्नबाधावों का सामना करने के बाद भी मैं अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ कि आंग्लभाषा, आंग्लदर्शन की शिक्षामें पले होते हुये भी मैने संस्कृतकी भी उच्चस्तर की शिक्षा ली और मेरी वेद और ऋषि दयानन्द-प्रदर्शित सिद्धांतों में अतीव श्रद्धा है। अनेक उच्चपदों, यश और अर्थ के प्रलोभनो

का अवसर आने पर भी मैने सभी स्वार्थों को ठुकरा कर अपने जीवन में ऋषि के आदर्शों, सिद्धान्तों, और देश तथा वैदिकधर्म की सेवा को ही सदा उच्च स्थान दिया है। उसीमे लगा हूँ और रहूँगा। सन् १९२९ से सन् १९४५ तक मेरे जीवन का सम्बन्ध सक्रिय राजनीतिक संस्था कांग्रेस से रहा है। इसमें मुझे बहुत समय तक और एक दो नहीं पांच पांच बार जेल मे भी रहना पड़ा है। मै अपने राजनैतिक बलिदानों और त्यागों का किसी से कोई पारितोषिक नहीं चाहता और न कोई पार्टी खड़ी कर किसी राजनैतिक उच्च-पद-लिप्सा की पूर्ति ही करना पसन्द करता हूँ, केवल इस लिए यह सब कुछ कह रहा हूं कि मेरे इन सब कार्यों में सारा श्रेय महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों और उनके सिद्धान्तों से प्राप्त प्रेरणा का ही समझा जावे। परमपिता परमेश्वर की यह मुझ पर बड़ी कृपा है कि उसने मुझे आर्यभाषा, संस्कृत और अंग्रेज़ी आदि भाषावों में बोलने और लिखने की समान शक्ति दी है और उसका प्रयोग वेद, धर्म और देश के कार्यों मे ही होता है।

वैदिक-ज्योति का विषय उस के नामानुसार वेद से ही सम्बन्ध रखता है। इसका अधिक उपयोग वेद के अनुसंधान करने वालों और वेदानुशीलक विद्वानो को ही मिल सकता है। फिर भी जनसाधारण भी इसे पढ़कर इस के लाभ से वंचित नहीं रह सकता। इस पुस्तक में मैने प्रकरण एवं अध्यायों का क्रम नहीं रखा है। लेखाङ्क लगाकर ही लेखका विषयानुक्रम रखा है। किसी भी लेख को पढ़ने पर वेद-सम्बन्धी उस विषय का ज्ञान हो जावेगा। विषयों मे परस्पर सम्बन्ध का ख्याल रखा है। इसमें जहाँ वेद के विषय को लक्ष्य में रख कर गूढ़ गवेषणात्मक लेख हैं वहाँ अन्त में कतिपय वेदमंत्रों को लक्ष्य में रखकर विवेचना द्वारा उसके अर्थ को समझाते हुये तत्सम्बन्धी विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

एक आवश्यक बात का मै निर्देश किये विना यहां रह नहीं सकता कि गत तीन वर्षों से आर्य कन्या गुरुकुल पोरबन्दर तथा उसके संस्थापक महर्षि दयानन्द के अनन्य भक्त, वैदिक धर्म के प्रेमी, राज्यरत्न, आर्यसज्जनवर सेठश्री नानजीभाई कालिदास मेहता से मेरा बहुत ही घनिष्ठ संपर्क है। श्री सेठजी ऋषि के आदर्शों के बड़े ही उपासक और स्त्रीशिक्षण मे रस लेने वाले व्यक्ति हैं। उन्हे परमेश्वर ने जहां धन दिया है वहाँ उसके सदुपयोग की बुद्धि भी दी है। उन्हो ने अपनी महती धनराशि से ट्रस्ट बनाकर पोरबन्दर में आर्यकन्यागुरुकुल, तथा महिला-महाविद्यालय, तथा चौकी सोरठ में महर्षि-दयानन्द-विद्यालय की स्थापना की है और आर्थिक दृष्टि से इन्हे निश्चिन्त कर दिया है। डेढ लाख रूपये से महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट की स्थापना आपने की है। देश विदेशों में आपने आर्य तथा अन्य संस्थावों को दान में महती धनराशि दी है। आप के अबतक के विविध दानों की धनराशि लगभग एक करोड़

चालीस हज़ार तक पहुँच चुकी है। अब भी अच्छे कार्यों और वैदिक संस्कृति के उत्थान कार्य में उनका वैसा ही उत्साह है। मेरे इस वेद-सम्बन्धी कार्य को देख कर सेठजी को बड़ी ही प्रसन्नता हुई और बिना मेरे मांगे या एक शब्द के कहे ही उन्हों ने अपने सहज वेद-प्रेम से मेरी इस पुस्तक के छपने आदि कार्य को सरल बनाने के लिए—स्वर्गीय सेठश्री पोपटलाल कालिदास वेद-प्रचारविधि-पोरबन्दर की ओर से जो आर्थिक सहायता दी वह प्रशंसनीय है। स्व. सेठश्री पोपटलाल कालिदास वेदप्रचार निधि की यह आर्थिक सहायता यदि न मिलती तो इस प्रस्तुत पुस्तक के छपने मे बड़ी ही कठिनाई होती और स्यात् पुस्तक इतने शीघ्र जनता के सम्मुख न आ सकती। अतः सेठश्री नानजीभाई कालिदास मेहता और पूर्वोक्त सेठश्री पोपटलाल कालिदास वेद-प्रचार-निधि को उन के कार्य के लिए विशेष धन्यवाद है।

यहां हिन्दी का प्रेस न होने से पुस्तक के छपाने में बड़ी ही कठिनायी रही है। केवल एक जीवन प्रेस है जिसने इस कार्य को उठाया। अतः मुद्रण की त्रुटियां रह जाना स्वाभाविक है। जो भी त्रुटियां इस पुस्तक में रही होंगी अगले संस्करण में ठीक कर दी जावेंगी। आशा है विद्वज्जन एवं आर्यजनता पुस्तक का स्वागत करेंगे। मेरी कर्ममीमांसा पुस्तक पर अनेक ऊच्चकोटिके भारतीय विद्वानो एवं आर्यमनीषियों तथा आर्य बन्धुवों, पत्र पत्रिकावों ने प्रशंसा के भाव व्यक्त किये हैं, एतदर्थ मैं उन सबको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

पोरबन्दर, जन्माष्टमी ११। ८। ५५

वैद्यनाथशास्त्री

—: शुद्धिपत्र :—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ
१	१३	भा	भी
१	२८	चाहिए	चाहिए।
२	६	है सूक्त	है। सूक्त
८	फु. नो. ४	वज़	वाज़
२०	२९	शब्दस्याथेन	शब्दस्यार्थेन
२४	(शीर्षक) १	ऋषि	ऋषि
२९	,, १	भवात	भवति
४४	२१	वेद पदों	वेद के पदों
४४	२०	विश्वान्यमि	विश्वान्यभि
८०	१९	समझते	समझते
८०	१८	उसे	उससे
८१	३	उनका	उनको
८१	१४	विषयरूपी	विषयरूपी
८१	१८	देव	देवता
८२	१५	यास्कने	यास्क के
८२	,,	(अमुद्रित)	प्रयुक्त
१२७	३	दयानन्द पूर्व	दयानन्द से पूर्व
१३७	शीर्षस्थ १	अध्ययननाध्यापन	अध्ययनाध्यापन
१४५	२०	Pratical	Practical
१८७	टिप्पणी १	प्रोक्त	प्रोक्त
२०१	२१	ऋ १।१६।२०	ऋ०१।१६४।२०
२१२	१३	सं. री	संसारी
२१५	१७	ब्रह्मणवाक्य	ब्राह्मणवाक्य
२१७	२९	ह	है।
२३०	३२	छपनेसे (रहगया)	वीर्य
२३२	२९	होता	होता है।

विषयानुक्रमणिका

ॐ

वैदिक - ज्योति

१

वैदिक 'क' और 'ख'

लोक में जब किसी मनुष्य को यह कहते सुना जाता है कि अमुक व्यक्ति इस विषय का 'क' और 'ख' भी नहीं जानता तो साधारण तौर पर यही भाव समझा जाता है कि वह व्यक्ति कुछ भी नहीं जानता। जब हम अपनी विद्या की ऊँची बात करते हैं और कोई व्यक्ति हमारे सामने हमारी प्रशंसा करता है तो हम अपनी नम्रता दिखलाने के लिये यह कहते हैं कि भाई! हमें तो इसका 'क, ख' ही मालूम है। पहले वाक्य में नकारात्मक वाक्य होने से 'क, ख' का अर्थ कुछ नहीं और दूसरे वाक्य में 'क, ख' का अर्थ प्रारम्भिक ज्ञानमात्र है। इस तरह लोक की साधारण बोल चाल में इनका यह प्रयोग पाया जाता है। संस्कृत के कोषों में 'क' और 'ख' के भिन्न २ अर्थ दिये गये हैं। संस्कृत भाषाकी यह बड़ी भारी सुन्दरता है कि उसमें वर्णो को भी पद के रूप में प्रयोग किया जाता है और उनके भिन्न २ अर्थ भी देखे जाते है। 'क' के अर्थ संस्कृत में जल आदि के होते हैं। 'कहार' शब्द भी इसी से बना है, जिसका अर्थ है 'क=जल+हार=उसका लाने हारा' अर्थात् पानी लाने वाला। 'ख' का अर्थ संस्कृत में इन्द्रिय और छिद्र हैं। संस्कृत साहित्य में ये दोनों और भी अर्थो में प्रयोग किये जाते देखे गये हैं। लोक और संस्कृत भाषा मे इनका जहाँ प्रयोग भिन्न २ अर्थों में पाया जाता है, वहाँ वेद और वैदिक ग्रन्थों में भी इनका प्रयोग देखा जाता हैं। लोक में इनका प्रयोग जहां साधारण बातों के बतलाने में ही हैं वहां वेद में इनके प्रयोग मे यह विशेषता देखी जाती है कि ये दोनों विशेष भाव को बतलाने वाले हैं। यजुर्वेद ४०-१६ में "ओं खं ब्रह्म" प्रयुक्त हुआ है। वहां पर ब्रह्म को ख' कहा गया है। इसी प्रकार 'कस्मै देवाय' 'काय त्वा' तथा अन्य कई वेद मन्त्रों में 'क' का भी प्रयोग पाया जाता है। 'क' का प्रयोग वेद और अन्य वैदिक ग्रन्थों में जल, प्रजापति और सुख वा सुखस्वरूप अर्थ में हुआ है। परमेश्वर को 'क' इसलिये कहा गया है कि वह सुखस्वरूप है। शतपथब्राह्मण ६-४-३-४ में "प्रजापतिर्वै कः" से प्रजापति को 'क' कहा गया है। यास्क ने 'कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा' इत्यादि वाक्य से सुखस्वरूप और प्रजापति आदि अर्थों को दर्शाया है:।.जब ब्रह्म को 'क' कहा जाता है तो उसका प्रयोग सुखस्वरूप के भाव को लेकर हुआ समझना चाहिये परमेश्वर 'क' है और ख' भी है। 'क' जहां उसके सुखस्वरूप होने को बताता है वहां 'ख' उसकी सर्वव्यापकता को प्रकट

करता है। ब्रह्म आनन्दमय और सर्वव्यापक है अतः उसे 'क' और 'ख' कहा गया है। इस पर एक रोचक वर्णन उपनिषद् में पाया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् ४।१०।५ में ब्रह्मचारी उपकोशल को अग्नियों का उपदेश पाया जाता है। अग्नियों ने अपनी मूक भाषा में उपकोशल को यह प्रकट किया कि प्राण ब्रह्म है, 'क' ब्रह्म है और 'ख' भी ब्रह्म है। उपकोशल ने कहा कि यह तो मुझे मालूम है कि प्राण ब्रह्म है परन्तु 'क' और 'ख' भी ब्रह्म हैं, यह मैं नहीं जानता। अग्नियों ने कहा कि जो 'क' है वही 'ख' है। अर्थात् दोनों का ब्रह्म अर्थ होने से दोनों एक ही हैं। उनमें कोई भेद नहीं। इस उपदेश से यह साफ प्रकट है कि 'क' और 'ख' परमेश्वर के नाम हैं, वह भी उसके दो गुणों के कारण हैं। मनुष्य को चाहियें कि परमात्मा के इन दो गुणों पर विचार करे और उसे 'क' और 'ख' समझ कर उसकी उपासना करे। जो मनुष्य इस भाव को समझ उस प्रभु की भक्ति करता है वही वास्तव मे 'क' और 'ख' को जानने वाला समझा जाता है। वैदिक 'क, 'ख' को जानना वास्तव में परमेश्वर के स्वरूप को समझना है। इसी लिये वैदिकसाहित्य में 'क, ख' का इतना विस्तार से वर्णन है।

इनका वैदिक ग्रन्थों में वर्णन है यह पूर्वोक्त प्रमाणों से प्रकट हो जायगा। इसके अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थों मे इनका उल्लेख पाया जाता है। यहां तक कि पाणिनि की अष्टाध्यायी भी 'क' के वर्णन से रिक्त नहीं पायी जाती। 'कस्येत्' सूत्र की रचना करते हुए पाणिनि को यह भाव पूर्णतया अभिप्रेत था। इसी लिये महाभाष्यकार ने भी भावका ग्रहण पूरे तरीके पर किया। 'कायं हविः' प्रयोग से इस पूर्वोक्त विचार की पुष्टि भी हो जाती है।

२

ज्ञान और भाषा--ईश्वरीय प्रेरणा

वेद ईश्वरीय ज्ञान है और प्रत्येक कल्प के आदि में इसका प्रकाश भाषा के साथ-साथ परमेश्वर द्वारा मनुष्य पर हुआ करता है, ऐसा आर्यजाति का सुदृढ़ विश्वास है। यह विश्वास ही वास्तव में प्रेरणा (इलहाम) के सिद्धान्तों का मूल है। ऋग्वेदके दशम मण्डल के ७१ वें सूक्त से इस विश्वास को प्रोत्साहन मिलता है। यह सूक्त ११ मन्त्रों का है सूक्त का प्रतिपाद्य विषय, जिसे वेद मे देवता कहा जाता हैं, ज्ञान है। इसमें ज्ञान की उत्पत्ति के सभी मौलिक प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। आदिम अवस्था में ज्ञान का प्रकाश कैसे मनुष्यों को मिला इसका सयुक्ति और सुसंगत वर्णन इसमें भली प्रकार किया गया हैं।

सूक्त के प्रथम१ और तृतीय२ मन्त्र ज्ञान और भाषा की प्रेरणा से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। इनमें यह दर्शाया गया है कि ज्ञान और भाषा दोनों परमेश्वर द्वारा मनुष्य को आदिम अवस्था में प्राप्त हुआ करते हैं। मेरे विचार में यदि यह समस्या सिद्धान्ततः सुलझा दी जावे तो वेदके ईश्वरीय ज्ञान होने मे एक सुविधाजनक विचारधारा उपस्थित हो सकेगी। इसी दृष्टिकोण से यहाँ पर कुछ पंक्तियाँ लिखने का प्रयास किया जाता है।

प्राचीन भारतीय दार्शनिक, वैदिक शब्द और ज्ञान को नित्य मानते हैं। उनके दृष्टिकोण से तो इस दिशा में कोई कठिनाई है नहीं, क्योंकि वे सभी लगभग इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। यदि कोई विचारणीय और निराकरणीय विषय है तो वर्तमान में प्रचलित वाद जिसे कि पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी कुछ भारतीय विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। इस प्रचलित वाद की आधार शिला डार्विन का विकासवाद है। इसके अनुयायी यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान और भाषा का क्रमिक विकास होता है। ये ईश्वर की देन नहीं अपितु परिस्थितियों का सामना करते हुए मनुष्य में स्वयं विकसित हो जाते हैं।

इसके अनुसार ज्ञान और भाषा मनुष्य में स्वयं विकसित हैं ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। चूंकि कई पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने इस विकास-प्रक्रिया से ज्ञान-विकास और भाषा-विकास की पहेली को सुलझाने का प्रयत्न किया है अतः इसकी परीक्षा ही पहले की जाती है। जहाँ तक क्रमशः ज्ञान-वृद्धि के सिद्धान्त का सम्बन्ध है मेरी दृष्टि में वह सर्वथा निराधार है और एक क्लिष्ट कल्पनामात्र है। स्वतः, बिना किसी निमित्त के ज्ञान-विकास मनुष्य में नहीं हो सकता। हाँ, नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य में ज्ञान-वृद्धि हो सकती है। बिना नैमित्तिक ज्ञान के मनुष्य में यदि स्वयं ज्ञान की वृद्धि हो जाती तो अध्यापक और प्रोफेसर लोगों की आवश्यकता ही क्या थी!

१- बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।

२- यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।

स्वयं प्राकृतिक वस्तुयें और स्कूल-कालेजों की सामग्रियाँ अपना सारा ज्ञान बच्चों को करा देतीं। बच्चा पैदा होने से लेकर बढ़ने तक अपने आप किसी ज्ञान की वृद्धि नहीं कर लेता अपितु, माता, पिता और अध्यापकों से सीख कर ज्ञान प्राप्त करता है। यही अवस्था सृष्टि के आदि में होनेवाले प्राणियों की भी ज्ञान प्राप्ति के विषय में समझनी चाहिए। बिना कहीं से नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त किये आदिम मनुष्य अपने आप ज्ञानी नहीं बन जाते। इसी लिए यह मानना पड़ेगा कि इन्हें आदिम अवस्था में किसी के द्वारा ज्ञान की प्रेरणा मिलती है। वह प्रेरणा देनेवाला परमेश्वर है। इस ढंग पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों को अनादि मानना पड़ेगा। बिना ऐसा माने कार्य चल नहीं सकता। ज्ञाता जीव और परमेश्वर दोनों ही हैं। जीव स्वभावतः ज्ञान गुणवाला होते हुये भी अपने से अधिक ज्ञाता परमेश्वर की प्रेरणा की आवश्यकता रखता है। क्योंकि आदिम अवस्था में अन्य किसी नैमित्तिक ज्ञान को देनेवाले ज्ञाता का होना नहीं पाया जाता। ज्ञान के अनादि होने से ही उसका प्रकाश मनुष्य में आ सकता है। ज्ञान जब अनादि है तो ज्ञेय भी अनादि होना ही चाहिए। क्योंकि बिना ज्ञेय के वह ज्ञान ही किसका कहा जा सकता है।

अन्य कई परीक्षणों से भी यह सिद्ध है कि स्वतः ज्ञान का क्रमशः विकास बिना नैमित्तिक ज्ञान के नहीं हो सकता। एक बच्चे को यदि पैदा होते ही किसी स्थान में रख दिया जावे और पढ़ाया लिखाया न जावे तो वह कभी भी ज्ञान की वृद्धि नहीं कर सकेगा। असुर बानापाल लेयार्ड और रौलिन्सन दो अन्वेषकों ने नैनवा और बैबलन (असीरिया) के पुराने खंडहरों को खुदवाया और ईंटों पर लिखे हुए पुस्तकालय निकाले। उन पुस्तकों से बानापाल के परीक्षणों का समाचार ज्ञात हुआ। यूनान के राजा सेमिटिकल, फ्रेडरिक द्वितीय, चतुर्थ जेम्स तथा महान् अकबर आदि महाराजाओं के आधिपत्य में अनेक विद्वानों द्वारा १०-१०, १२-१२ छोटे नवजात बालकों को शीशों के मकानों में रखा गया और उनके पालन-पोषण के लिए धाइयाँ रखी गयीं। धाइयों को समझा दिया गया कि वे उनकी रक्षा आदि तो करें परन्तु उन्हें किसी प्रकार की कुछ शिक्षा न दें और न उनके सामने कुछ बोलें ही। इस प्रकार जब बच्चे बड़े हुए तो देखा गया कि सभी ज्ञान-विहीन, बहरे और गूँगे थे[१]। अकबर ने तीस बच्चों पर ऐसे परीक्षण कराये थे[२]। यदि ज्ञान-वृद्धि स्वत होनेवाली होती तो इन बच्चों में यह क्यों नहीं हुई। बहुत से वैज्ञनिक भी अब इस ज्ञान-विकासवाद का विरोध करने लगे हैं। सर आलिवर लाज[३] ने इस क्रमशः ज्ञानवृद्धि के सिद्धान्त का विरोध करते हुए इसके अनुयायियों से प्रश्न किया है कि बिना शिक्षा प्राप्त किये फोटोग्राफी आदि ललित कलाओं का किस प्रकार स्वयं विकास हुआ। मिस्टर बालफोर ने भी लाज के इस प्रश्नका समर्थन किया है। डाक्टर बालेस ने मेसोपोटामिया की पुरानी कलाओं और लेखों पर विचार करते हुए उनको आजकल की अच्छी-से-अच्छी कलाओं में माना है और यह परिणाम निकाला है कि क्रमशः ज्ञान-विकास में कोई प्रमाण नहीं[४]।

१- ट्रांजैक्शन्स आफ दि विक्टोरिया इन्स्टिटयूट वाल्यूम १५ पृष्ठ ३३६।
२- दबिस्तान मज़ाहिब फारसी।
३- लाइफ ऐण्ड मैटर-सर आलिवर लाज कृत।
४- देयर इज देयरफोर नो प्रूफ आफ कन्टिन्युअसली इन्क्रीजिंग इन्टेलेक्चुअल पावर'।
—सोशल इन्विरान्मेण्ट ऐण्ड मारल प्राग्रेस।

विकासवादी अपने पक्ष का समर्थन इस तरह भी करते हैं कि पहले, के लोगों में ज्ञान की कमी थी, अब लोगों में ज्ञान का विकास चरम सीमा पर पहुँच चुका है अतः मानना पड़ेगा कि ज्ञान का क्रमिक विकास होता है। इसका समाधान यह है कि पहले के लोग मूर्ख और जंगली नहीं थे, बल्कि वे आजकल के ज्ञानी और सभ्यों से अधिक ज्ञानी और सभ्य थे। इस विषय पर विचार करते हुए गैल्टन[१] महोदय ने लिखा है "कि यूनानियों की मध्य योग्यता नीची-से-नीची कूती जावे तो भी हमारी सभ्यता से दो दरजे ऊपर की अर्थात् लगभग उतनी ऊँची थी जितनी हमारी जाति अफ्रीका के हब्शियों से ऊँची है।" यह तो हुई यूनान की बात। भारत के विषय में तो कहना ही क्या है। समस्त भूमण्डल में पूर्वकाल में शिक्षा यहाँ से ही पहुँची। युनानियों के यहाँ योग्यता कहाँ से आयी, इसका उत्तर देते हुअे आनफील्ड[२] ने लिखा है कि पैथागोरस अनक्ुसागोरस और पिरहो आदि यूनानी विद्वान् भारतवर्ष में शिक्षा प्राप्त कर यूनान के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बने। इसी प्रकार भारत में पूर्वकाल में भी सभ्यता और विद्यायें उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थीं, इसका दिग्दर्शन डाकटर वेलिस[३] के उन विचारों से होता है जो कि उन्होंने वेद को दृष्टि में रखते हुए प्रकट किये हैं। उनके कथनानुसार वेद की ऋचाओं से जो विचार प्रकट होते है उनके (४ यदि मनुष्य ने लिखे हों तो) लेखक हमारे उत्तम-से-उत्तम धार्मिक शिक्षकों तथा हमारे मिल्टन और टेनीसन आदि सर्वश्रेष्ठ कवियों से किसी प्रकार हीन नहीं थे। इससे परिणाम यह निकला कि युक्ति और प्रमाणों से क्रमशः ज्ञान-विकास का नियम सिद्ध नहीं होता। निमित्तिक ज्ञान द्वारा ही मनुष्य में ज्ञान का विकास होता है। इसी लिए इस सूक्त में आदिम अवस्था में ज्ञान की प्राप्ति परमेश्वर से दिखलायी गयी है।

१- It follows from this that the average ablity of the Athenian Race is on the lowest possible estimate, very nearly two grades higher than our own, that is, about as much as our own race is above that of the African Negro. Hereditary Geneus–by Galton.

२- History of Philosophy, Vol. 1st P. 65.

३- We must admitt that the mind, which conceived and expressed in appropriate language rich ideas as are everywhere apparent in this Vedic hymns, could not have been in any way inferior to those of the best of our Miltons and our Tenysons. Social environment & Moral Progress by Dr. Wales.

४- कोष्ट के अन्दर का अंश अपना है।

३

ज्ञान और भाषा--ईश्वरीय प्रेरणा

भाषा का विकास

ज्ञान के स्वतः और क्रमिक विकास के साथ साथ भाषा के विकास पर भी विचार करना है। विकासवादी भाषा को भी विकास का ही फल मानते हैं जब कि वैदिकधर्मी भाषा को भी ज्ञान के साथ ईश्वर की देन स्वीकार करते हैं। यहाँ पर थोड़ा-सा विचार इस प्रस्तुत दृष्टिकोण पर किया जाता है। भाषा-विज्ञान-विशारदों ने भाषाको क्रमिक विकास का परिणाम मान कर अनेक कल्पनायें इस विषयमें की हैं। इनका विचार है कि भाषा ईश्वर प्रदत्त नहीं, प्रत्युत प्राणियों के व्यवहार से यह स्वयं उत्पन्न हो गयी। भाषा-सम्बन्धी इस प्रकार के विकास का समर्थक अथवा आविष्कारक 'लाक' था। प्रसिद्ध भाषाविज्ञ 'एडम स्मिथ'ने भी इसका समर्थन किया है। इस वादको "परम्परावाद" कहते हैं। इसके विशेष सिद्धान्त ये हैं कि आरम्भ काल में मनुष्य गूँगे थे। विचारपरिवर्तन शरीरावयवों के संकेत से किया करते थे। कभी मुख की बनावट से और कभी अँगुलियों के इशारे से। बाद में उन्होंने कुछ चिह्न निश्चित कर इनके अर्थ परस्पर के परामर्श से कल्पित कर लिए और इस प्रकार भाषा बन गयी। यह पहला वाद है। दूसरा वाद जो कि "शब्दानुकृतिवाद" के नाम से प्रसिद्ध है यह है कि सबसे प्रथम मनुष्यने जब बोलना प्रारम्भ किया तो अपने समीपवर्त्ती जीवित प्राणियों की ध्वनि की अनुकृति की और उस अनुकृति से बोलना सीखा। पीछे ये उन्हीं जन्तुओं के नाम हो गए और अनुकरण की गयी ध्वनियों से अपने लिए शब्द बनाए। इसी में बोलते-बोलते भाषा बन गयी। तीसरा वाद मनोगतभाववाद कहा जाता है। इसके अनुसार मनोगत भावों को प्रकट करने के आवेश में मुँह से अचानक आह, आह, वाह, वाह, आदि शब्दों का निकल जाना है। चौथे वाद को बाउ-वाउवाद कहा जाता है। यह तीसरे के ही सदृश है। ये ही छोटे-मोटे वाद हैं जो भाषा-विज्ञान-विशारद मानते हैं और इनके आधारपर भाषाको क्रमशः विकसित मानते हैं।

इन वादों पर यदि विचार किया जावे तो पता चलेगा कि ये कोरी कल्पनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इनसे भाषा-विकास का प्रश्न हल नहीं हो सकता। पहले वाद पर यह आक्षेप है कि जब शब्द और अर्थ अनिश्चित थे तो परस्परका परामर्श कैसे हुआ और किस भाषा में हुआ। जब प्रारम्भिक प्राणी गूँगे थे और भाषा भी कोई नहीं थी तो उनका आपस का परामर्श होना ही असम्भव है। मैक्समुलर ने भी यही आपत्ति इस वाद पर उठायी और कहा कि यह मेरी समझ में नहीं आता कि आरम्भ में बिना भाषा के उन गूंगों का परस्पर संवाद कैसे जारी रह सका।

दूसरे वाद की कल्पना सार्थक नहीं। पशुपक्षियों की ध्वनि निरर्थक तो कही जा सकती है परन्तु सार्थक नहीं । आज तक संसार में कोई ऐसी भाषा भी प्रचलित नहीं जो पशु-पक्षियों की बोलियों से बना हो । मैक्समुलर ने कहा है कि मनुष्य की भाषा निरर्थक ध्वनि अथवा पशुओं की बोली से नही बनी । तीसरा और चौथा वाद भी ठीक नहीं क्योंकि गूँगे मनुष्य के मुँहसे हाय-हाय आदि शब्द भी नहीं निकल सकते और न गूँगे को ऐसा करते किसी ने सुना ही है । कुछ भी हो, 'हाय-हाय' में भी तो 'ह' और 'य' वर्ण हैं ही । जब वह गूंगा ही है तो भाषा के इन वर्णों को कैसे बोल सकेगा ।

कुछ भारतीय विद्वान् दूसरे वाद का आश्रय लेकर निरुक्त के ३/१८ पर लिखे 'काक इति शब्दा नुकृतिस्तदिदं शकुनिषु बहुलम्' इस वाक्य को अपने पक्ष का पोषक मानते हैं । किन्तु, यह ठीक नहीं । यास्क का वाक्य यह बतलाता है कि काक नाम शब्दानुकृति से रखा गया । परन्तु काक शब्द की सिद्धि का यह ही प्रकार है ऐसा उसे अभिप्रेत नहीं क्योंकि उस स्थल पर कपिञ्जल आदि और भी शब्दों का निर्वचन यास्कने दर्शाया है जो कि इस सिद्धान्त पर नही उतरता । साथ ही "शकुनिषु बहुलम्" कहने का तात्पर्य ही यह है कि पक्षियों में बहुधा ऐसा पाया जाता हैं कि उनके नाम ध्वनि की अनुकृतियों से रख लिये जाते हैं जैसे अंग्रेजी का कुक्कू=कोयल और संस्कृत का काक, परन्तु यह सार्वत्रिक नियम है ऐसा यास्क को अभिप्रेत नहीं मालूम पड़ता । शब्दानुकृति से भी मनुष्य बहुत से नामों को रख सकता है और रखता भी है परन्तु उससे ही सारी भाषा बन गयी अैसा नहीं माना जा सकता । यास्क के साथ औपमन्यव आचार्य का भी मत वर्णित है जिसमें कि इस शब्दानुकृतिपक्षका निषेध किया गया है और औपमन्यव के अनुसार काक का निर्वचन 'काको अपकालयितव्यो भवति' अर्थात् कौएको अस्पृश्यता के कारण "काक" कहा गया है, यास्क से भिन्न प्रकार का है ।

इस प्रकार जब यह स्पष्ट है कि भाषा-विज्ञान के विविध सिद्धान्त भाषा के क्रमशः विकास को नहीं सिद्ध कर सकते तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आदिम अवस्था में भाषा मनुष्यों को कहाँ से मिली । सूक्त में इसका समाधान दिया गया है कि ज्ञान के साथ भाषा भी मनुष्योंको परमेश्वरने ही दी । ज्ञान और भाषा का अटूट सम्बन्ध है । ज्ञान विना भाषा के व्यक्त नहीं किया जा सकता । प्राचीन भारतीय आचार्योंने यह स्वीकार किया है कि भाषा और ज्ञान अपृथक् रहनेवाले है । मैक्समुलर १ ने भी प्लेटो और पाइथागोरसका हवाला देते हुए भाषा और ज्ञान की अपृथकता सिद्ध की है । २ शीलिंग ने भी यह स्वीकार किया है कि ज्ञान विना भाषाके और भाषा विना ज्ञान के

१ 'आइ, देयरफोर, डिक्लेयर माइ कान्विक्शन एज़ एक्सप्लिसिबली एज़ पासिबल दैट थाट इन दि सेन्स आफ रीजनिंग इज़ नाट पासिबिल विदाउट लैंग्वेज ।"

(साइन्स आफ़ लैंग्वेज, मुलरकृत)

२ "विदाउट लैंग्वेग सेज़ शीलिंग इट इज़

असम्भव है। हीगल ने लिखा है कि हम शब्दों द्वारा ही विचार करते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् कोलरिक ने भाषाको मनुष्य का आत्मिक साधन माना है। मिस्टर आर० सी० ट्रीनिच ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज़ आफ वर्ड्स' में बड़े बलपूर्वक कहा है कि ईश्वरने मनुष्य को वाणी उसी प्रकार दी है जिस प्रकार बुद्धि दी है, क्योंकि मनुष्य का विचार ही शब्द है जो बाहर प्रकाशित होता है। ग्रीस के प्रख्यात दार्शनिक इपीक्यूरस ने भी भाषा के प्रकटीकरण को ईश्वर की प्रेरणा से माना है।

इन विविध विचारकोंके विचारसे यह सिद्ध होने पर कि भाषा और ज्ञान की अपृथकता है तथा ये दोनों परमेश्वर से प्रेरणा द्वारा मनुष्यको प्राप्त होते हैं, अब देखना यह है कि आदि भाषा कौन है जो परमेश्वर से प्राप्त हुई। जहाँ तक अन्य भाषाओं का सम्बन्ध है भाषा-विज्ञान विशारद भी उन्हें नवीन मानते हैं, अतः उत्तर यही होगा कि वैदिक भषा ही वह प्राचीनतम भाषा है जो परमेश्वर से प्राप्त होती है। अधिकांश विद्वानों की सम्मति यही है कि वैदिक भाषा सब भाषाओं की जननी है। वही सबसे प्राचीन हैं। १एडलिंग ने संस्कृतको पूर्वी और पश्चिमी १०० भाषाओं की जननी बतलाया और लैटिन, यूनानी तथा जर्मन भाषा-परिवारों की तो उसे निकटवर्ती जन्मदात्री कहा है। एक विद्वान्ने तो यह भी घोषणा की है कि संस्कृत२ एक समय समस्त संसार की भाषा थी। जब संस्कृत इतनी पुरानी और समस्त भाषाओंकी जन्मदात्री मानी जाती है तो वैदिक भाषा का तो कहना ही क्या जो कि इसकी भी जन्मदात्री है।

कुछ एक भाषा-विज्ञान-विद् वैदिक भाषा से पूर्व एक अज्ञात भाषा के होने की भी तुकबन्दी करते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार "विंशति" शब्द प्रयोगाधिक्य से "बीस" बन गया इसी प्रकार यह 'विंशति' भी प्रयोगाधिक्यसे "द्विदशति" का बना हुआ रूप है अर्थात् वैदिक काल से पूर्व किसी कल्पित भाषा में "बीस" के लिए "द्विदशति" शब्द (दश का दूना) प्रयुक्त होता था। परन्तु इन लोगों को यह नहीं ज्ञात है कि "द्विदशति" शब्द वैदिक भाषा का ही शब्द है, उसे किसी अन्य भाषा का शब्द बतलाना सर्वथा दुःसाहसमात्र है। वैदिक भाषा से पूर्व न तो किसी भाषा के होने का चिह्न मिलता और न सम्भावना ही हो सकती है।

इम्पासिबल टु कन्सीव फिलोसाफिकल ने, ईवन एनी ह्यूमन कान्शसनेस।"

(साइन्स आफ लैंग्वेज, मुलरकृत)

१ दि संस्कृत लिट्रेचर, एडलिंगकृत, पृष्ठ ३८-४०।

२ "ऐट वन टाइम संस्कृत वज़ दि वन लैंग्वेज स्पोकेन आल ओवर दि वर्ल्ड"

(इडिनबरा रिव्यु, वाल्युम २ तथा ३ पृष्ठ ४३)

इससे पहले यह बतलाया जा चुका है कि वैदिक भाषा ही आदि भाषा है। अब यह देखना है कि इसमें विशेषतायें क्या हैं। जहाँ तक विचारा जा सकता है यह कहना अनुपयुक्त नहीं है कि वैदिक भाषा वैज्ञानिक भाषा है। इसमें किसी प्रकार की कमी नहीं। सभी विभक्तियों के रूप और सारी ध्वनियाँ जो वर्णात्मक हैं इसमें पायी जाती हैं। जिस समय इसका प्रकाश मनुष्य पर हुआ यह पूर्णार्थद्योतक थी। मनुष्य अपने अभिप्राय को वाक्य द्वारा प्रकट करता है। वाक्य में यदि पूर्णता नहीं तो भाव प्रकट नहीं हो सकेगा। वैदिक भाषा वाक्यमय और पूर्णार्थक रूप में मनुष्यों पर प्रकट हुई। वाक्य कई पदों या अक्षरों का भी हो सकता है और एक अक्षर का भी, बड़ा और छोटा भी, परन्तु होता है पूर्णार्थक। यदि ऐसा न हो तो भाव भली प्रकार व्यक्त न हो सकेगा।

अधिक कथन की आवश्यकता नहीं। वैदिक भाषा वर्ण, पद विभक्ति, वाक्य और अर्थ से सुसज्जित प्रकट हुई। भाषा का इतिहास हमें बतलाता है कि शब्दों के संज्ञा, सर्वनामादि विभागों के नाम रखने में यूनान के विद्वानों को कितना समय लगाना पड़ा। प्लेटो को केवल नाम और आख्यात का ज्ञान था, अरस्तू का समुच्चयबोधक और आर्टिकिल की भी जानकारी थी। जैनोडोटस सर्वनाम आदिका भी ज्ञान रखता था और अरिस्टार्कस ने उपसर्ग को भी जाना था। परन्तु वैदिक भाषा के व्याकरण प्रातिशाख्यों में ये सब इकट्ठे मिलते हैं। [1]मैक्समुलर ने इन सब बातों को स्वीकार करते हुए लिखा है कि पाणिनि को इन प्रतिशाख्यों का ज्ञान था और इनसे उसने खूब लाभ उठाया। मैक्समुलर की उक्ति और प्रतिशाख्यों की अन्तःसाक्षी यह बतलाती हैं कि वैदिक भाषा सर्वांश में पूर्ण है।

इतने लम्बे विचारके बाद यह निष्कर्ष निकला कि पाश्चात्यों की ज्ञान और भाषा सम्बन्धी स्वतः तथा क्रमशः विकास की धारणा निरर्थक है। भाषा और ज्ञान की अपृथक्ता है और ये दोनों परमेश्वर द्वारा मनुष्य को प्राप्त होते हैं। ज्ञान-सूक्त में इसी का वर्णन बड़े भाव भरे शब्दों में किया है। इसके साथ ही प्रत्येक कल्प में एक से प्रकट होने या एक-सी आवृत्ति होने के कारण इस ज्ञानमयी और भाषामयी ईश्वर द्वारा प्राप्त वेदवाणी को अनादि और नित्य भी कहा गया है। (ऋग्वेद ८।७५।६) वेदान्त दर्शन १।३।२९ तथा महाभारत १२।२३३।२४में भी इसे नित्य और अनादि कहा गया है।

आगे अधिक विस्तार में न जाते हुये संक्षेप में पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों (ऋग्-१०।७१।१,३) की संगति लगाना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। चूंकि यह ज्ञानमयी वाणी

१ "दैट पाणिनि न्यू दी प्रातिशाख्याज़ हैड बीन इन्डिकेटेड लॉंग एगो बाइ प्रोफेसर बोटलिंग; ऐण्ड इट कैन बी प्रूव्ड नाट बाइ ए कम्पैरिजन आफ पाणिनी-सूत्राज़ विद दोज़ आफ प्रातिशाख्याज़ दैट पाणिनि लार्जली अवेल्ड हिमसेल्फ आफ दी वर्क्स आफ हिज़ प्रिडीसेसर्स। (दी संस्कृत लिट्रेचर, मैकसमूलरकृत)

सृष्टि के आदि में मिलती है अतः इस बात को बताने के लिए मन्त्र में "प्रथमं" पद का व्यवहार किया गया है। यह सारी भाषाओं की पूर्ववर्त्तिनी और आदि भाषा है, सारी भाषायें इससे ही निकली हैं, अतः कहा गया—'वाचोऽग्रम्।' आदिम अवस्था में सारे पदार्थों के नाम इससे ही रखे जाते हैं। बिना नाम के मनुष्य ज्ञानको व्यक्त नहीं कर सकता इस भावको बताने के लिए 'नामधेयं दधानाः' पदों का सन्निवेश है। यह देशविशेष की भाषा नहीं अपितु एक अलग ही भाषा है अतः इसे 'श्रेष्ठं' कहा गया है। लौकिक व्याकरणों की सीमा में बँधी न होने और किसी प्रकार की न्यूनता न होने से यह निर्दोष है अतः कहा गया 'अरिप्रम्'। ईश्वर की प्रेरणा से प्राप्त हुआ करती है इसलिए इसके द्योतक 'प्रेणा' पदका प्रयोग किया गया। चूँकि नया प्रकटीकरण नहीं होता केवल आवृत्ति होती है, वह भी ऋषियों की बुद्धियों, अन्तःकरणों में सुरक्षित रह कर; अतः बतलाया गया 'निहितं' गुहाविः।' क्योंकि यह पूर्व जन्म के पुण्य कर्मों और निर्धूतपाप्मता से मिलती है अतः दूसरे मन्त्र में "यज्ञेन" पद कहा गया। ऋषियोंके द्वारा हर सृष्टि में यह प्राप्त होती है अतः "ऋषिषु प्रविष्टाम्" कहा गया। इससे ही बाद में संस्कृत आदि भाषाओं का विस्तार होता है। इसलिए 'तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा" इस वाक्य का सन्निवेश किया गया। जहाँ पर ये सारे नियम भाषा और ज्ञान के प्रकाश के मूल-भूत सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हैं वहाँ पर ये ईश्वरीय (इलहामी) ज्ञान और भाषा की कसौटियों के रूप मे भी हैं। इलहामी ज्ञान या भाषा वही हो सकती है जिसमें ये सारी बातें पायी जावें। वैदिक ज्ञान और उसकी भाषा में ये सारे नियम घटते हैं अतः वह ईश्वरीय है। उसका प्रकाश सृष्टि के आदि में होता हैं। वही समस्त ज्ञानों और विविध भाषाओं का मूल है। इस ही बात को यह सूक्त दर्शाता है।
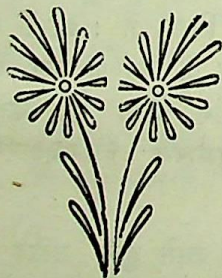
४

वेद-ज्ञान का स्वरूप

वेद ईश्वरीय ज्ञान का नाम है। प्रत्येक कल्प के आदि में परम पिता परमात्मा मनुष्यों के कल्याणार्थ इस का प्रकाश करता है। जिस प्रकार इस दृश्यमान विचित्र सृष्टि को वह प्रभु हमें देता है उसी प्रकार इसका ज्ञान भी हमें प्रदान करता है कि हम इस को यथावत् जान कर इस का सदुपयोग करें। यदि विना वेदज्ञान के प्रकाश के परमेश्वर ने हमें इस संसार मे उत्पन्न कर के छोड़ दिया होता तो हम इस दुनियां की वस्तुओं में दिन रात पड़े रहते हुए भी इन से यथावत् उपयोग न ले सकते, हमारी अवस्था वही होती जो कि उस व्यक्ति की है, जो गले भर पानी में बैठा है, फिर भी वस्तुस्थिति को न जान कर प्यास से मरता है। महर्षि पतंजलि के योगदर्शन द्वितीय पाद के 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' इस सूत्र से सिद्ध है कि संसार भोग और अपवर्ग, अर्थात् मुक्ति के लिये है। संसारमें ही भोग सिद्ध होते है और इसी से अपवर्ग सिद्धि भी ज्ञान द्वारा हुआ करती है। अपने संसारी भोगों को उत्तम बनाने और अपवर्ग को सिद्ध करने इन दोनों में ही ज्ञान की आवश्यकता है। विना ज्ञान के इन की सिद्धि नहीं हो सकती जब परमेश्वर ने मनुष्य को संसार जैसी भोग और अपवर्गकी साधनभूत वस्तु दी तो ज्ञान न दे यह किस प्रकार संभव हो सकता है। यहाँ पर यह जानना भी आवश्यक है कि जो भोग और अपवर्गका साधन है वह संसार वास्तव में है क्या? दार्शनिक दृष्टि से अनेक वाद इस प्रश्न पर हैं। कुछ लोगों का विचार है कि संसार न पैदा होता है और न नाश को प्राप्त होता है, वह अनादि काल से ऐसा ही है। परन्तु जब इन से यह प्रश्न होता है कि-अनादि संसार की वस्तुओं का संयोग वियोग या बनना बिगड़ना लोक में देखने में क्यों आता है। एक सोने का टुकड़ा है, आग में धवंकाने पर वह पिघलता है, उस का भस्म बनने पर जर्राजर्रा अलग हो जाता है, ये घटनायें क्यों हुआ करती है? इस का समुचित उत्तर ये लोग नहीं दे पाते और न इस प्रक्रिया से दिया ही जा सकता है। क्योंकि जब एक अवयव (भाग) का संयोग वियोग प्रत्यक्ष देखा जा रहा है तो फिर अवयवी अनादि और उत्पत्ति, विनाश से रहित है, यह ठीक नहीं। दूसरे लोग यह कहते हैं कि संसार उत्पन्न तो हुआ परन्तु शून्य से हुआ। यदि इन के इस विचार के अनुसार संसार को विचारा जाए तो समस्त पदार्थों को शून्य ही मानना पड़ेगा। परन्तु संसार दिखलाई पड़ता है इस शून्य के विपरीत। जगत् की सारी वस्तुएं अपनी सत्ता रखती हैं। उन में शून्यता का भान नहीं होता। यहां दूसरे वाद पर थोड़ा विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। संसार में एक नियम व्यापक रूप से कार्य कर रहा है। वह है कार्यकारण-भाव का नियम। इस नियम के

अनुसार सत् (सत्ताधारी वस्तु से) सत् कार्य उत्पन्न होता है असत् वस्तु से कोई भी कार्यद्रव्य पैदा नहीं हो सकता। जो गुण सत् कारणवस्तु में हैं वे किसी न किसी रूप में कार्य में अवश्य आते हैं। उदाहरण के रूप मे लोक में तिल से तेल निकलता है, रेत से नहीं, दूध से दही बनता है पानी से नहीं। इस ही बात को सांख्यदर्शन मे बहुत अच्छी प्रकार समझाया गया है जो कि सत्कार्यवाद का पूर्ण प्रतिपादक है। सांख्य की प्रक्रिया ने यहां तक बतलाया है कि यदि सत् से सत् की उत्पत्ति न मान कर असत् से सत् की उत्पत्ति मानी जाए तो यह बिल्कुल ही असम्भव है। "नासतः ख्यानं नृश्रृङ्गवत्" अर्थात् जिस प्रकार असत् होने से मनुष्य के सींग की उत्पत्ति नहीं होती है उसी प्रकार असत् से सत् की उत्पत्ति भी असम्भव हो है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् ६।२।२ में भो "कथमसतः सज्जायेतेति वाक्य से स्पष्ट किया गया है कि जो असत् अर्थात् है ही नहीं उस से सत् अर्थात् जो है, वह किसी प्रकार भी उत्पन्न नहीं हो सकता। इन युक्तियों और प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि सत् से सत् की उत्पत्ति होती है असत् से सत् कभी भी उत्पन्न नहीं होता। जब इस सत्कार्यवाद के नियम की कसौटी पर शून्यवाद को कसा जाता है तो वह निःसार सिद्ध होता हैं क्योंकि जो स्वयं शून्य असत् रूप है उससे संसाररूप सद्वस्तु किसी भी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकती, यदि दुराग्रहवशात् थोड़ी देर के लिये माना भी जाय तो शून्यवाद की प्रक्रिया इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकती कि यदि शून्य से जगत् पैदा हो सकता है तो रेत से तेल और पानी से दही क्यों नहीं। इस प्रकार जब शून्य से जगत् की उत्पत्ति होना सिद्ध नहीं तो जगत् जो कि प्रत्यक्ष होता हैं उसे शून्य कहना सगंत् नहीं। तीसरे विचार के दार्शनिक यह कहते हैं कि यह संसार मिथ्या हैं, वास्तविक नहीं। वे कहते हैं कि ब्रह्म में अविद्या से जगत् का भ्रम है, वास्तविक रूप से जगत् कुछ भी नहीं। इस तीसरे वाद पर विचार करते हुए कुछ पंक्तियां पाठकों की सेवा में उपस्थित की जाती हैं।

जो लोग जगत् को मिथ्या मानते हैं वे यह भी स्वीकार करते हैं कि सबका मूल तत्त्व केवल एक ब्रह्म ही है, उसके समान या उस से अतिरिक्त और कोई वस्तु अपना परमार्थतः अस्तित्व नहीं रखती। यदि संसार को इन के अनुसार मिथ्या माना जाये तो भोग और अपवर्ग दोनों से हाथ धोना पड़ेगा। भोग तो इस लिये नहीं सिद्ध होगा कि संसार के मिथ्या होने से उस से किसी वास्तविक वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। जिस प्रकार स्वप्न में काटे हुए सिंह के घाव का जागृत अवस्था में शरीर पर दर्शन नहीं होता, मृगतृष्णा के जल से स्नान की सिद्धि नहीं होती उसी प्रकार मिथ्या जगत् के पदार्थों से वास्तविक भोग की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। रहा अपवर्ग। वह भी किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकेगा क्योंकि सत् वस्तु का ज्ञान सत्य होता है

उस से निवृत्ति हो सकती है। परन्तु जब संसार ही मिथ्या है, तो उस से होने वाला ज्ञान भी मिथ्या ही होगा और उस मिथ्याज्ञान से सत्यरूप और वास्तविक मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकेगा। इस लिए भोग और अपवर्ग दोनों ही इस प्रक्रिया में सिद्ध नहीं हो सकेंगे। परन्तु जगत् में दोनों की सिद्धि के प्रमाण पाये जाते हैं। अब जगत् भ्रम है इसे भी विचारना चाहिये कि कहाँ तक वास्तविक है। यहां पर यह बात समझ लेनी चाहिए कि भ्रम कहते किसे हैं।? वैदिक दर्शनों में दो तरह के शब्द प्रयुक्त होते हैं। एक संशय और दूसरा भ्रम। दोनों का अन्तर यह है कि जहां पर एक वस्तु में कई प्रकार का ज्ञान हो उसको संशय कहते हैं—जैसे "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" अर्थात् ठूँठे को देखकर यह ठूंठा है या पुरुष है—इस प्रकार का ज्ञान होना। भ्रम उसको कहते हैं, जहां एक कोटि का ज्ञान होता है वह भी निश्चित। जैसे किसी ने रस्सी को दीवार से लटकी हुई देखकर समझा कि यह सांप है। संशय में यह अथवा यह है, इस प्रकार का भान हुआ करता है। भ्रम में वस्तु को न जानकर ऐसा ही है" यह उल्टा भान हुआ करता है। जब यह पूछा जाता है कि जगत् भ्रम है इसका ज्ञान कैसे हुआ तो उत्तर यही मिलता है कि इन्द्रियों से। जैसे कि रस्सी को आंख ने सांप देखा। इस से यह सिद्ध हुआ कि भ्रम की प्रतीति के कारण इन्द्रियगण हैं। अब ऐसे भ्रमवादियों से यह पूछना चाहिए कि रस्सी में जो सांप का भ्रम आंख को प्रतीत हो रहा है उस की आधारभूत रस्सी रस्सी ही है या कोई अन्य वस्तु। यदि रस्सी हो और उसमें सिर्फ प्रतीति उल्टी हो रही है तो फिर यह कहना कि इन्द्रियों को उल्टा ज्ञान ही होता है ठीक नहीं। क्योंकि यहां पर रस्सी का निश्चयात्मक ज्ञान भी इन्द्रिय को ही हो रहा है। यदि कहें कि रस्सी मे 'रस्सी ही है' इस की निश्चयात्मकता मे भी भ्रम है, तो ऐसा होने से आप का भ्रम संशय और भ्रम से ग्रस्त ठहरे गा। फिर यही कहना पड़ेगा कि ऐसे वादियों को भ्रम में भी संशय और भ्रम है। ऐसा होने पर जगत् सत्य सिद्ध हो जायेगा। एक बात और भी विचारणीय है कि रस्सी में जिस सर्प का भ्रम है, वह सर्प भी भ्रम ही रूप है या कोई सत्य पदार्थ। यदि सत्य पदार्थ है तो फिर जगत् मिथ्या कैसे? यदि असत् पदार्थ है तो उसकी प्रतीति कैसे क्योंकि? असत् पदार्थ कभी प्रतीति का विषय नहीं होता। यदि असत् को प्रतीति का विषय माना जाय तो वन्ध्यापुत्र, आकाशपुष्प मनुष्य के सींग और कछुए के पीठ के रोम की भी प्रतीति होनी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं, अतः सत् ही प्रतीति का विषय है। इन पूर्वोक्त बातों से यह स्पष्ट हो गया कि भ्रम भी वस्तु का ही हुआ करता है मिथ्या या अवस्तु का नहीं।

दूसरी बात यह विचारणीय है इस भ्रम प्रक्रिया में कि भ्रम हो किसे को रहा है। यादि जीव को तो परमार्थ अवस्था में ब्रह्मातिरिक्त जीव का कोई अस्तित्व अद्वैतवादी स्वीकार नहीं करते। यदि ब्रह्म को भ्रम हो रहा तो फिर इस भ्रम की निवृत्ति किस प्रकार होगी। फिर तो ब्रह्म सदा भ्रम वाला ही बना रहेगा और उसको मुक्तिरूप अथवा स्वरूप लाभ कभी प्राप्त ही नहीं हो सकेगा। ब्रह्म तो अनन्त ज्ञान का भण्डार है फिर उसको यह भ्रम कहां से हुआ। यह इन अद्वैतवादियों की विचित्र भ्रम-प्रक्रिया है जो कि ब्रह्म को भी भ्रमयुक्त कर दिया। ब्रह्म के सत्य होने से उसका

ज्ञान सत्य है। जिस जगत् का ब्रह्म को भान हो रहा है वह भी फिर सत्य ही हुआ मिथ्या कैसे?। जब रस्सी में प्रतीत होने वाला सर्प मिथ्या नहीं तो फिर ब्रह्ममें भान होने वाला जगत् भी मिथ्या नहीं।

तीसरी बात यहां पर यह उपस्थित होती है कि ब्रह्म को ऐसा भ्रम होने का कारण क्या है? भ्रमवादी कहते हैं कि अविद्या से यह प्रतीति होती है। यहां पर सोचने की बात यह है कि क्या सर्वज्ञ ब्रह्म में अविद्या भी हो सकती हैं? वैदिक दार्शनिक तो यही कहेगा कि नहीं। अब प्रश्न यह है कि जिस अविद्यावश ब्रह्म जीवरूप होता है और उसे भ्रम हुआ करता है वह भावरूप है या अभावरूप। यदि भावरूप वस्तु है तो द्रव्य है या गुण। यदि भावरूप वस्तु और द्रव्य है तो उसका गुण क्या है? तथा वह ब्रह्म से अतिरिक्त है या ब्रह्मरूप हीं। यदि ब्रह्म से भिन्न है तो दो वस्तु होने से द्वैतापत्ति होगी अर्थात् एक वस्तु ब्रह्म और दूसरी अविद्या, फिर अद्वैत नहीं हो सकेगा। यदि ब्रह्मरूप है तो अविद्या फिर हुई ही क्या? फिर तो वह भ्रम का कारण भी नहीं बन सकती। यदि कहो गुण है तो. फिर प्रश्न होगाकि किसका गुण?। यदि जीव का माने तो परमार्थमें जीव की सत्ता नहीं, यदि ब्रह्म का माने तो सर्वज्ञ ब्रह्म में अविद्या रह नहीं सकती। अविद्या को अभाव या अवस्तु मानने पर उस का कोई भी अद्वैत प्रक्रिया में उपयोग नहीं। अभाव होने से वह जगत् का कोई भी कारण नहीं हो सकती। फिर अवस्तु का ब्रह्म से योग ही कैसे?। अद्वैतवादी यह कहते हैं कि अविद्या न सत् न असत् है अपितु सदसद्भिन्न अनिर्वचनीय है। इस पर आपत्ति यह है कि संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो भाव या अभाव दोनों या उससे विलक्षण न भाव न अभाव हो। यदि थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाये कि अविद्या सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय है तो यह प्रश्न उठेगा कि उस अनिर्वचनीय की सिद्धि में कोई प्रमाण है तो यह प्रमेय हुई फिर अनिर्बचनीय कैसे, यदि कहो कोई प्रमाण उसकी सिद्धि में नहीं तो फिर उसका अस्तित्व ही नहीं सिद्ध हो सकता। वास्तव में लक्षण-प्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः नतु प्रतिज्ञामात्रेण। लक्षण प्रमाण से वस्तु की सिद्धि होती है केवल प्रतिज्ञामात्र से नहीं। इतने विचार के पश्चात् इस परिणाम पर सहज में पहुँच गए कि भ्रमवाद और उसकी मूलभूत अविद्या किसी प्रकार भी अद्वैत प्रकिया में सिद्ध नही हो सकते। भ्रम का यथार्थ ज्ञान से बाध हुआ करता है। यदि जगत् भ्रम होता तो इसका भी बाध होना चाहिए परन्तु इसका बाध नहीं देखा जाता है। इस लिए जगत् भ्रम तो है नहीं। मिथ्या भी नहीं क्योंकि यह उपादानकारणजन्य हैं किसी दुष्ट=असत् कारण से इसकी उत्पत्ति नहीं हुई। अतः बाध न पाये जाने तथा दुष्ट कारण से न पैदा होने के कारण जगत् सत्य है मिथ्या नहीं। इतनी दूरके विस्तृत विचार से यह पता लगा कि संसार अनुत्पन्न अनादि अनन्त, शून्य तथा मिथ्या नहीं है। फिर है क्या? इस का उत्तर थोड़े से शब्दों में यही हो सकता है कि सत् प्रकृति के विकृति अवस्था में आये हुए कार्यपदार्थों की एक व्यवस्था है; और वह जीवों के भोग तथा अपवर्ग के लिए है। संसार के सत्य और कार्यरूप पदार्थों की व्यवस्था कहने से

ही यह ध्वनित हो जाता है कि वह ज्ञानपूर्वक है और नियम पर अवलम्बित होगा। कोई तरतीब बिना नियम के हो नहीं सकती और नियम बिना ज्ञान के नहीं हो सकता। संसार में स्पष्ट ही ज्ञान और नियम का समन्वय पाया जा रहा है। आकाशमण्डल में सारे ग्रह नियममें चलते हैं। इनका नियम और क्रम सभी ज्ञानपूर्वक निश्चित किया हुआ है। ऐसा नहीं कि एक ग्रह दूसरे की कक्षा में आपड़े या दूसरा अपने मार्ग को छोड़कर अन्यत्र चला जावे। उदाहरण के अनुसार पृथिवी और सूर्य को ही देखो। पृथिवी में आकर्षणशक्ति है। सूर्य में भी उस से कई गुना आकर्षण मौजूद है। मध्य में चन्द्र जैसा छोटा ग्रह भी मौजूद है परन्तु न तो पृथिवी की शक्ति कि वह इसे अपनी तरफ खींच ले और न सूर्य की शक्ति कि वह उसे अपने मे आकृष्ट कर ले। वायु आकाश में सारे नक्षत्र पुञ्जो को घुमाता है परन्तु कोई भी ग्रह वा नक्षत्र उसके झकोर या स्वाभाविक हरकत से इधर उधर नहीं होता। सारे ग्रहों की गति और स्थिति ज्ञानपूर्वक नियम पर अवलम्बित है। बहुत सी ईंटें मिल कर अपने आप मकान का निर्माण नहीं कर सकतीं जब तक कि कोई अच्छा भवननिर्माता उनको ज्ञानपूर्वक व्यवस्था न दे। इसी प्रकार संसार में भी जो व्यवस्था है वह अपने आप केवल अन्धी प्रकृति के कार्यों से नहीं हो सकती जब तक कि उसको कोई तरतीब देने वाला उत्तम ज्ञाता न हो। जिस प्रकार मकान का आकार इन्जीनियर के मस्तिष्क में पूर्व ही रहता है इसी प्रकार संसाररूपी भवन का भी आकार किसी ज्ञानमयी शक्ति के विचार में अवश्य ही होगा। बिना इस के जगत् की प्रक्रिया सुलझ नहीं सकती है। यह एक बात विचारणीय हो जाती है कि मकान बनता और गिरता दोनो है। तो क्या संसार की व्यवस्था में भी ये दोनों तरह के कार्य पाये जाते हैं। विचारने से पता चलता है कि जगत् की व्यवस्था में भी ये दोनों बातें पायी जाती हैं। जैसे मकान ईंटों आदि से बना और पुनः ईंटों आदि के अलग २ हो जाने पर मकान के रूप में न रह कर ईंटो आदि की अवस्था में आ गया। यहाँ पर ईंट आदि पदार्थों की दो अवस्थाएं हुई। एक तो इन की अपनी अवस्था और दूसरी भवन की अवस्था। वास्तव में भवननिर्माण सामग्री की ये दोनो अवस्थामात्र हैं। वह कभी ईंटों आदि के रूप में रहती है, कभी मकान के रूप में। यहां भवननिर्माणसामग्री में अवस्था परिवर्तन देखा जाता हैं, परन्तु इस अवस्था-परिवर्तन के होते हुए भी मकान की आकृति का ज्ञान और उसके निर्माण का नियम अपरिवर्तित पाया जा रहा है। यही अवस्था संसार में भी घटित होती है। संसार में समस्त कार्यपदार्थों की तरतीब एक अवस्था है। प्रकृति की दो अवस्थायें होती है। एक प्रलय की जिस में प्रकृति अपने रूप में रहती है और दूसरी विकृति की जिस में वह संसार के रूप में परिवर्त्तित होती है। प्रकृति की ये दोनों अवस्थायें हैं। इनका समयानुसार होना हुआ करता है। प्रकृति इन दोनों अवस्थाओं में परिवर्त्तित होती रहती है परन्तु इस परिवर्त्तन के होते हुए भी इस के ऊपर काम करनेवाला नियम और ज्ञान परिवर्त्तित नहीं होता। वह सदा बना रहता हैं। प्रकृति संसाररूप मे परिवर्त्तित हो कर अपने प्रलय अवस्था वाले स्वरूप में जा सकती है परन्तु संसार की आकृति का ज्ञान और

उसके आधारभूत नियम कभी भी परिवर्त्तित नहीं होते। यहां पर कोई प्रश्न कर सकता है कि ये नियम आदि परिवर्त्तित क्यों नहीं होते। उत्तर यह होगा कि ये उस परिवर्तन होनेवाली प्रकृति के धर्म नहीं अपितु उससे भिन्न शक्ति के धर्म हं। यहां पर यह बात सिद्ध हुई कि सत् पदार्थ प्रकृति की अवस्था परिवर्तित होती रहती है परन्तु जिस ज्ञान और नियमों पर उसके परिवर्तन अवलंबित हैं वे परिवर्तित नहीं होते। इस विचार का दृढ़ीकरण ऋग्वेद के इन मंत्रखण्डों से हो जाता है-'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" ऋग्वेद १०।१६०।१

अर्थात् परमेश्वर के सर्वत्र प्रकाशित तप=सामर्थ्य से ऋत और सत्य प्रकाशित हुए। प्रकृति को यहाँ पर "सत्य" और जिस ज्ञान या नियम पर वह चलती है उसको "ऋत" कहा गया है। यहाँ पर प्रश्न होगा कि जब प्रकृति परिवर्तनशील परिणामी नित्य पदार्थ है तो फिर उसे यहां पर सत्य क्यों कहा? उत्तर यह है कि प्रकृति परिवर्त्तित होते हुए भी स्वरूप का परित्याग नहीं करती, वह अपने विकारों में सदा एक सी वर्त्तमान रहती है। एक उदाहरण ही इस के लिए पर्याप्त होगा, वह यह कि सोने को बने आभूषणों की शकल में परिवर्तित कर दिया जाय परन्तु सोना हर अवस्था में सोना ही रहेगा। यही हालत प्रकृति की है। यह प्रकृति "ऋत" विधान में चलती है। इस भाव को ऋग्वेद का एक मन्त्रखण्ड बहुत उत्तम ढंग से व्यक्त करता है "स्वधा अधस्तात् प्रयतिः परस्तात्" ऋ० १०।१२६।५ अर्थात् प्रकृति नीचे और परमेश्वर का नियम उसके ऊपर विराजमान रहता है। भाव यह है कि परमेश्वर के ज्ञानपूर्ण नियम में प्रकृति हर अवस्था में बंधी रहती है। इन ऊपर के विचारों का निष्कर्ष यह हुआ की प्रकृति सत्य है और जिस नियम या ज्ञान के अन्दर वह बंधी है। वह ऋत कहलाते हैं प्रकृति अवस्थाभेद को प्राप्त होने वाली परिवर्तनशील और ऋत अपरिवर्तनशील अनादि हैं। प्रकृति की एक अवस्था-विशेष ही इस संसार की तरतीब है, उसी को हम जगत् कहते हैं। जिस नियम पर यह जगत् प्रकृति कार्यों की यह तरतीब अवलम्बित है उस ऋत का नाम ही वेद है। यही परमेश्वर का ज्ञान है। परमात्मा इस ज्ञानमय नियम के आधार पर ही समस्त संसार को तरतीब देता है, और सारे पदार्थों की संगति लगाता है, यह नियम ज्ञान वेद यदि भूगोल है तो सारा कार्य अकार्य संसार उसका नक्शा है। संसार को समझने पर भी वेद का ज्ञान होता है और वेद को जानने पर भी संसार का ज्ञान होता है। परमेश्वर ने अपने इस अनादि नित्य सत्य ज्ञान के नियम से संसार की रचना की और रच कर पालन तथा प्रलय आदि कार्यों को वह करता है। परमेश्वर के दो तरह के विधान पाये जाते हैं एक तो वे जो कि नियम के रूपमें हैं जिन पर संसार का सारा कार्य चल रहा है और दूसरे वे जो आदेश के रूप में पाये जाते हैं कि ऐसा कार्य करो ऐसा मत करो। ये दोनों विधान वेद में हैं। यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि वेदका ज्ञान शब्दों में दिया हुआ है फिर ये सृष्टि के नियम कैसे हो सकते हैं। इस पर तो इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि वेदों के शब्द संसार के पदार्थों के वाचक हैं। ज्ञान और

नियम पर ये पदार्थ चलते हैं। परमेश्वर वेदज्ञान के नियम पर संसार की रचना करता है। उस के शब्दों के आधार पर संसार के पदार्थों का निर्माण करता है। संसारमें यह देखा जाता है कि किसी पदार्थ के निर्माण के पूर्व उस के नाम और आकृति की कल्पना कर ली जाती है। जब सुनार के घर पर कोई सोना लेकर जाता है तब यह नहीं कहता कि इस सोने की कोई चीज़ बना देना अपितु वह कहता है कि अमुक नाम का आभूषण बना देना। सोनार के मस्तिष्क में उस नाम वाले आभूषण की आकृति उपस्थित है। उसके अनुसार वह आभूषण का निर्माण कर देता है। यदि सोनार को नाम न बता कर कह दें कि विना नाम आकार का आभूषण बना देना तो वह इस कार्य को स्वीकार नहीं करेगा। जिस तरह जगत् में नाम निर्धारित कर उस के अनुसार पदार्थ का निर्माण होता है उसी प्रकार परमेश्वर भी वेद के शब्दों से जगत् के पदार्थों का नाम रखता हुआ उन को बनाता है। जितने भी पदार्थों की वह रचना करता है वह नामपूर्वक ही करता है। नाम वेद के शब्दों पर अवलम्बित हैं। परमेश्वर को १०।८२।३ ऋग्वेद में "नामधा" कहा गया है अर्थात् वह सब पदार्थों का नाम रखने वाला है। इस प्रक्रिया को ही निम्न ब्राह्मणवाक्य और मनुस्मृति के श्लोक स्पष्ट करते हैं :—

"भूरिति वै प्रजापतिरिमामजनयत्। भुव इति अन्तरिक्षम्–शत० २।१।४।११

'स भूरिति व्याहरत्। स भूमिमसृजत्। तै० २।२।४।२

"स भुव इति व्याहरत्। सोऽन्तरिक्षमसृजत्॥ तै० २।२।४।२·३

"स सुवरिति व्याहरत्। स दिवमसृजत्॥ तै० २।२४।३–अर्थात् परमेश्वर ने भूः भुवः तथा स्वः (सुवः) का विचार कर भूमि, अन्तरिक्ष और द्यु लोक को रचा।

"सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु. १।२१

नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः॥ शांकरभाष्य १।३।२८

अर्थात् सब पदार्थों के नाम और कर्म आदि को परमेश्वर ने वेद के शब्दों से रचा।

इन प्रमाणों में यह दिखलाया गया कि वेद के शब्दों से ही प्रत्येक कल्प के आदि में परमेश्वर समस्त पदार्थों को बनाता है। वेद ज्ञान और नियम पर ही वह सारे संसार का नियंत्रण करता है॥

५

वेदज्ञान की नित्यता

प्रत्येक आस्तिक धर्म यह स्वीकार करता है कि सृष्टि के प्रारंभ में ज्ञान का प्रकाश मनुष्य पर परमेश्वर से हुआ करता हैं। आर्यों का मन्तव्य है कि वह ज्ञान वेद है और वह है पूर्ण अनादि तथा नित्य। उनके विचार में, नहीं नहीं वास्तव में, प्रत्येक कल्प में इसका इसी रूप में प्रकाश हुआ करता है। बात भी ध्यान रखने की है कि जिस प्रकार परमेश्वर अनादि, अनन्त और नित्य है इसी प्रकार उसका ज्ञान भी। प्रश्न उठाया जाता है कि वेद में गायत्र्यादि छन्दों की रचना जब स्पष्ट दिखाई पड़ती है तो उसे नित्य कहना कहां तक युक्तिसंगत हो सकता है? समाधान इस प्रकार किया जाता है कि इस से वेदज्ञान की नित्यता में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि यह हर कल्प में समान ही रहता है। रही गायत्र्यादि छन्दों की रचना, वह भी परमेश्वरकृत है। छन्दों में आये वर्णो की आनुपूर्वी अर्थात् वेद की वर्णानुपूर्वी नित्य है। उसके नित्य होने से छन्दोरचना के कारण वेद की अनित्यता नहीं हो सकेगी। वेद वास्तव में संहितारूप में प्रकट होते हैं और उसकी सारी वर्णानुपूर्वी नित्य है, ऐसा महाभाष्यकार और निरुक्तकार यास्क दोनों ही स्वीकार करतें हैं। संहिता में पदविभाग नहीं रहता। पदविभाग तो बाद में निरुक्त और व्याकरण आदि के नियमों के आधार पर होता हैं। परमेश्वर ने तो मन्त्रों का संहितारूप में अर्थ, ज्ञान तथा अन्य सभी सत्यविधानों के ज्ञान के साथ ऋषियों के हृदय में प्रकाश किया। कुछ विचारक यह कहेंगे कि वेद मंत्रमय हैं और मंत्र शब्दमय हैं, शब्द अनित्य होता है फिर वेद की नित्यता किस प्रकार संगत है। भगवान् दयानन्द ने इसका समाधान इस प्रकार किया है। महाराज का विचार ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका में अङ्कित है। वेदनित्यताप्रकरण में ऋषि कहतें हैं—कि अत्र केचिदाहुः। न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं संभवति। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्। घटवत्। यथा घटः कृतोऽस्ति तथा शब्दोऽपि। तस्माच्छब्दानित्यत्वे वेदानामप्यनित्यत्वम् स्वीकार्यम्। नैव मन्यताम्। शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति, ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्तन्ते ते तु कार्याश्च। अर्थात् कुछ लोग कहते हैं कि शब्द घट की भांति कार्य है। अतः शब्दमय होने से वेद नित्य नहीं हो सकते। उत्तर—ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि शब्द भी नित्य और कार्यभेद से दो प्रकार के होते हैं। परमात्मा के ज्ञान में जो शब्द, अर्थ तथा उनका सम्बन्ध है वह नित्य है और जो हम लोगों के हैं वह अनित्य हैं। महर्षि के इस विचार से शब्द की द्विप्रकारता सिद्ध है। महाभाष्यकार चूंकि दोनों प्रकार के अर्थात् लौकिक और वैदिक शब्दों का प्रतिपादन करता है, अतः वह शब्द को नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का मानता है। जैमिनि

वैदिक शब्दों का ही विशेषतः प्रतिपादन करते हैं अतः नित्य मानते हैं। नैयायिक बहुधा लौकिक आस्माकीन शब्दों पर ही विचार करते हैं, अतः शब्द की अनित्यता का प्रतिपादन करते हैं। महर्षि की विचारधारा से दोनों का समाधान हो जाता है और इन सभी में परस्पर भेद नहीं रह जाता।

यह भी बात ध्यान देने के योग्य है कि परमात्माके ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं, फिर उसकी विद्या वेद अनित्य कैसे हो सकते हैं? वह ही वेदवाणी का उद्गमस्थान है। उस की नित्यता सुतरां सिद्ध है। यजुर्वेद २३।६१ में यह प्रश्न उठाकर कि पृच्छामि वाचः परमं व्योम अर्थात् वेदवाणी के परम आकाश को पूछता हूं, अगले मन्त्र मे उत्तर दिया गया कि ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम-अर्थात् महान् परमेश्वर ही वेदवाणी का परम आकाश है। यहां पर आकाश शब्द के प्रयोग से विषय पर और भी अच्छी तरह से प्रकाश पड़ता है। आकाश सर्वत्र व्याप्त है। उसमें शब्द भरे पड़े हैं। जब तक आकाश है, तब तक शब्द उसमें अवश्य रहेंगे। ऐसा नहीं कि आकाश रहे और शब्द का अभाव हो जावे। इसी प्रकार वेदवाणी का परम आकाश परमेश्वर है उसकी सत्ताके साथ वेदज्ञान की सत्ता है। वह नित्य और अनन्त है, अतः वेद, उसका ज्ञानभी नित्य और अनन्त है। ऋग्वेद। ८।७५।६ में वेदवाणी की नित्यता का वर्णन मिलता है जो इस प्रकार है- तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया। वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम। अर्थात् हे विद्वन् तुम निश्चयरूप से अनादि नित्य वेदवाणी से सर्वत्र प्रकाशमान परमेश्वर की स्तुति करो। यह मन्त्र तैत्तिरीय संहिता २।६।१४।६ में भी पाया जाता है। सायण ने दोनों स्थलों पर "नित्या वाचा" का नित्य मंत्रमयी वेदवाणी ही अर्थ किया है। शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता पर प्रकाश डालते हुए महर्षि व्यास ने योग दर्शन १.२७ के भाष्य पर जो कुछ कहा है, उससे भी इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। व्यास देव कहते हैं:- वाच्यः ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवद् स्थितमिति? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह संबन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्यस्थितमेवार्थमभिनयति। यथाऽवस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतनावद्योत्यते अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः- इत्यागमिनः प्रतिजानते। अर्थात् ईश्वर प्रणवपद का वाच्य (अर्थ) है, तो इसका वह वाच्यवाचक सम्बन्ध संकेतकृत है, अथवा प्रदीपप्रकाश के समान स्थित है? उत्तर- इस वाच्य का वाचक के साथ सम्बन्ध स्थित है। संकेत ईश्वर के नियत किये अर्थ को ही प्रकट करता है। जैसे यह इसका पिता, यह इसका पुत्र—यह नियत सम्बन्ध संकेत द्वारा प्रकाशित किया जाता है। कल्पान्तरों मे भी वाच्यवाचकशक्ति की अपेक्षा से नियत संकेत ही परमेश्वर द्वारा किया जाता है। इस व्यवहार के नित्य होने से शब्दार्थसम्बन्ध नित्य है, ऐसा वैदिक जन जानते हैं। व्यासदेव का यह उद्धरण शब्दों की नित्यता को और भी दृढ़ कर देता है।

महाभारत शान्तिपर्व २३३ अध्याय के २४ वें श्लोक में वेदनित्यता का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—अनादिनिधना नित्या, वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा । आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ अर्थात् इस सृष्टि के प्रारंभ में परमेश्वर ने उस अनादि, अनिधना, नित्या तथा दिव्या वेदवाणी को रचा जिससे ही संसार के सारे व्यवहार प्रारंभ हुए । यहां पर वेदमयी वाक् के ही अनादिनिधना, नित्या आदि विशेषण दिये गये हैं जिससे उसकी नित्यता सुतरां सिद्ध है । वेदान्त-दर्शन के प्रमाणों से इस विषय की और भी पुष्टि होती हैं । वहां पर पूर्वपक्ष उठाकर पुनः सूत्रों में भली प्रकार समाधान किया गया है । इनमे पहला विचार यह है कि समस्त सृष्टि के पदार्थों को परमेश्वर ने वेद के शब्दों को विचार कर रचा, अतः वेद सदा एक से रहने से नित्य हैं, इस पक्ष में अनित्य सृष्टि के पदार्थों का नित्य वेद के शब्दों के साथ सम्बन्ध नहीं घट सकेगा ? इसका समाधान " अतः प्रभवात् " अर्थात् वेद के शब्दों से ही सृष्टि के पदार्थों की रचना की जाती है, इस सूत्र से किया गया है । दूसरा विचार यह है कि आवृत्ति के अनुसार अर्थात् प्रत्येक कल्प में पदार्थ एक से ही रचे जाते हैं और वेदानुसार ही उनके नाम होते हैं, अतः वेद की आवृत्ति हर कल्पों में समान ही होने से वेद की उत्पत्ति मानने पर भी नित्यता ज्यों की त्यों बनी रहती है । इन दोनों विचारों को ध्यान मे रखते हुए व्यास ने सिद्धान्त पक्ष को व्यक्त किया है । "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् " वेदान्त १।३।२८ अर्थात् वैदिक देव अग्नि, वायु आदि पदार्थ उत्पत्तिमान् हैं और वैदिक शब्दों का अर्थ के साथ नित्य सबन्ध होने और अर्थ के अनित्य होने से नित्यका अनित्य के साथ सम्बन्ध नहीं घट सकता, यदि ऐसा माना जावें तो ठीक नहीं क्योंकि सारे वैदिक पदार्थ वेद के शब्दों का ध्यान में रखकर रचे जाते हैं और यह बात प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भी सिद्ध है । 'अतः एव च नित्यत्वम्'-वेदान्त १।३।२९ अर्थात् पूर्वोक्त हेतु से वेद की नित्यता भी सिद्ध है । व्यास पुनः कहते हैं कि यदि आवृत्ति पक्ष को माना जाये, तब भी नामरूप के प्रत्येक कल्प में समान होने से वेद की नित्यता में कोई आपत्ति अथवा विरोध नहीं । यह बात दर्शन तथा स्मृतियों से सिद्ध हैं । व्यास का सूत्र यह है - " समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् । यह तो सूत्रकार का भाव हुआ इस पर प्रसिद्ध भाष्यकार शंकराचार्य के भाष्य को (यद्यपि हम शंकर के सारे विचारों से सहमत नहीं है, फिर भी) विचारार्थ देखना चाहिए । शंकराचार्य कहते हैं—"मा नाम विग्रहवत्त्वे देवादीनामभ्युपगम्यमाने कर्मणि कश्चिद्विरोध प्रासञ्जि । शब्दे तु विरोधः प्रसज्यते । कथम् । औत्पत्तिकं हि शब्दस्यार्थेन सम्बन्धमाश्रित्य " अनपेक्षत्वात् " इति वेदस्य प्रमाण्यं स्थापितम् । इदानीं सेति नित्यस्य शब्दस्य नित्येनार्थेन नित्यसम्बन्धे प्रतीयमाने यद्वैदिकें शब्दे प्रामाण्यं स्थितं तस्य विरोधः स्यादिति चेत् । नायमप्यस्ति विरोधः । कस्मात् । अतः प्रभवात् । अत एव हि वैदिकाच्छब्दाद्देवादिकं जगत् प्रभवति । अर्थात् देवादिकों को विग्रहवाला सावयव मानने पर उनके कर्म का विरोध भले ही न हो परन्तु शब्द में विरोध तो हो ही जाता है क्योंकि "शब्द का अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है, इसमें किसी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण की अपेक्षा नहीं—इस लिए वे स्वतः प्रमाण हैं, ऐसा महर्षि व्यास का मत जैमिनीय मीमांसा १।१।५ में

दिखलाया गया है। यहां पर साकार, अनित्य, उत्पत्ति-विनाशवाले पदार्थों के साथ वैदिक शब्दों का सम्बन्ध स्वीकार करने पर नित्य शब्द का नित्य अर्थ के साथ सम्बन्ध मान कर सिद्ध की गयी वैदिक शब्दों की स्वतःप्रमाणता में विरोध आता है। यदि ऐसा माना जावे तो ठीक नहीं क्योंकि वैदिक शब्दों से ही सब पदार्थ उत्पन्न किये गए हैं। आगे चलकर शंकराचार्य विशद विचार करते हुए लिखते हैं—अपि च यदि नाम वैदिकाच्छब्दादस्य प्रभवोऽभ्युपगतः............तथा देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वान्न कश्चिद्वस्वादि-शब्देषु विरोधः इति द्रष्टव्यम्—अर्थात् अगर वैदिक शब्द से इस संसार की उत्पत्ति हुई तो फिर इसमें शब्द से विरोध का परिहार कैसे हुआ ? क्योंकि जितने वसु-गण, रुद्र, आदित्य-विश्वेदेवजन, तथा मरुत् आदि पदार्थ हैं, वे तो उत्पत्ति वाले होने से अनित्य हैं। उनके अनित्य होने से उनके वाचक वसु रुद्र आदि वैदिक शब्द भी अनित्य ही होंगे। इसका निवारण किसी प्रकार संभव नहीं। लोक में प्रसिद्ध है कि देवदत्त के पुत्र उत्पन्न होने पर उसका नाम यज्ञदत्त रखा जाता है; अतः मानना पड़ेगा कि वैदिक शब्दों में होने वाले पूर्वकथित विरोध का परिहार नहीं हुआ। उत्तर—गो आदि का शब्दार्थसम्बन्ध नित्य देखा जाता है—इस लिए उक्त विरोध नहीं। गो आद् व्यक्तियों के उत्पत्तिवाला होने से उनकी आकृति=जाति को उत्पत्तिवाला नहीं कहा जा सकता। द्रव्य, गुण तथा कर्मकी व्यक्तियां ही उत्पन्न होती हैं, जातियां नहीं। वैदिक शब्दों का सम्बन्ध आकृति से ही है व्यक्तियों से नहीं। इस कारण से कि व्यक्तियों के अनन्त होनेसे उनके साथ शब्द का सम्बन्ध ग्रहण नहीं हो सकेगा। जिस प्रकार व्यक्तियों के उत्पत्तिवाला होने पर भी आकृति के नित्य होने से गौ आदि शब्दोंके वाच्यवाचकसम्बन्ध में कोई विरोध नहीं, उसी प्रकार देवादि व्यक्तियों के उत्पत्तिमत्त्व को स्वीकार करने पर भी उनकी आकृति=जाति के नित्य होने से पूर्वोक्त विरोध नहीं होता।

फिर—वाचकस्वरूप से नित्य अर्थके सम्बन्ध-युक्त शब्द के नित्य सिद्ध होने पर शब्दव्यवहार के योग्य व्यक्ति की निष्पत्ति कैसे होगी ? इसका उत्तर भगवान् सूत्रकार ने दिया है—अतः प्रभवः। अर्थात् ये वैदिक शब्द से उत्पन्न हैं। यह कैसे जाना गया कि ये सभी पदार्थ वैदिक शब्द से उत्पन्न हैं ? उत्तर—प्रत्यक्ष=श्रुति और अनुमान=स्मृति से। श्रुति का प्रमाण सामवेद उत्त० अ० ४।२०१।१ का मन्त्र है। एते असृग्रमिन्दवः तिरः पवित्रमाशवः। विश्वान्यभि सौभगा। अर्थात् इस मंत्र के असृग्रम् आदि पदों को ध्यान में रख कर वैदिक पदार्थों का निर्माण परमेश्वर ने किया। 'इन्दवः' पदके स्मरण से पितर योनि की=मनुष्यों की रचना की। 'तिरः पवित्रम्' से ग्रहों को रचा। "आशवः" के द्वारा स्तोत्रों; 'विश्वानि' से शस्त्रों, तथा "अभि सौभगा" के ध्यान से अन्य प्रजाओं की रचना की। इसके अनन्तर शंकराचार्य ने सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ इत्यादि स्मृति-वचनो को उद्धृत किया है जिनका अर्थ यही है कि वेद शब्दो से ही सब पदार्थो के नाम और कर्मो की रचना परमेश्वर ने की। शंकर पुनः कहते है कि इसी प्रकार परमेश्वर ने कल्प के आदि में वैदिक शब्दों को स्वयं अपने ज्ञान में रखते हुए

पश्चात् पदार्थों को बनाया । ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभव इत्यविरुद्धम् । इस लिए नित्य शब्दों द्वारा देवादि व्यक्तियों की उत्पत्ति हुई, इसमें कोई विरोध नहीं ।

दूसरे सूत्र पर शंकराचार्य पुनः विशेष विचार करते हुए इस विषय में जो कुछ कहते हैं वह बहुत ही उपादेय है । अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद्वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम्, तथा मन्त्रवर्णः—यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ऋग् .१०।७१।३ इति स्थितामेव वाचमनुविन्नां दर्शयति । वेदव्यासश्चैवमेव स्मरति—युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा । देवों आदि के हर कल्प में नियत आकृति वाला होने तथा वेदशब्दों द्वारा जगत् की उत्पत्ति होने सेवेद के शब्दों की नित्यता समझनी चाहिए । मन्त्र भी इस बात की पुष्टि करता है- यज्ञेन वाचःपदवीयमित्यादि । वेदव्यास भी ऐसा ही स्मरण करते हैं-युगान्ते—इति यहां पर वेद के प्रमाण में पूर्वस्थित=नित्य वाणी का ही अनुविन्न=पश्चात् प्राप्त होना दिखलाया गया है और उस की पुष्टि व्यासवचन से की गयी हैं ।

तदनन्तर वेदान्त १।३।३० पर आचार्य शंकर कहते हैं-प्रलीयमानमपि चेदं जगच्छक्त्यवशेषमेव प्रलीयते । शक्तिमूलमेव च प्रभवति । इतरथाकस्मिकत्वप्रसंगात् । न चानेकाकाराः शक्तयः शक्याः कल्पयितुम् । ततश्च विच्छिद्य विच्छिद्याप्युद्भवतां भूरादिलोकप्रवाहाणां देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणानां च प्राणिनिकायप्रवाहाणां वर्णाश्रमधर्मफलव्यवस्थानां चानादौ संसारे नियतत्वमिन्द्रियविषयसम्बन्धनियतत्ववत्प्रत्येतव्यम् । नहीन्द्रियविषयसम्बन्धादेर्व्यवहारस्य प्रतिसर्गमन्यथात्वं षष्ठेन्द्रियविषयकल्पं शक्यमुत्प्रेक्षितुम् । समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्गमहाप्रलयलक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्दप्रामाण्यादि विरोधः ......समान-नामरूपतां च श्रुति-स्मृती दर्शयतः—सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ऋ० १०।१९०।३ इति । यथा पूर्वस्मिन् कल्पे सूर्याचन्द्रमःप्रभृति जगत् क्लृप्तं तथा ऽस्मिन् कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयदित्यर्थः ।....स्मृतिरपि—ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः । शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः ॥ यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये । दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ यथाभिमानिनो ऽतीतास्तुल्यास्ते सांप्रतैरिह । देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च । अर्थात् प्रलय को प्राप्त हुआ भी यह जगत् शक्ति से अवशिष्ट रहता है और उसी शक्तिमूल से पुनः उत्पन्न होता है । यदि ऐसा न माना जावे तो आकस्मिकवाद का प्रसंग होगा और इस विषय में अनेक प्रकार की शक्तियों की कल्पना करना भी व्यर्थ ही है । इस लिये नष्ट हो हो कर उत्पन्न होने वाले पृथिव्यादि लोकप्रवाहों, देव, पितर, तिर्यङ्, मनुष्य आदि प्राणिसमूहोंके प्रवाहों तथा वर्णाश्रमधर्म और फलव्यवस्थाओं का नियतत्व अनादि संसार में इन्द्रियोंके विषय सम्बन्ध की नित्यता के समान जानना चाहिए । इन्द्रियों के विषयसम्बन्ध आदि व्यवहार की भिन्नता मन के विषय के समान प्रतिसर्ग में भिन्न भिन्न नहीं होती । अपितु जिस इन्द्रिय का जो विषय पूर्वकल्प में था वही उत्तर कल्प में भी रहेगा । (ऐसा नहीं हो सकता कि आंखरूप को न देखकर शब्द को सुने) ।

प्रत्येक कल्प में नाम तथा रूपों के समान पाये जाने से जगत् के महाप्रलय और महासर्ग और आवृत्ति के स्वीकार करने पर भी शब्दप्रमाणता का कोई विरोध नहीं। श्रुति और स्मृति भी इस समान नामरूपता का प्रतिपादन करती हैं । सूर्याचन्द्रमसौ धाता— इस मन्त्र में वर्णित प्रकारसे सिद्ध है कि परमेश्वर ने पूर्वकल्प में जिस प्रकार सूर्य तथा चन्द्र आदि पदार्थों को रचा था, इस वर्तमान कल्प में भी वैसा ही रचा है । इस विषय में स्मृति भी प्रमाण है—ऋषीणां नामधेयानि इत्यादि । जो पदार्थो के नाम वेद में दिखलायी पड़ते हैं उन्हीं नामों को परमेश्वर प्रलयावस्था के अन्त होने और सर्ग के प्रारंभ होने पर पुनः पदार्थों को प्रदान करता है । जिस प्रकार ऋतुओं में प्रत्येक ऋतु-सम्बन्धी नवीन पल्लव आदि चिन्ह समान ही दिखलायी पड़ते हैं उसी प्रकार प्रत्येक कल्प में प्रवाहरूपसे सारे पदार्थ पूर्व के समान दृष्टिगोचर होते हैं। जिस प्रकार पूर्वकल्प में पदार्थों के नाम रूप आदि थे, वैसे ही इस कल्प में भी हैं ।

इसप्रकार पूर्वोक्त प्रमाणों से वेदकी नित्यता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । यहां पर संक्षेप में विचार किया है । विस्तार से इस विषय पर विचार मैंने सामवेद की भूमिका में किया है जो समय पर प्रकाशित होगी ।

६

ऋषि दयानन्द और वेद

महाभारत के बहुत समय बाद वेद का प्रचार धरा से लुप्त हो गया था। आचार्यवरऋषि दयानन्द ने जगत् में पदार्पण कर अपने तपोबल और अगाध पाण्डित्य से वैदिक परम्पराओं और मर्यादाओं को पुनरुज्जीवित किया। महात्मा गान्धी के नाम के साथ जिस प्रकार अहिंसा का अटूट सम्बन्ध है, महर्षि दयानन्द के साथ उसी प्रकार वेद का अक्षुण्ण सम्बन्ध है। यदि दूसरे शब्दों में महर्षि दयानन्द का अर्थ पूछा जावे तो यह वेद के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक होगा। १६ वीं शती में इस महान् आन्दोलक ने जो कुछ कर के दिखलाया वह सब कुछ वेद के लिये था और सन्देह नहीं कि भविष्य इस महत्ता को स्वयं स्वीकार करेगा। सायण और महीधर आदि के भाष्यों से वेद की महिमा लुप्त हो चुकी थी। ऋषि ने आकर उसे उदात्त रूप दिया। सायण के पूर्ववर्ती भाष्यकारों ने प्रायः अच्छी धारणा वेद के विषय में प्रकट की परन्तु वे भी पूर्णतः वेद के मर्म तक नहीं पहुंचे। मीमांसाकार आचार्य जैमिनि और यास्क के समयमें वेद के विषय में दो प्रकार के संघर्ष दिखलायी पड़ते हैं। पहले संघर्ष के मूल में यह था कि वेदमन्त्र केवल यज्ञ के लिये हैं और उन का कोई अर्थ नहीं। "अनर्थका हि मन्त्राः इति कौत्सः" यह निरुक्त का वचन और आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यं हि तदर्थानाम्, आदि जैमिनीय मीमांसा के सूत्र इस धारणा के पोषक हैं। इस दृष्टि को रखने वाले आचार्य सदा यह भावना ही रखते थे कि वेद में यज्ञ की क्रियामात्र का ही प्रयोजन है क्योंकि उन के मन्त्र दुरूह हैं और उन का कोई अर्थ भी नहीं दिखलायी पड़ता है। प्रधानतया निरुक्त और मीमांसा को देखने से इन के तर्क यह ज्ञात होते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों ही से प्रार्थना पाई जाती हैं, बहुत से अनित्य व्यक्तियों के नाम पाये जाते हैं, ऐसे शब्दों से वेद भरे पड़े हैं, जिनका अर्थ अविज्ञेय है; और यदि अर्थ किया जावे तो बहुत से स्थलों में 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा" की भांति संशय का पदे पदे दर्शन होगा। इन सभी प्रश्नों पर विचार कर यास्क और जैमिनि ने जो उत्तर दिए हैं वे बहुत ही मननीय हैं और ऋषि दयानन्द की वेदविषयक धारणा के पोषक हैं। ऋषि की संस्कारविधि में "ओषधे एनं त्रायस्व मा एन हिंसीः" विष्णोर्दंष्ट्रोऽसि, इत्यादि वाक्यों को देख कर साधारण व्यक्ति सन्देह में पड़ जाता है और ऊपर बतलाये विकल्पों में प्रथम को स्वीकार करने लगता है। परन्तु आचार्य दयानन्द और पूर्वाचार्यों महर्षियों की वेदविषयक धारणा को हृदयंगम किये हुए व्यक्ति के लिये इन मन्त्रो में यह सन्देह नहीं भासता कि इन में औषधि और क्षुर से प्रार्थना की गई है। इस धारणा के अनुसार मध्यम पुरुष वाले ये वाक्य अन्य पुरुष में परिवर्त्तित होकर यह अर्थ देने लगते हैं कि औषधि इस की रक्षा करती है हानि नहीं। यह क्षुरा इस मुण्डन-कार्य

रूपी यज्ञ का साधन है।" आचार्य भगवान् दयानन्द ने लिखा है कि वे किसी नये मत की स्थापना करने नहीं आये थे, केवल ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त प्रचलित वैदिक धर्म को पुनः संस्थापन करने के हेतु ही उन का सारा प्रयत्न था। ऐसी बात उन्होंने क्यों लिखी, यह भी एक बड़ा महत्त्व रखती है। वेदार्थ होता है और वेद यज्ञ का प्रतिपादन करते हुए भी अनर्थक नहीं हैं, यह धारणा जैमिनि तक ही दृढ़ रूप से चली आई और बद्धमूल रही। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि स्कन्द, वेंकट-माधव, भरत स्वामी, उद्गीथ, सायण, महीधर आदि आचार्यों ने भी तो वेदों को अर्थ वाला मान कर ही अर्थ किये हैं और उन के भाष्य वेदों पर हमें मिलते भी हैं, फिर जैमिनि पर्यन्त ही यह प्रक्रिया रही ऐसा क्यों कहा जा सकता है ? विचार करने पर उत्तर यह होगा कि इन सभी आचार्यों ने निरुक्त और मीमांसा की प्रतिज्ञाओं को मानते हुए भी उन का निर्वाह नहीं किया। इन के भाष्यों में यह न्यूनता बराबर दृष्टिगोचर होती है। स्कन्द और भरतस्वामी आदि ने सायण से बहुत उत्तम भाष्य किये हैं परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन के भाष्य पूर्णतया यास्क और जैमिनि की कसौटियों पर उतरते हैं। ये आचार्य वेदों में इतिहास न मानते हुए भी प्रतिज्ञा के विपरीत कई मंत्रों का भाष्य इतिहासपरक ही करते हैं। सायण अपनी भूमिका में जैमिनि की बातों को स्वीकार करते हुए भी भाष्य में इतिहासात्मक अर्थ मंत्रो के करता है। वह यह भी मानता है कि वेद मंत्रों में सृष्टि के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन और अध्यात्म की उदात्त भावना भरी है। फिर भी अपने भाष्य में इसे कहीं व्यक्त नहीं करता है। जैमिनि ने वेद मंत्रों का अर्थ होता है वे केवल यज्ञार्थ ही नहीं, इस प्रश्न की स्थापना जहां की है, वहां यास्क ने इस के पूर्व ही इस प्रश्न की नीव जमायी है। जैमिनि का प्रश्न यास्क का ही प्रश्न है, ऐसा कहने में सन्देह नहीं। ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों पर याज्ञिक लोग अधिक बल देते थे। इन ग्रन्थों को देखकर लोगों में यह धारणा बलवती हुई कि वेद केवल यज्ञार्थक हैं। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों के ऊपरी स्तर में जाने वालों का ही यह विचार हो सकता है। जो उन के अन्तस्तल की परीक्षा करता है उसे ज्ञान होता है कि वे केवल यज्ञ का ही प्रतिपादन नहीं करते, उन से अधिदैव और अध्यात्म पक्ष भी सिद्ध होता है। यास्क ने "तत्र च ब्राह्मणम्" से यह बात प्रकट की है। जैमिनि ने यह विचार किया कि ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थ को ठीक न समझ कर लोग भ्रमात्मक मार्ग पर जा सकते हैं और वेदार्थ लुप्त हो जावेगा तथा यह धारणा बलवती हो जावे गी कि वेद मन्त्रो के अर्थ नहीं होते—इस लिये उसने मीमांसा-शास्त्रका प्रणयन कर दार्शनिक रूप में सभी बातों को व्यवस्थित किया। ब्राह्मण वेदों के व्याख्यान है और उन के उल्टे अर्थ लेने पर वेदार्थ नष्ट हो जावेगा, इस लिये जैमिनि ने ब्राह्मणों के भावको स्पष्ट किया। मीमांसादर्शन में इन्द्रियों और अन्तःकरण की प्रत्येक प्रवृत्ति का विचार न करके केवल यज्ञात्मक प्रवृत्तियों पर विचार करने का प्रधान कारण भी यही है। कर्मकाण्ड ही वेदों का प्रधान

विषय है और कुछ नहीं, वेदों का कोई अर्थ नहीं—इस से उत्पन्न धारणाओं के भयंकर परिणाम से बचाने के लिये जहां जैमिनि ने मीमांसा का प्रणयन किया वहां उनके पूज्य गुरु व्यास ने उपनिषदों के भाव को उल्टा लेकर केवल अधूरे अध्यात्मवाद से बचाने के लिये वेदान्त का प्रवचन किया। लोगों का यह विचार हो रहा था कि वेदों में कर्मकाण्ड ही है, अध्यात्म नहीं, साथ ही उपनिषदें ही अध्यात्म की एकमात्र प्रतिपादिका हैं-इसके निराकारणार्थ वेदान्त को रचा गया और उपनिषदों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वेद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। अन्त पद का अर्थ सिद्धान्त है और वेद के अन्त का तात्पर्य वेद का अन्तिम सिद्धान्त है जो है वेद का परम तात्पर्य—ब्रह्म का प्रतिपादन। उपनिषदें यद्यपि पुकार पुकार कर वेद की गवाही देती हैं फिर भी लोगों की धारणा थी कि अध्यात्म केवल उपनिषदों का विषय है। कई आधुनिक पाश्चात्यों के अनुगामी तो यहां तक कहते हैं कि उपनिषद् युग वैदिक युग से पूर्व है। वे यह नहीं देखते कि उपनिषदों में पदे पदे वेद ही विराजमान हो रहा है। व्यास ने अपने दर्शन में वेद की नित्यता वर्णन की और बतलाया कि ब्रह्म की सिद्धि के प्रधान तर्क जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और वेद की प्रेरणा हैं और वेद का अन्तिम उद्देश्य ब्रह्म का प्रतिपादन करना है। परमात्मा की सिद्धि के प्रधान तर्क भी जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के द्वारा तथा भाषा और ज्ञान के द्वारा दिये जाते हैं-अतः वेदान्त के प्रथम चार सूत्रों में इन्हीं का प्रतिपादन है। आचार्य दयानन्द ने इन धारणाओं का समन्वय करके वेद में अधियज्ञ, अधिदैव और अध्यात्म प्रक्रिया का रूप दिखला कर उसे ईश्वरीय ज्ञान समझा। अन्य आचार्यों से यह बात नहीं निभी, केवल यह धारणा जैमिनि पर्यन्त ही निभी थी। इसलिये उन्होंने वेद को वही समझा जो जैमिनिपर्यन्त समझा जाता रहा। सायण आदि ने ऐसा नहीं समझा था। इस को विस्तार से पुनः किसी समय दिखलाया जावेगा।

विनियोग-शास्त्र सूत्र ग्रन्थों का और अंशतः ब्राह्मणों का विषय है। इन की परिभाषा में कोई भी विनियुक्त वाक्य मंत्र कहा जा सकता है। इस भावना और परिभाषा को न समझ कर लोगों ने यह धारणा बनाली कि वेद, मंत्र और ब्राह्मण दोनों का नाम है। केवल वर्तमान में ऋषि दयानन्द हैं जिन्होंने यह बतलाया कि संहिता भाग वेद और शाखायें तथा ब्राह्मणग्रंथ आदि उन के व्याख्यान हैं। उन्होंने वेद को ही ईश्वरीय ज्ञान बतलाया और ब्राह्मण आदि को ऋषिमुनिकृत तद्व्याख्यान घोषित किया। ऋषि की इस धारणा का बहुत से लोग खण्डन करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में उपनिषदों से ले कर वेद पर्यन्त, नहीं नहीं, प्रत्येक संस्कृत वाक्य वेद है। कई लोग यह धारणा रखते हैं कि मीमांसा में मंत्र ब्राह्मण दोनों को वेद माना गया है। परन्तु यह है ग़लत। मीमांसा में वैदिक शब्दों को नित्य माना गया है। व्यास ने इस का समर्थन वेदान्त में करते हुए वेद की नित्यता स्वीकार की है। ब्राह्मण और वेद का अन्तर जैमिनि ने स्वयं माना है।

वेद-मंत्रों को यज्ञ में पढ़ते समय उन का एक श्रुति=तानस्वर मीमांसा कार मानता है। श्रौतसूत्रों में भी अैसा ही है । परन्तु ब्रह्मणवाक्यों को बोलने में उन का भाषिक स्वर माना गया है । यदि जैमिनि दोनो को एक मानता तो यज्ञ में यह स्वरभेद क्यों मानता ? यह आन्तरिक सच्चाई है, जिस को विपक्षी जन देखें । यहां पर क्या ऋषि की ही आत्मा नहीं बोलती दिखायी पड़ती ? ऋषि का विचार था कि वेद में सभी ज्ञान विज्ञानों और सत्य विद्याओं का वर्णन है । परंतु उनमें इन सब विज्ञानों का प्रतिपादन होते हुए भी—मुख्य प्रतिपादन परमेश्वर का ही है ।

चरम उद्देश्य वही है । यही कारण हैं कि ब्राह्मणों में सभी अर्थों का प्रतिपादन करते हुए अन्त मे आरण्यक और उपनिषदों वाले भाग में परमेश्वर=परमात्मतत्त्व का प्रतिपादन है । यदि वेद यज्ञार्थक ही होते तो आरण्यक और उपनिषदों का जन्म क्यों होता ? प्रधान आरण्यक भी तो ब्राह्मणों के ही भाग है । फिर यह विषमता क्यों ? यज्ञ समय में लोग मन्त्रों का विनियोग इन्द्र आदि देवताओं में ही मानते हैं और समझते हैं कि ये देवता कोई विग्रहवती देवता हैं, जिन का ही प्रतिपादन वेदों में है। परन्तु ऋषि दयानन्द कहते हैं कि वे देवतायें जगत् के मूल में कार्य करने वाले तत्व हैं और यज्ञ में सभी मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय परमात्मा है । ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका का यह वाक्य—"परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवतः इति निश्चयः" अर्थात्— "परन्तु यज्ञ में तो वेदों के मन्त्र और ईश्वर को ही देवता माना है, उनके इस भाव को स्पष्ट करता है ।

जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है कि ऋषि दयानंद वेंद को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे और उसी के अनुरूप उन्होंने वेद को लोगों के सामने रखा । सायण आदि ने तो ऋग्वेद के "वाचा विरूप नित्यया" इस वाक्य की रटन करते हुए भी वेद को ऋषियों और राजाओं के इतिहासों से भर दिया । इन भाष्यों के देखने से जहां वेद अनर्गल बातों के पिटारे साबित होते हैं वहां ऋषि की यह विचारधारा है कि वेद सब सत्य विद्याअेां का भण्डार है । जब वह परम आप्त परमेश्वर का दिया ज्ञान है तो फिर वह अनर्गल प्रलाप हो ही कैसे सकते हैं ? ऋषि ने गुरु की आज्ञा से सिद्धांतकौमुदी जैसे अनार्ष ग्रन्थ को फेंक कर अष्टाध्यायी को ग्रहण किया । यदि वेद में कुछ न होता और अनर्गल बातों का वह भण्डार होता तो निश्चय सत्य का खोजी दयानन्द इन्हें भी दरिया के अन्तराल में फेंक देता और दूसरे लोग तो वेद को कलियुग में लुप्त मानते ही थे, आज वेद का कोई नाम लेवा भी न होता । परन्तु ऐसा नहीं ऋषि ने वेद की महत्ता को जगत् में स्थापित किया जिसका तात्पर्य ही है कि वे वेद के प्रति कितनी श्रद्धा रखते थे । जब कि दूसरे आचार्यों का वेद अनर्थक तथा यज्ञार्थ है, ऋषि दयानन्द का वेद सार्थक और सब सत्य विद्याओं का भण्डार और आधियाज्ञिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक भावों का प्रतिपादक है । जहां लोगों को वेद ऋषियों की कृति भासता है वहां ऋषि की दृष्टि में वह ईश्वरीय ज्ञान है । जहां दूसरे लोग उसे मनुष्य की रचना

मानते हैं वहां आचार्य उसे नित्य मानते हैं। जहां नवीनजन मन्त्र, ब्राह्मण दोनें को एक मानते हैं वहां ऋषि दयानन्द दोनो को पृथक् मानते हैं। कई लोग वेदों में ईश्वर और पुनर्जन्म का अभाव मानते हैं परन्तु ऋषि कहते हैं कि वेद इन भावों से भरे हैं और उन्हें "इन्द्रं मित्रं वरुणम्" इत्यादि तथा अपश्यं गोपाम्....आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः— इत्यादि ऋग्वेदीय मन्त्रों को देखना चाहिये। इस प्रकार वेद का स्वरूप वह है जो ब्रह्मा से जैमिनि पर्यन्त महर्षि महात्माओं ने समझा और वर्तमान समय के महान् आचार्य महर्षि दयानन्द उसी धारणा के समुत्थापक हैं और उनका वही वेद है।

७

भूयो-विद्यः प्रशस्यो भवति

वेद एक अगाध समुद्र है। इसके अन्तस्तल में पैठने का प्रयत्न अनेक ऋषि, महर्षि, विद्वानों ने समय समय पर किया। सभी ने कुछ न कुछ परस्परापेक्ष अधिक या न्यून अपनी सामर्थ्य के अनुसार निकालकर हमारे समक्ष रखा। वेद-निधि में पैठकर उसके अर्थरत्नों को निकालना कोई सरल कार्य नहीं है। वेदार्थ वास्तव में एक महान् कार्य्य है। इसके लिए प्रगाढ विद्या और सार्वदिक्क ज्ञान की आवश्यकता है। अधूरी विद्या और एकाङ्गी ज्ञान से कोई इसमें कृतकार्य नहीं हो सकता। ऋषियों ने समाधि-बल और अगाध पाण्डित्य के बल पर वेदार्थ को समझा। वे मन्त्रद्रष्टा थे उन्हें वेदार्थ जो कुछ प्रतिभासित हुआ हमारे लिए दे गये। उनकी समाधिस्थ प्रज्ञा और प्रखर पाण्डित्य तो सब में सुलभ नहीं। साधारण विद्वान् और विशेषकर आजकल के व्यक्तियों के लिए तो वेदार्थ करना बड़ा ही कठिन कार्य्य है। ऐसी परिस्थिति में वेदार्थ तक कैसे पहुंचा जावे, यह एक अत्यन्त जटिल प्रश्न है? इस परिस्थिति को पूर्व से ही अनुमापित करके ऋषियों ने एक उपाय हमें दिया। वह है सर्वाङ्गीण पाण्डित्य और तर्क। ऋषियोंने यही हमें अपने प्रतिनिधि ऋषि दिये हैं। जिनके बल पर हम वेदार्थ तक जाने का प्रयत्न कर सकते हैं। यदि मनुष्य की विद्या सर्वविषयों में है और वह लोक में व्युत्पन्न है तो वेदनिधि से कुछ न कुछ रत्न अवश्य निकाल सकेगा। एक विषय के ज्ञान के आधार पर हम वेदार्थ को नहीं निकाल सकेंगे।

इस विषय में सहायक जितने वेदाङ्ग और ब्राह्मण आदि ग्रन्थ हैं, हम उन सब से सहायता लेकर वेदार्थ के पास जा सकते हैं, परन्तु हम यह समझ लें कि इनमें से अन्यतम पर्याप्त हैं, और उसके आगे अन्य कुछ नहीं, यह भावना हमारे पूर्वोक्त उद्देश्य में सहायक नहीं हो सकेंगी, बल्कि बाधक ही होगी। वेदार्थ के लिए विषयाङ्ग शास्त्रों के पाण्डित्य के साथ हमें शब्दार्थ सम्बन्ध, दैवत, आर्ष, छन्द, स्वर और प्रकरण, आदि का यथार्थ ज्ञान होना परमावश्यक है। इनको बतलाने में व्याकरण, निरुक्त, छन्दःशास्त्र, प्रातिशाख्य ग्रन्थ, अनुक्रमणियां और ब्राह्मणादि ग्रन्थ हमारे सहायक हैं। वेदार्थ की प्रचुर सामग्री इनमें रखी है, परन्तु किसी एक को ही हम पूर्ण और सर्वथा अन्यसहायानपेक्ष नहीं कह सकते हैं। केवल व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदार्थ में पूर्ण सहायक हैं, यह नहीं कहा जा सकता। निरुक्त या ब्राह्मणग्रन्थमात्र ही प्रमुख और पूर्ण वेदार्थ के बताने वाले हैं, व्याकरण की आवश्यकता नहीं, यह भी किसी भी तरह मन्तव्य नहीं। जिन्होंने केवल अपने व्याकरण के पाण्डित्य से वेदार्थ करने की चेष्टा की वे भी सफल मनोरथ नहीं हुये और न वे ही कृतकार्य हो सके, जिन्होंने केवल ब्राह्मण, श्रौतसूत्रों का ही सहारा लिया। इस कार्य्य में सफलता तो पूर्वोक्त सबका

सहारा और ज्ञान लेकर चलने वाले को ही हो सकती है। आजकल जिसने थोड़ा व्याकरण पढ़ लिया वह समझता है कि वेदार्थ उसके अतिरिक्त कोई कर ही नहीं सकता। किसी ने कहीं थोड़ी सी मीमांसा देखली या शतपथ ब्राह्मण का दर्शपौर्णमास प्रकरण पढ़ लिया तो वह समझता है कि दूसरे लोग कुछ नहीं जानते, सारे वेद उसको हस्तामलक हैं। वास्तव मे इनकी तो कथा ही क्या ? शाकल्य, पाणिनि और यास्क भी यथाशक्ति निर्देश ही करते हैं उनके ग्रन्थ इस विषय में सर्वथा पूर्ण हैं, उसके आगे और कुछ नहीं, यह मानना ठीक नहीं।

पाणिनि, शाकल्य और यास्क की प्रशंसा और उनका आचार्यत्व इस विषय में है कि जो कुछ उन्होंने कहा है ठीक ही कहा है, उससे अधिक या उससे आगे और कुछ नहीं इसमें नहीं।

वेंकट-माधव ने अपनी ऋग्भाष्यानुक्रमणी में क्या ही अच्छा वर्णन किया है कि-'शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इत्यृगर्थपरास्त्रयः। यथाशक्त्यनुधावन्ति न सर्वं कथयन्त्यमी।' पृ० ७४॥ अर्थात् शाकल्य, पाणिनि और यास्क ऋचाओं के अर्थ के ज्ञाता हैं परंतु ये भी यथाशक्ति अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, सब नहीं कहते।

विचार की दृष्टि से लीजिये—व्याकरण हमें शब्दों की व्युत्पत्ति, विभक्ति और लिङ्गज्ञान सिखाता है। इसके प्रधान आचार्य पाणिनि और कात्यायन हमारी श्रद्धा के पात्र हैं जिन्होंने अपने महान् तप और परिश्रम से अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्य बनाये और हमारा उपकार किया। शब्दों की व्युत्पत्ति का पूर्णज्ञान अष्टाध्यायी आदि से ही आ जाता है यह ठीक नहीं। उसके लिये निरुक्त और ब्राह्मण आदि के जानने की भी आवश्यकता है। कोई भी व्याकरण का ग्रन्थ व्युत्पत्ति के विषय में पूर्ण नहीं बन सकता, और उसका बनना भी है व्यर्थ। आचार्य पाणिनि का आचार्यत्व यही है कि उसका कथन सर्वथा ठीक है परन्तु है दिग्दर्शनमात्र। पाणिनि के व्याकरण में जिस शब्द की जो व्युत्पत्ति लिखी है उसके अतिरिक्त अन्य व्युत्पत्ति नहीं हो सकती, ऐसी बात नहीं। एक शब्द के अनेक निर्वचन और व्युत्पत्ति हो सकती हैं। परन्तु ध्यान यह रहना चाहिए कि वे नियमित हों कोरी कल्पनामात्र न हों। केवल अष्टाध्यायी पढ़ा लिखा व्यक्ति ब्राह्मणादि ग्रन्थों के आधार पर की गई व्युत्पत्तियों को देखकर उन्हें अशुद्ध समझने लगता है परन्तु यह उसकी अनभिज्ञता हैं, अन्य कोई बात नहीं। भिन्न भिन्न व्युत्पत्तियों के प्रकार के उदाहरण देखे जाते हैं।

"इन्द्र" पद को लीजिए। उणादिकार के अनुसार "ऋजेन्द्रागवजेत्यादिसूत्र" से 'इदि परमैश्वर्ये' धातु से रन् प्रत्यय करके इन्द्र शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ ऐश्वर्य-वाला अर्थात् शक्र आदि हैं। निरुक्त १०।८ में 'जराबोध' आदि ऋग्वेदीय मन्त्र पर यास्क ने इसे भिन्न प्रकार से बनाया है। यास्क के अनुसार यह शब्द इरा+द,इरा+धा;इरा+द+णिच् इरा+धृञ्+णिच्; इन्दु+द्रु, इन्दु+रम तथा इन्धी दीप्तौ आदि धातुओं से

बनता है, इतने से भी न संतुष्ट होता हुआ यास्क अन्य निरुक्ताचार्यों का भी मत दर्शाता है। उनके अनुसार इदम्+कृञ् और इदम्+दश् धातुओं से इन्द्र शब्द सिद्ध होता है। वे दोनों आचार्य आग्रयण और औपमन्यव हैं। अन्त में यास्क ने इद्+द्ग, इद्+द्रु तथा इद्+आ+द्ग धातुओं से णिच् करके प्रयोग की सिद्धि बतलाते हुए 'इन्दते-वैश्वर्यकर्मण:, वाक्य से औणादिक मत को भी दिखला दिया है। शतपथ ब्राह्मण १४।६।११।२ में 'इन्धी दीप्तौ' वाले प्रकार का समर्थन किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने आग्रायण आदि आचार्यों से मिलती-जुलती व्युत्पत्ति दिखलायी है।

यास्क के 'इन्धे भूतानि' के भाव को लेकर 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इसको ग्रहण कर मीमांसा ३।३ के सप्तमाधिकरण में बहुत युक्ति तर्क करने के बाद "इन्धी" दीप्तौ से व्युत्पन्न इन्द्र पद को ही स्वीकार किया है। तात्पर्य यह है कि इन्द्र देवता वाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान तब संभव है जब कि इन्द्र शब्द से गार्हपत्य अग्नि का अर्थ संगत हो सके। शबरमुनि ने इस कठिनाई से पार होने के लिए इन्द्र की व्युत्पत्ति यास्कवाली मानकर अग्नि अर्थ की कल्पना कर ली। दशपाद्युणादि के ८।४६ में वृत्तिकार ने 'इन्द्र' पद को 'इन्धी' धातु से भी निपातित किया है। इसी प्रकार "ओम्" पद को उणादिकार "अव्' धातु से बनाता है परन्तु गोपथब्राह्मण पू० १।२६ में "आपृ, और आप्लृ धातु से माना है। 'अव्" धातु से बनता है, इस पक्ष को भी मतान्तर से दर्शा दिया है। 'वृत्र' पद उणादि से "वृतु" वर्तने धातुसे रक् प्रत्यय करके निष्पादित किया यगा है परन्तु यास्क ने इसे "वृधु वर्धने" आदि से भी माना है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'वृङ्' आच्छादने और "वृधु" दोनों धातुओं से माना गया है। इन प्रमाणों के अलावा एक अन्य प्रमाण भी लीजिये। 'हस्त' शब्द अति प्रसिद्ध है। उणादिकार ने इसे 'हस्' धातु जिसका अर्थ हंसना है, से 'तन्' प्रत्यय करके बनाया है। उधर यास्काचार्य ने निरुक्त १।७ में इसे 'हन्' धातु से व्युत्पन्न बतलाया है,—हस्तो हन्तेः प्राशुर्हनने। उधर पाणिनीय अष्टाध्यायी के अनुसार 'अदिति' पद नञ् पूर्वक 'दो' अवखण्डने से 'द्यतिस्यति मा स्थामिति पा० ७।४।४० से आकार को इकार करके सिद्ध हो सकता है, परन्तु यास्क ने इसका निर्वचन 'अदितिरदीना देवमाता" निरुक्त ४।२२ में नञ् पूर्वक "दीङ् धातु से किया है। इन सभी व्युत्पत्तियों में कौन ठीक है, कौन बे ठीक है, यह कहना ग़लत है वास्तव में सभी ठीक हैं, व्युत्पत्तियों के अनेक प्रकारों में से किसी एक को एक आचार्य ने। कर दिया और दूसरी को दूसरे आचार्य ने। अनेकों व्युत्पत्तियां वैदिक साहित्य में ऐसी पड़ी हैं जिनका कि पाणिनीय व्याकरण में नाम भी समुपलब्ध नहीं।

विभक्तियों के विषय की बात पूरी पूरी न तो आचार्य पाणिनि ने ही बतायी और न महर्षि यास्क ने ही। विशेषत: वैदिक शब्दों के विषय का तो कहना ही क्या?। पाणिनि ने 'बहुल' की शरण ली और यास्क ने 'यथार्थं विभक्तीः संन्नमयेत' की। इसी प्रकार लिङ्ग ज्ञान भी व्याकरण के प्रत्ययों अथवा कोषों द्वारा तब तक पूरा पूरा नहीं हो

सकता, जब तक कि ब्राह्मण आदि ग्रन्थों का अध्ययन न किया जाए। जो लोग स्वामी जी महाराज के भाष्य में 'चन्द्र' पद को नपुंसक लिङ्गमें पढ़ते हैं हंस पड़ते हैं और कहते हैं कि महर्षि को व्याकरण का परिज्ञान नहीं था। यह क्यों ? इस लिए कि ऐसे महानुभावों ने निघण्टु के १।२ स्थल को नहीं देखा। वहां पर चन्द्र पद को नपुंसक लिङ्ग में ही पढ़ा गया है। रजत के अर्थ में इसका प्रयोग नपुंसक लिङ्ग में बहुधा वैदिक साहित्य में देखा जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७६।३ मे 'चन्द्र' 'हिरण्यम्' वाक्य में चन्द्रपद नपुंसक लिङ्ग में ही पठित है। इस भांति इस विषय में अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। यदि पाणिनीय व्याकरण इन विषयों के ज्ञान के लिए एकमात्र पर्याप्त था और उसीसे सारे पदों की व्युत्पत्ति' विभक्ति और लिङ्गज्ञान आदि हो सकते थे, तो पाणिनि ने स्वयं बहुत से वैदिक पदों के लिए इन विषयों मे 'बहुल'' 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' आदि का सहारा क्यों लिया, साथ ही इसके भाष्यकार को भी इस बहुल विषय पर कहना पड़ा कि—सुबादि विभक्तियें. तिङन्त, उपग्रह, लिङ्ग नर काल, हल, अच्, स्वर, कर्तृप्रत्ययादि और यङ् आदि वेद में विकल्प करकें हों। परन्तु वर्तमान समय में ऐसे भी व्यक्ति विद्यमान हैं जिनका सारा ग्रन्थ ही इस आधार पर चलता है। उनको इसके अतिरिक्त और कोई उपाय सूझता नहीं। वे व्यत्ययशास्त्र के ही महा पण्डित हैं। अस्तु ! इस व्यत्यय को भी स्थान है ही परन्तु इसका तात्पर्य्य यह नहीं कि जहां पर व्याकरण के नियम भी लागू हों वहां पर भी व्यत्यय कर लिया जाए।

यास्क ने वैदिक निघण्टु में संगृहीत पदों की व्याख्या निरुक्त में की है। यह ही अन्तिम एक निघण्टु है ऐसा नहीं। इसके पूर्व और भी वैदिक पदों के संग्रह थे। निरुक्त भी कई थे। स्वयं आचार्य्य यास्क ने १४ आचार्य्यों के नामों का अपने ग्रन्थ में स्मरण किया है। इस निघण्टु में जितने अर्थोंमें जो पद संगृहीत हैं, उनके अतिरिक्त और पद उन अर्थों में वेदों में नहीं हैं उसके आगे अब वैदिक साहित्य में विद्यमान पदों की निरुक्तियां नहीं हो सकतीं, यह नहीं। प्रचलित वैदिक निघण्टु में "चिति" पद कर्म नाम में नहीं पठित हैं फिर भी यास्क ने स्वयं निरुक्त २।६ में इसका अर्थ किया है। "तूर्णश" पद उदक नाम में नहीं पठित है परन्तु यास्क ने स्वयं इसका अर्थ उदक किया है। दुर्ग ने इस स्थल पर अपनी टीका में लिखा है कि यद्यपि यह उदक नाम में न पठित होने से अप्रतीतार्थ है परन्तु इसका अर्थ उदक समझना चाहिए। 'विठ' पद अन्तरिक्ष नामों में न होते हुए भी अन्तरिक्षार्थक है, ऐसा स्कन्द ने माना है। पुनः उसने निरुक्त २।१ पर अपनी टीका में लिखा है कि 'पञ्चदश तानि पठ्यंते अपठितान्यपि द्रष्टव्यानि'। वर्तमान निघण्टु में 'श्रवः' 'प्रयः' दोनों में से एक का ही पाठ अन्न नाम में माना जाता है। "श्रवः" को तो आचार्य्यों ने पाठभेद में दिया है परंतु प्रयः को पाठ भेद में किन्ही ने देकर संदेह प्रकट किया है। लेकिन यास्कने स्वयं प्रयः के विषय में लिखा है कि यह अन्न नाम है। इससे यह सिद्ध है कि वैदिक निघण्टु के अतिरिक्त पद भी उन नामों में पढ़े जा सकते हैं। वह ही एक मात्र पूर्ण संग्रह नहीं। निरुक्त इन संग्रहपदों का यास्कीय

व्याख्यान है। यह भी निर्देशमात्र ही है। स्वयं यास्क ने कई स्थल अपने ढङ्ग पर व्याख्यान करते हुए भी अनिर्णीत छोड़े हैं। 'पूषा त्वेतश्च्यावयतु' इस ऋग्वेदीय मंत्र के व्याख्यानावसर पर यास्क स्वयं कहता है कि इस का तृतीय पाद सांशयिक अर्थात् संशयग्रस्त है। यदि उसके नियमों पर सब ठीक उतरता तो उसे ऐसा कहने की आवश्यकता नथी। इससे यह समझना चाहिए कि निरुक्त आदि वेदार्थ में सहायक हैं, परन्तु मन्त्र में ऊहा भी आवश्यक है। बिना उस के केवल इन्हीं से पूरा कार्य्य चल जावेगा, यह संभव नहीं।

पदपाठ में शब्दों के विभाग आदि दिखाये जाते हैं, इस का वर्णन किन्हीं ग्रन्थों में मिलता है। वे हैं कुछ प्रातिशाख्य और कुछ इस विषय का नियम निरुक्त आदि ग्रन्थों में मिलता है। पदपाठ का जो विभाग पदकारों ने किया उनसे भिन्न पद विभाग भी हो सकता है। वे ही एकमात्र पदविभाग हैं, यह समझना भ्रम है। पदपाठ के विषय में थोड़ा सा वर्णन निरुक्त का उद्देश्य बतलाते हुए स्वयं यास्क ने भी किया है परन्तु सारा निरुक्त परिज्ञात हो जाए, फिर भी पदविभाग में भेद बना ही रहेगा। कोई किसी प्रकार करेगा, और कोई किसी प्रकार। जितने भी पदपाठ को बतानेवाले ग्रन्थ समुपलब्ध हैं, किसीने यह स्पष्टतया नहीं बताया कि अवग्रह का अमुक स्थिर और सार्वभौम नियम है। इसी समस्या को देखते हुए आचार्य्यों को कहना पड़ा कि पदकारों की महिमा समझ में नहीं आती। ऋग्वेदीय मंत्र ५।५७।१ में 'तृष्णजे' पाठ आया है। प्रसिद्ध पदकार शाकल्य की दृष्टि से इसमें १-तृष्णा २-ज पद हैं, परन्तु यास्क ने निरुक्त ११।१५ पर 'तृष्णक् तृष्यतेः, इसे एक ही पद माना है। 'अरुणो मासकृत्' ऋ० १।७।२३ मंत्र में आये 'मासकृत्' पद में शाकल्य ने मा+सकृत् दो पद माने हैं परन्तु यास्क ने एक ही पद माना है। इस पदभेद से स्वर में भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। ऋग्वेद १०।२६।१ में 'वायो' ऐसा पाठ आता है। शाकल्य ने इसमें 'वा' और 'य' दो पद गिनाये हैं। परन्तु निरुक्त ६।२८ में यास्क ने 'वि' का पुत्र 'वायः' एक पद है, ऐसा व्याख्यान किया है। स्वर का भेद भी स्पष्ट ही वहां पर आचार्य्य ने दिखलाकर शाकल्य का विरोध कर दिया है। अवग्रह के विषय में स्पष्ट अपनी सम्मति देते हुए स्कन्द निरुक्त २।१३ पर अपनी टीका में कहता है कि शाकल्य आत्रेय प्रभृति आचार्यों ने अवग्रह नहीं किया और गार्ग्य प्रभृतियों ने किया। इसमें कुछ कहा नहीं जा सकता। पदकारों की लीला विचित्र है, वे कहीं पर उपसर्ग विरूप में भी अवग्रह नहीं करते। जैसा कि ऋग्वेदीय १।१६२।१६ में आये 'अधीवासम्' पद का अवग्रह शाकल्य ने नहीं किया। आत्रेय ने तैत्तिरीय संहिता के पदपाठ में 'अधिऽवासम्' ऐसा अवग्रह किया। अन्त में स्कन्द स्वामी कहता है कि इसलिये अवग्रह अनवग्रह है। यह तो वैदिकाचार्यों की उक्तियां हैं। व्याकरण-महाभाष्य-के निर्माता महावैयाकरण पतंजलि की भी सम्मति देखिये। अवग्रह के विषय में वह

कहता है कि लक्षण पदकारों के पीछे नहीं चलेगा बल्कि उन्हें ही लक्षण (व्याकरण) के पीछे चलना पड़ेगा, लक्षण के अनुसार ही पदविभाग करना चाहिए। महाभाष्य ६। ४। ६४ पर प्रदीपकृत् कैय्यट कहते हैं कि 'आदि' पद में कई पदकार आ+आदि ऐसा पदविभाग करते हैं और दूसरे एक ही पद मानते हैं। कैयट ने ३। १। १०६ पर भी इस विषय पर प्रकाश डाला है। इन उद्धारणों और प्रमाणों से यह प्रकट होता है कि पदविभाग भी नियत नहीं हैं।

उपर्युक्त विषयों के साथ साथ स्वर का भी विषय है। उदात्तानुदात्तादि वैदिक स्वरों के ज्ञान के लिए अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्य ग्रन्थों को पढ़ना पड़ता है। परन्तु इनके अध्ययन के बाद भी स्वर का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इन सब में वर्णित नियम कितने भी उपयुक्त क्यों न हों परन्तु वे सर्वथा पूर्ण हैं, यह किसी भी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इन ग्रन्थकारों ने स्वयं इस विषय में भी अन्तिम शरण व्यत्यय की ली है। यास्क ने भी निरुक्त ५। १३ में स्वर के व्यत्यय का विधान माना है। निरुक्त ४। २ में ऋग्वेदीय (८। ४५। ३७) मंत्र की व्याख्या के अवसर पर यास्क ने 'मर्या' जो निघात पद है उसके दो अर्थ किये हैं। पहला मनुष्य-वाचक 'मर्याः पदका संबोधन और दूसरा मर्यादा। अष्टाध्यायी और प्रातिशाख्यों के बतलाये नियमानुसार मर्यादा अर्थ ठीक नहीं बनता। फिर भी यास्क ने किया ही है। किसी भी व्याकरण ग्रन्थ में ऐसा नहीं दिखलाई पड़ता है कि सर्वानुदात्त 'मर्याः' का अर्थ मर्यादा हो। 'रोदसी' पद स्वर नियमों के अनुसार अन्तोदात्त और आद्युदात्त दोनों प्रकार का है। भेद यह है कि अन्तोदात्त समय में साधारणतया इसका अर्थ रुद्र की पत्नी होता है और आद्युदात्त पक्ष में यह द्यावापृथिवी अर्थ देता है। परन्तु यास्क ने निरुक्त १२। ४६ में ऋग्वेद ५। ४६। ८ के भाष्य को करते हुए आद्युदात्त रोदसी पद का अर्थ रुद्र की पत्नी माना है। प्रकरण से वही अर्थ ठीक भी मालूम पड़ता है। इन बातों को भी यहीं पर जाने दीजिये। महाभाष्यकार पतंजलि तो महावैयाकरण थे, उन्हें स्वर का ज्ञान था ही, परन्तु जो 'अक्षर' पद की व्युत्पत्ति (नञ् + क्षर) उन्होंने की है, उसको देखते हुए मध्योदात्त 'अक्षर' पद का उस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वर कैसे बनेगा ? यहां पर यह तो कहा नहीं जा सकता कि पतञ्जलि को स्वर और व्युत्पत्ति आते न थे; उन्होंने त्रुटि की होगी। हां यही समाधान हो सकता है कि शब्दशास्त्र की महिमा अगाध है। शब्द कहीं किसी प्रकार से व्युत्पन्न होता है और कहीं किसी प्रकार से। ऐसी परिस्थिति में स्वर में भेद होना ही हुआ। किसी एक पक्ष के प्रतिपादक आचार्य्य ग़लत नहीं। सभी ठीक हैं और हमारी प्रशंसा के पात्र हैं। अन्त में छन्दः, ऋषि और देवता आदि के विषय आते हैं। इन में भी हम किसी एकमात्र ग्रन्थ को पूर्ण और सर्वतन्त्र नहीं कह सकते। इनके बताने वाले भी जो ग्रन्थ निरुक्त, बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणियें और छन्दोग्रन्थ आदि मिलते हैं वे भी निर्देशमात्र

करते हैं। इन के विषय में विचार पुनः प्रस्तुत किया जावेगा। अनेकों उदाहरण इन विषयों में दिये जा सकते हैं, परन्तु लेख का कलेवर बढ़ जावेगा।

अन्ततोगत्वा यह निष्कर्ष निकला कि किसी एक विषय के शास्त्र को पूरा और एकमात्र मानकर वेदार्थ करना उपयुक्त नहीं। अपितु सबका अध्ययन कर सभी का ज्ञान लेकर वेदार्थ किया जा सकता है। एकांगी ज्ञान और विद्यावाला इस विषय में सफलीभूत नहीं हो सकता है। इस विषय में तो 'भूयोविद्यःप्रशस्यो भवति' अर्थात् अधिक विद्या और जानकारी वाला व्यक्ति ही कृतकार्य्य हो सकता है।

८

वेद का काव्यत्व

वेदमन्त्र छन्दोमय हैं। उनमें काव्यत्व पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है। परन्तु वेद किस प्रकार से काव्य हैं—यह समझना कठिनाई से रिक्त नहीं। साधारणतया लोग काव्य के लक्षणों को बिना समझे हुए ही कभी-कभी वेद को काव्य कह देते हैं। उनकी दृष्टि में वेद काव्य वैसा ही है जैसा कि उपलब्ध होने वाला आज कल का काव्य। अथर्व १०।८।३२ के मंत्र—अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति। देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति" को वेद के काव्यत्व की सिद्धि में प्रायः दिया जाता है। इस मंत्र से यह भाव निकलता है कि परमेश्वर का नियम अटूट और अटल है। वेद भो नियमरूप होने से उनकी भी यह स्थिति सुतराम् सिद्ध है। लेकिन काव्य शब्द का यहाँ शाब्दिक अर्थ वर्तमान काव्य के अर्थ को सीधा नहीं व्यक्त करता है। वेदों में काव्य शब्द का अभिप्राय नियम से ही प्रतीत होता है। ऋग्वेद १०।५५ का पाँचवाँ मंत्र, जो साम में दो स्थानों पर, अथर्व ९।१०।९; तैत्तिरीय आरण्यक ४।२०।१ और निरुक्त १४।१८ आदि स्थलों पर भी आया है—इस दिशा में विचारने योग्य है। मंत्र इस प्रकार है—विधुं दद्राणं समने बहूनां, युवानं सन्तं पलितो जगार। पश्य देवस्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान। इस मंत्र में "अद्या ममार स ह्यः समान" इस नियम को देव का महत्त्वपूर्ण काव्य कहा गया है। "जो आज मरा कल जीवित था" यह उस देव का महान् नियम है। सृष्टि में यह नियम देखा जाता है और वेद की शिक्षा का इस नियम से ठीक समन्वय भी हो जाता है। अथर्व के इस मंत्र में थोड़ा सा पाठान्तर है, अन्यत्र सभी स्थलों पर समानता है। परन्तु काव्यवाला अंश सब जगह एक सा है। इन स्थलों पर इस मंत्र का काव्य शब्द सर्वत्र नियम के ही अर्थ में है। काव्य' का अर्थ दो प्रकार से किया जाता है--एक कवि का भाव ही काव्य है और दूसरा कवि-कर्म का नाम काव्य है। साहित्य में 'काव्य' का अर्थ इस दूसरी परिभाषा से ही लिया जाता है। परमात्मा कवि है अतः उसके कर्म वेद को भी काव्य कहने में कोई बाधा नहीं पड़ती है। परन्तु जब हम काव्य के लाक्षणिक अर्थ को लेकर चलते हैं तो इस में अनेकों कठिनाइयाँ समक्ष उपस्थित हो जाती हैं। विचारक को इनमें उलझ जाना पड़ता है और यहां पर उसकी स्थिति जनसाधारण से उतनी ही पृथक् हो जाती है जितनी कि "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" पद में 'कृण्वन्तः' का विध्यर्थक अर्थ लेने वाले और ठीक अर्थ समझने वाले की होती है। वेद मंत्रों की रचना छन्दोमय है और अक्षरों का सन्निवेश

नियमानुकूल हैं। इस पर अथर्व ९।९ का दूसरा मंत्र अच्छा प्रकाश डालता है। मंत्र—

गायेत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः॥

मंत्र में स्पष्ट ही भासमान हो रहा है कि वेद के मंत्र छन्दः, वाक्य, पद और अक्षर के समुचित सन्निवेश के साथ संतुलित कर रचे गये हैं। इस पूरी बात को व्यक्त करने के लिए 'मिमीते' क्रिया पद भी पड़ा है। अथर्व ९।९।१८ के एक दूसरे स्थल पर 'ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तः'—इत्यादि वाक्य से और भी दृढ़ किया गया है कि ऋचाओं के पद मात्राओं की गणना के द्वारा कल्पित कर रचे गये हैं। इसी प्रकार जहाँ वेदमन्त्र छन्दोवद्ध रचना ज्ञात होते हैं वहाँ उनके पदों का सम्बन्ध सृष्टि के पदार्थों से माना गया है। वेद के शब्दों से सृष्टि के पदार्थों की रचना हुई। इस दार्शनिक तथ्य को वैदिक साहित्य में मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया गया है। वेदान्तदर्शन में व्यास के सूत्रों का भाष्य करते हुये शंकरने कहा है "एते असृग्रमिन्दवः तिरः पवित्रमाशवः। विश्वान्यभि सौभगा— इस सामवेदीय मंत्र के शब्दों के उच्चारणपूर्वक जगत् के विविध पदार्थों की रचना हुई। प्रजापति परमेश्वर ने 'एते' का स्मरण कर देवों की रचना की, "असृग्रम्" का, ध्यान कर मनुष्यों की, "इन्दवः" से पितर, 'पवित्रं' से ग्रह, "आशवः" से स्तोत्र आदि मंत्र, विश्वानि से शस्त्र-संज्ञक मंत्र, और "सौभगा" से अन्य समस्त प्रजाओं को रचा। इसी बात को शतपथ की बृहदारण्यक उपनिषद १।२।४ तथा ब्राह्मणों में—स मनसा वाचा मिथुनं समभवत्, भूरिति प्रजापतिः भुवमसृजत्-इत्यादि वाक्यों द्वारा बतलाया गया है। वेद का इस दृष्टि से वैज्ञानिक स्वरूप बहुत ही व्यापक हो जाता है। वह केवल आधुनिक वेदज्ञदेशीय आचार्यों की धारणा का वेद नहीं रह जाता, अपितु ईश्वरीय ज्ञान और सब सत्य विद्यावों का पुस्तक ठहरता है। वेद की वाणी ऋग्, यजुः, और सामरूप की है और चारों वेदों में इसी प्रकार के मंत्र पाये जाते हैं। इन वाणियों की प्रेरणा प्रत्येक कल्प के आदि में परमेश्वर द्वारा मनुष्य पर होती है। ये वेदवाणियाँ ऋत अर्थात् सृष्टिनियम के आधारभूत संग्रह और ब्रह्माण्ड के ज्ञान हैं। योगी पुरुष को इसका तत्वज्ञान एवं रहस्य खुलता है और गोपति अर्थात् वाणी के पालक के पल्ले केवल शब्दज्ञान ही पड़ता है। ऋग्वेद नवम मण्डल के १७ वें सूक्त का ३४ वाँ मंत्र—तिस्रो वाच ईरयति प्रवह्नि ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्। गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः इस समूचे भाव का सूचक है।

इसकी पुनः काव्यता किस प्रकार है, इस पर विचार करना समुचित प्रतीत होता है। कविजन के विविध लक्षण काव्य के विषय में प्राप्त होते हैं। काव्य को साङ्गोपाङ्ग बतलाने वाले लक्षणग्रन्थ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, साहित्यदर्पण और काव्यप्रकाश आदि हैं। इनमें प्रथम को छोड़कर शेष नवीन हैं। "वाक्यं रसात्मकं

काव्यम्'' अर्थात् रसात्मक वाक्य का नाम काव्य है—यही काव्य का सर्वसम्मत लक्षण किया जाता है। शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस आदि आत्मा, गुण शौर्य आदि की भांति, गुणदोष–काणत्वादि की भांति अपकर्षक, रीति अवयव–संस्थान विशेषवत्, और अलंकार भूषण के समान हैं। इन्हीं आधारों को लेकर वेद के काव्यत्व का विचार करना चाहिए। शब्द और अर्थ को साहित्यिकजन काव्य का शरीर मानते हैं। यह तो विना सन्देह के है कि वेद शब्दार्थमय हैं। परन्तु साहित्यिक धारणा में और वेद की एतत्सम्बन्धी धारणा में महान् अन्तर है। साहित्य के अनुसार जहाँ शब्द से अर्थ का बोध न हो वहाँ काव्य में होना आवश्यक है, चाहें वह सीधे अभिधेय हो अथवा लक्षणा एवं व्यंजना व्यापार से व्यक्त हो। इसलिए पद से अर्थ के बोध में शब्द की तीन वृत्तियाँ मानी जाती हैं— वें हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। मीमांसकजन चौथी तात्पर्याख्या वृत्ति भी मानते हैं। लौकिक काव्यों में वृत्तियाँ अर्थावबोध में कारण मानी जाती हैं, परन्तु वेंद में ऐसा नहीं। वेदरूपी काव्य में अभिधा वृत्ति तो है ही, व्यंजना जो अभिधामूला है और तात्पर्यवृत्ति भी कभी हो सकती हैं, परन्तु लक्षणा का होना संभव नहीं। यदि लक्षणा को भी वेद में स्वीकार किया जावे तो वेंदमंत्रों में एक महान् दोष खड़ा हो जावेगा और वह यह होगा कि वैदिक शब्द स्वयं अर्थ के बोध में असमर्थ हैं और आरोप से अर्थ का बोध कराते हैं। इससे ईश्वरीय ज्ञान होना भी उनका समाप्त हो जावेगा। वस्तुतः वेद के शब्द यौगिक होने से अभिधेयार्थ को बतलाते हैं। वे रूढ़ नहीं कि उन से आरोपित अर्थ ज़बर्दस्ती निकाला जावे। लक्षणा का लक्षण निम्न प्रकार से किया जाता है—मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते। रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता॥ अर्थात् शब्द के द्वारा मुख्यार्थ के बोध की बाधा होने पर उससे युक्त जो दूसरा अर्थ जिससे प्रतीत होता है वह लक्षणा शक्ति है। वह अर्पित है और शब्द कें रूढपने से होती है अथवा प्रयोजन से होती है। तात्पर्य यह है कि अभिधावृत्ति से यदि अर्थबोध में बाधा पड़े तब यह वृत्ति होती है। अभिधा स्वाभाविक शक्ति है और ईश्वर द्वारा संकेतित अर्थ को बतलाती है। लक्षणा मनुष्य के द्वारा अर्पित शक्ति है और वह अर्पित अर्थ को ही बतलाती है। 'गंगायां घोषः" गंगा में गाँव है यह प्रयोग इसका उदाहरण है। गंगा शब्द वस्तुतः 'जल-प्रवाह' अर्थ में रूढ़ है। उसमें कोई गाँव हो नहीं सकता। असंभवार्थ को देखकर लक्षणा से यह बोध हुआ कि गंगा के किनारे पर गाँव है। यह किनारा अर्थ किस प्रयोजन से लिया गया—इसलिए कि शीतलता और पावनत्व का उसमें भाव है। अतः यह स्पष्ट है कि लक्षणा में रूढ़ि और प्रयोजन के बल से कार्य लिया जाता है और वह शब्द से अर्थ का असंभव होने पर ही प्रवृत्त होती है। यह लक्षणा जहत्स्वार्था=अपने अर्थ को छोड़ने वाली, अजहत्स्वार्था=अपने अर्थ को न छोड़ने वाली, और जहदजहत्स्वार्था=उभयविध—भेदों से तीन प्रकार की होती है। नवीन वेदान्तियों ने अपनी कल्पना से इन्हीं को भागलक्षणा, त्यागलक्षणा और भागत्यागलक्षणा नाम दे दिया

है। वेद के शब्दों से ईश्वरसंकेत-कृत अर्थ की प्रतीति होती है, शब्द से अर्थ का असंभव नहीं होता, अर्थ का परित्याग नहीं होता, रूढिपने आदि का अभाव है, और न्यूनता नहीं कि मनुष्य उसकी पूर्त्यर्थ अपनी ओर से किसी वस्तु का आरोप करे। वैदिक शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में योगदर्शन १।२७ में व्यास देव कहते हैं कि "स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इति आगमिनः प्रतिजानते। अर्थात् वैदिक शब्दों का अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य है और प्रत्येक कल्प में परमेश्वर द्वारा स्थित अर्थ का संकेत से बोध कराया जाता है। जैमिनि का "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" वाक्य भी इस ही धारणा की पुष्टि करता है। वैशेषिकदर्शनकार कहते हैं कि संज्ञायें अनादि हैं और वेद में संज्ञा कर्म का बोध परमात्मा के संकेत द्वारा होता है क्योंकि उसे यह सब प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष होने से उसने वेद की रचना की है। सूत्र इस प्रकार हैं—"संज्ञाया अनादित्वात्" "प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः"। परमेश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष है, अनुमानजन्य है अथवा स्मृतिजन्य है— इसका विचार भी दार्शनिक दृष्टि से उठता है। समाधान भी किया जाना चाहिए। अनुमानजन्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसके लिए किसी वस्तु का अप्रत्यक्ष नहीं कि उसे अनुमान की इच्छा हो। अनुमान में कार्यकारणभाव का होना आवश्यक है। ये कार्यकारण भाव काल के क्रम में आधारित हैं। परमेश्वर के किसी भी ज्ञान में काल का परिच्छेद नहीं। अतः उसका ज्ञान अनुमानजन्य नहीं। स्मृति भी भावितस्मर्तव्य और अभावितस्मर्तव्य भेद से दो प्रकार की है। जागृतावस्था की स्मृति में प्रत्यक्ष किये गये विषय का स्मरण वस्तु की कल्पना के विना होता है और स्वप्न में विषय उपस्थित न होकर कल्पित रहता है। है दोनों प्रत्यक्ष पर आधारित। यह स्मृति प्रत्यक्ष के भूत हो जाने पर होती है परन्तु परमेश्वर के ज्ञान में ऐसा क्रम नहीं, अतः स्मृतिजन्य ज्ञान का भी प्रश्न नहीं होता है। तात्पर्यतः परमेश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष है और उसके आधार पर वह शब्दार्थ सम्बन्ध को जोड़ता है। वह सम्बन्ध सीधे अभिधावृत्ति से बोध में आ जाता है। कहीं पर असम्भव नहीं पड़ता। इस लिए वेद में लक्षणावृत्ति नहीं। अभिधामूला व्यंजना और तात्पर्याख्या वृत्ति की संभावना वेद में है। जो भी अलंकार आदि हैं, वे अभिधामूला व्यंजना के परिणाम स्वरूप हैं। लक्षणा के फल वाले अलंकार भी वेद में नहीं हो सकते हैं।

साहित्यिक लोग रसादि को काव्य की आत्मा मानते हैं। आदि पद से "रसाभास" का ग्रहण किया जाता है। ये रस और रसाभास काव्य के आत्मा माने जाते हैं। रस नव हैं। वीर हास्य, करुण, शृंगार, अद्भुत, शान्त, भयानक, रौद्र और बीभत्स। ये रस आत्मा हैं काव्य की, परन्तु वैदिक मन्त्रों के काव्य में इससे विपरीत स्थिति है। रस तो पाये जाते हैं परन्तु 'रसाभास' इनमें हो ही नहीं सकता है।

वेद से रसाभास से सम्बन्ध ही क्या। परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेढु एनान् मत्यं भवस्य। अथर्व ८।८।११ ; हत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा। मानो दुःशंस ईशत ॥ ऋ० १।२३।९; इन्द्र सेना मोहयामित्राणाम्। अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय ॥ अथर्व ३।१।५; खले न पर्शान् प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः ॥ ऋ० - १०।४८।३; आशुःशिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्। ऋ० १०।१०३।१ इत्यादि स्थलों में वीर रस दिखलायी पड़ता है। जायेव पत्य उशती सुवासाः। ऋ० १।७१।४ जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्याम्, विचिद् वृहेव रथ्येव चक्रा। ऋ० १०।१।०८ ; परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्। ऋ० १०।१०।१४; को दम्पतीसमनसा वियूयो—दध यदग्निः श्वशुरेषु दीदयत्। ऋ० १०।१५।२२-इत्यादि मंत्रों में विशुद्ध शृङ्गाररस पाया जाता है। इसी प्रकार दीर्घन्तम आशयदिन्द्रशत्रुः। ऋ० १।३६।१०; यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव ॥ ऋ० ६।७५।१७—में भयानक रस का भान होता है। ऐसे ही परिदेवना के अनेक मंत्रों में करुण रस पाया जाता है। भक्तिसूचक मंत्रों में शान्तरस भी है। परन्तु इन रसों के होते हुए भी वेद का काव्यत्व वही नहीं, जो लौकिक काव्यों का है। वेद-मंत्रों में "रस" को आत्मा नहीं कह सकते। आत्मा का स्थान वहाँ अर्थ का है। अर्थ ही वेदवाणी का पुष्प और फल है और वही आत्मा भी है। ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुण भी वेदमंत्रों में पाये जाते हैं। जब इनका होना है तो गुणों का होना तो नितरां है ही। लौकिक काव्यों में दोषों का भी स्थान है। ये दोष—पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस में होते हैं। काव्य में—दुःश्रव, त्रिविध अश्लीलता, अनुचितार्थप्रयुक्तत्वः ग्राम्य, अप्रतीतत्व, सन्दिग्धता, नेयार्थत्व निहितार्थता ; अवाचकत्व, क्लिष्टत्व, विरुद्धमतिकारिता ; अविमृष्टविधेयांश, वर्णप्रतिकूलत्व, लुप्तविसर्गत्व, आहतविसर्गत्व अधिकपरता, कथितपरता, हतवृत्तता, सन्धिश्लीलता, सन्धिकष्टता, पतत्प्रकर्षता अर्थान्तरैकपदता, समाप्तपुनरात्तता, अभवन्मतसम्बन्धता, क्रमान्यत्परार्थता, वाच्यानभिधानत्व, भग्नप्रक्रमता, कविप्रसिद्धित्याग पद और समास का अयुक्त स्थल पर लगाना; सङ्कीर्णता तथा गर्भितता आदि हैं, जिनसे काव्य मे दोष आ जाता है। यद्यपि लक्षणग्रन्थों में ये गिनाये गये हैं तथापि कवियों के काव्यों में इनका अभाव नहीं। वेद सर्वज्ञ की कृति हैं, अतः उनमें इन दोषों का होना सर्वथा असम्भव है। ये दोष लौकिकों की कृति मे होवें, परन्तु वेद में इसके लिए स्थान त्रिकाल में नहीं हो सकता। इसके अनन्तर रीतियाँ आती हैं। काव्य में रीतियाँ अवयवसंस्थान की भांति मानी गयी हैं। अवयवों का जितना उत्तम सन्निवेश होगा उतना ही सुन्दर शरीर होगा। काव्य में इन रीतियों का जितना अच्छा सन्निवेश होगा काव्य भी उतना ही प्रशस्त होगा। पदसंघटना का नाम रीति है। वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली, लाटिका भेद से रीतियाँ चार हैं। माधुर्य के व्यंजक वर्णोकी की गई विना समास अथवा थोड़े समासवाली ललित रचना वैदर्भी रीति है। ओज के द्योतक वर्णों से की गई उत्कट और समासबहुल रचना गौड़ी रीति है। इन दोनों से बचे वर्णों से युक्त पाँच छः पदों के समासवाली रचना पाञ्चाली रीति है। लाटी

रींति पाञ्चाली और वैदर्भी के मध्य की है। भारत में जिन देशों के लोग जैसी रचना करते थे वैसी ही रीतियाँ बन गयीं। इन रीतियों पर प्रान्त और देशका प्रभाव है। पाञ्चाली पाञ्चाल, वैदर्भी विदर्भ, लाटिका लाट देश और गौडी गौड प्रान्त की रचना है। ये वेद के काव्य मे सर्वथा और नितान्त ही नहीं हैं। वेद किसी देशविशेष, प्रान्तविशेष और मनुष्यविशेष की रचना नहीं। इसलिये इनमें इन रीतियों का सर्वथा अभाव है। यदि ये रीतियाँ वेद में भी होतीं तो वह सर्वज्ञ की कृति और सार्वभौम नहीं रह जाता।

रही बात अलंकारों की उस पर भी थोड़ा विचार आवश्यक है। अलंकार से जैसे पुरुष की शोभा होती है वैसे ही काव्य के अलंकारों से काव्य की शोभा होती है ये काव्य के भूषण माने जाते हैं। काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण में ये अलंकार बहुत बड़ी संख्या में गिनाये गये हैं। वेद में इन अलंकारों में उपमा और श्लेष को छोड़कर और कोई नहीं मिलते। उपमालंकार के भेद बहुधा वेदमंत्रों में दृष्टिगोचर होते हैं। "जायेव पत्य उशती सुवासाः" "चक्रवाकीव दम्पती," 'कुमारा विशिखा इव" "अश्वं न त्वा वारवन्तम्" "अग्निरिव मन्यो" "राजानः समिताविव" "पुरा जीवगृभो यथा" "आत्मन् उपस्थे न 'वृकस्य लोम; "मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम" "केशा न शीर्षन् यशसे श्रियै शिखा" "वृषभो न भीमः "इन्द्रमिव चर्षणीसहम्" "पितेव सूनवे" इत्यादि वेदमंत्रवाक्यों में उपमालंकार है। इसके अतिरिक्त—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यन्योऽनश्नन्नभिचाकशीति ॥ ऋ० १।१६४।२० में उपमेयलुप्ता उपमा है। श्लेषालंकार भी मंत्रों में प्रचुरमात्रा में पाया जाता है। वैदिक शब्द यौगिक हैं और त्रिविध अर्थों के प्रकाशक हैं अतः श्लेष के लिये महान् क्षेत्र खुला हुआ है। आचार्य दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में श्लेष और उपामालंकारों का निर्देश किया है। ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विदन्ते पतिम्। अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥ अथर्व ११।५।१८ इस मंत्र में दूसरे अर्थ में आये 'अनड्वान्' 'अश्व' और "घास" पद का अर्थ क्रमशः बलवान्, शक्तिशाली पुरुष और भोग भी लिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में इन पदों को श्लिष्ट मानना पड़ेगा। इन दो अलंकारों के होते हुए भी वेद में रूपकालंकार, उत्प्रेक्षा आदि नहीं हो सकते। यदि रूपकालंकार को वेदमंत्रों में स्वीकार किया जावे तो महती आपत्ति खड़ी हो जावेगी और वेद का वेदत्व भी विचारणीय हो जावेगा। रूपकालंकार गौणी लक्षणा का फल है। वेदकाव्य में लक्षणामात्र का अभाव होने से यह गौडी लक्षणा हो नहीं सकती। इसलिए रूपकालंकार वेदमंत्रों में नहीं है। "द्यौर्मे पिता जनिता' इस ऋग्वेदीय मंत्र पर ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में ऋषि ने जो रूपकालंकार का नाम लिया है उसका तात्पर्य मंत्र में रूपकालंकार से नहीं है। प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यधावत्—इस कथा के रूपक से है। इसी प्रकार उत्प्रेक्षालंकार भी मंत्रों में नहीं हैं। उत्प्रेक्षा में बहुधा असंभाव्यार्थ की कल्पना

करनी पड़ती है। मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः, नूनम्, इव आदि शब्दों से इसकी व्यक्ति होती है। वैदिक शब्दों का अर्थ के साथ सम्बन्ध निश्चित होने और उसके यौगिक होने से असंभवार्थ की उत्प्रेक्षा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। साथ ही वेद में कोई अर्थ असंभव नाम का नहीं, जिसकी कल्पना करनी पड़े। ऐसे ही अन्य कल्पित अलंकारों के विषय में भी समझना चाहिए। काव्य भी लोक में दो प्रकार का होता है-दृश्य और श्रव्य। श्रव्य काव्य श्रवण का विषय है। दृश्य काव्य देखने का काव्य है। इस श्रेणी में नाटक आदि आते हैं। वेदकाव्य श्रव्य श्रेणी में तो आ सकता है परन्तु उसे दृश्य नहीं कह सकते। नाटक में पात्रों आदि की आवश्यकता होती है। कोई नायक अथवा नायिका भी कल्पित होती ही है। वेदों में ये बातें नहीं पायी जातीं। वह नाटक नहीं। हाँ नित्येतिहासगर्भित संवाद अवश्य पाये जाते हैं जैसा पुरूरवा और उर्वशी, लोपामुद्रा और अगस्त्य तथा यम और यमी सूक्तों में। परन्तु ये कोई ऐतिहासिक व्यक्ति या पात्र नहीं कि इन सूक्तों को नाटक काव्य के अन्तर्गत गिना जा सके। काव्य के रूप में ध्वनियाँ और गुणीभूत व्यङ्ग्यों का भी स्थान है। वेद में ऐसी ध्वनियाँ, जो लक्षणामूलक और कल्पित हों, उनका सर्वथा अभाव है। वे इन कवियों की कल्पित काव्य-परिभाषा से सर्वथा बाहर हैं। कवियों ने कुछ और भी ऊपरी कल्पनायें बना रखी हैं, जिनका नाम कविसमयोक्ति है इन कविसमयोक्तियों के, चाहे ये कल्पित और ग़लत ही है, विरुद्ध कोई रचना नहीं की जा सकती। यदि की जावे तो काव्य दुष्ट कहा जावेगा। उदाहरण के रूप में कुछ कवि समयोक्तियों को दिखाया जाता है। कविजन यह मानते हैं, कि प्रमदा के पैर से ताडित अशोक विकसित होता है, उसके थूकने से बकुल फूलकर अपने शोक को छोड़ देता है; वर्षाकाल में हंस मानसरोवर में चले जाते है; चकोर ज्योत्स्ना का पान करती हैं, विरहियों का हृदय वियोग से फटता है; मकरध्वज के बाण से युवकों का हृदय बींधा जाता है; अशोक में फल नहीं होता और वसन्त में चमेली को फूल नहीं लगता। ये सब कल्पित कल्पनायें हैं। इनका गन्धमात्र भी वैदिक काव्य में नहीं हैं। लौकिक काव्य के जितने अङ्ग है, वे न वेदकाव्य में घटते हैं और न उनके घटने की आवश्यकता ही है। इनके घटने से वेद के महत्त्व में न्यूनता आने का भय रहेगा। कभी-कभी लोग वेद को काव्य कहते समय सीमा से बाहर चले जाते हैं और उससे वेद के स्वरूप के समझने में ही सन्देह होने लगता है। वेद का वैज्ञानिक रूप क्या है? इसको जानते हुए ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती है। कुछ लोग समझते हैं कि जैसे ऋषियों की पद्य-कृतियाँ काव्य हैं, स्यात् वेद भी मंत्रमय होने से ऐसे ही हैं। इस धारणा को हटाने के लिए इस लेख के लिखने की आवश्यकता पड़ी। फिर वेद क्यों काव्य है। इसके समाधान में यह समझना चाहिए कि सर्वज्ञ, व्यापक की कृति होने से उनमें काव्यत्व है, मनुष्यकल्पित काव्यनियमों की

कसौटीपर उतरने के कारण नहीं। यजुर्वेद ४०।८ में परमेश्वर को "कविः मनीषी" कहा गया है और यह भी कहा गया है कि उसने याथातथ्य से अर्थों को बनाया। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उसने यथापूर्व बनाया। वेद में 'कवि' शब्द परमेश्वर के लिये कई स्थलों पर आया है। 'कवि' शब्द का अर्थ क्रान्तदर्शी है। क्रान्तदर्शी होना उसकी सर्वज्ञता का द्योतक है। वेद का कर्त्ता सर्वज्ञ ही हो सकता है, अन्य नहीं। "नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति" शांकरभाष्य १।१।३ अर्थात् इस प्रकार सर्वविद्यायुक्त ऋग्वेदादि का कर्त्ता सर्वज्ञ के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता" इसलिए सर्वज्ञ=क्रान्तदर्शी=कवि की कृति होने से वेद काव्य हैं। यही वेद का काव्यत्व है।

९

वेदों में इतिहास नहीं

वेदार्थ सदा गूढ बना रहा और आगे भी ऐसा ही रहेगा। सर्वशक्तिमत्परमेश्वर का दिया ज्ञान जब तक उसकी अन्तःसाक्षियों के उहापोह से न ग्रहण किया जावे, सर्वसाधारण का विषय हो ही कैसे सकता है। यही कारण है कि लोक और वेदाङ्गों में अनिष्णात लोगोंने जितना भी प्रयत्न वेदके गूढार्थ को खोलने का किया संशयकी ग्रंथियाँ उतनी ही जटिल होती गयीं। " लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः " का भी तो आखिर कोई तात्पर्य होना ही चाहिए। संसार को समझ कर वेद को समझने का प्रयत्न करना चाहिए और वेद को जानकर संसार को समझने का। दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋत यदि वेद है तो सत्य संसार उस के साथ जुड़ा हुआ है। सत्य जिन नियमों में होकर परिवर्तित होता है, वे ही तो ऋत हैं, उन्हीं को वेद भी शब्दान्तर से कहते हैं। ऋत को जानकर सत्य और सत्यको जानकर ऋत का ज्ञान किया जाता है। अन्यथा आपत्तियाँ बढ़ जाती हैं, और पल्ले कुछ नहीं पड़ता। इस भाव को दृष्टि में रखकर ही " ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत् " ऋग्वेदीय (१०।१८०।१) वाक्य समूह व्यवहृत हुए हैं। प्राचीन कालमें ऋषियों ने इस भावको भलीप्रकार समझा था और यही प्रबल कारण है कि उन्हों ने दूधका दूध और पानी का पानी कर संसार के समक्ष रख दिया। व्यास के वेदान्त १।३।२८-३० तक के " शब्द इति चे न्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् " अत एव च नित्यत्वम् आदि, इसी भावना को लेकर चल रहे हैं। ' औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेनसम्बन्धः—" यह जैमिनि वाक्य भी वेद के उसी भावका उन्नायक है। वेद की अन्तःसाक्षियाँ भी इसी प्रकार की मिलती हैं। एते असृग्रमिन्दवः तिरः पवित्रमाशवःविश्वान्यभि—सौभगा। सा० उत्त० ४।२०१।१ यह मंत्र वेद पदों से संसार के पदार्थों की रचना बतलाता है। भूरिति वै प्रजापतिरिमामजनयत् भुव इति अन्तरिक्षम्—शत० २।१।४।११; स भूरिति व्याहरत् भूमिमसृजत् तै० २।२।४।२ स भुव इति व्याहरत्। सोऽन्तरिक्षम् असृजत् तै० २।२।४।२—३; स सुवरिति व्याहरत्। दिवमसृजत्। तै० २।२।४।३ अर्थात् भूः, भुवः, स्वः पदों के द्वारा ही परमेश्वरने पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक की रचना की; ये ब्राह्मण-वाक्य भी पूर्ववेदमंत्र के भावपर प्रकाश डालते हैं। सर्वेषांन्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेद शब्देभ्य एव पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। मनु १।२१ नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेद शब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः। शांकरभाष्य १।३।२५; इत्यादि स्मृति वाक्य भी अपने उसी श्रुति अर्थ को स्मरण करते हुए " श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् " की नीति को चरितार्थ करते हुए दिखाई दे रहे हैं। ऋग्वेदीय वाचा विरूप नित्यया। अग्ने चोदस्व सुष्टुतिम्-इस

मंत्रने अन्त में सब संशयों का और भी निराकरण कर दिया जब कि वेद को नित्यवाणी के रूपसे पुकारा। वेद के महान् आशय को ऋषियोंने समझा और उसे नित्यज्ञान कहकर पुकारा और वेदके शब्दों को नित्या प्रतिपादित किया। अनित्यपदार्थों के साथ वेद के नित्यपदों का समन्वय कैसे— इसका समाधान जैमिनि और व्यास ने 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्, समाननाम-रूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् इत्यादि सूत्रों से अपने दर्शनों में भली प्रकार किया है। महाभारत शांतिपर्व २३३ अध्याय के २४ वें श्लोक से तो इस दिशामें सन्देह को और भी स्थान नहीं रह जाता। वहाँपर वेदवाणी के लिये अनादि, अनिधना, नित्या, कहा गया है। श्लोक इस प्रकार है— अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

वेद के नित्य होने पर उसके अर्थकी विचारधारा प्रवृत्त होती है। परन्तु जब हम निरुक्त और जैमिनीयमीमांसा को देखते हैं तो पता चलता है कि वेदार्थ होता है अथवा वेदमंत्रों के पद केवल यज्ञ की सिद्धिमात्र के लिये हैं और उनका कोई अर्थ नहीं है—यह दो प्रकार के विचार लोगों में थे। कुछ लोग तो केवल वेदमंत्रों का उपयोग यज्ञ में मानते थे और उसका कोई अर्थ नहीं मानते थे। याज्ञिकों में भी कुछ प्रधान विद्यासंपन्न आचार्य ऐसे थे जो इनसे यज्ञसिद्धि भी मानते थे और इनका अर्थ भी होता है, यह भी मानते थे। नैरुक्तलोग वेदों के मंत्र और प्रत्येक पदका अर्थ मानते थे और उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि वेदमंत्रों के त्रिविध अर्थ होते हैं। जिनमें, अधियज्ञ, अधिदेव और अध्यात्मका वर्णन है। अनर्थका हि मन्त्राः इति कौत्स; आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यं हि तदर्थानाम्--आदि निरुक्त और जैमिनीय मीमांसा के वचन क्रमशः इन्हीं दोनों वादों पर प्रकाश डालते हैं। यास्कने अपनी प्रक्रिया के सिद्ध्यर्थ--वेदमंत्र अनर्थक हैं, इस वादका बहुत सफल खण्डन कर अपने पक्ष की स्थापना की है। निरुक्तमें यह स्थल देखने योग्य है, विस्तारभयसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है। ब्राह्मणग्रन्थकार याज्ञिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थों को निरुक्तकार की भाँति मानते थे, और याज्ञिक प्रक्रिया पर भी जोर देते थे। ब्राह्मणों की याज्ञिकप्रक्रिया को न समझ कर वेदमंत्रों की अनर्थकता का प्रबलवाद कहीं पुनः न पनप जावे, इसलिये जैमिनि ने मीमांसा बनाकर विरोधियों के वादको खण्डन कर के यह दिखलाया कि वेदमंत्र सार्थक हैं। जैमिनिके गुरु व्यास ने वेद के पदों से सृष्टि के पदार्थों की उत्पत्ति मानकर वेद को सार्थक और नित्य बतलाया। शिष्य जैमिनि ने वैदिक शब्दों को नित्य बताकर उसका सार्थक होना सिद्ध किया।

वेदोंको निरर्थक बतलाने वालों की युक्तियों का जैमिनि ने यास्क के ढंग पर घोर खण्डन किया। यास्कीय निरुक्तिप्रकार भी वेदकी नित्यता की सिद्धि के लिये ही प्रयास

है--और अनेक आचार्यों ने ऐसा प्रयास किया। यास्क स्वयं अपने शास्त्र में ऐसे १४ आचार्यों और पक्षोंका नामग्राह स्मरण करता है। यास्क की सारी निरुक्ति-प्रक्रिया ब्राह्मणग्रंथोंके आधार पर है--ऐसा स्पष्ट व्यक्त होता है। ब्राह्मणकार लोग स्वयं महान् नैरुक्त ज्ञात होते हैं। इन्द्र, वृत्र तथा अनेक पदोंकी ब्राह्मणों की निरुक्तियाँ देखने से यास्क की निरुक्तियों की समता दिखायी पड़ती है। 'तत्र च ब्राह्मणम्' यास्क का यह स्मरण और वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा इत्यादि समान स्थलों में "वा" पद का प्रयोग ब्राह्मणों के विशद निरुक्तिप्रकार को बोधन कराने के लिये है।

इतिहास का उद्भव कैसे हुआ ?

यद्यपि वेदोंकी नित्यता सिद्ध हो जाने पर उनमें किन्हीं अनित्य व्यक्तियों के इतिहास की सम्भावना स्वयं निर्मूल हो जाती है परन्तु, जैसा, कि पूर्व दिखलाया जा चुका है, वेद के अर्थ न माननेवाले लोग भी थे और उनके अपने दिये हुयें विविध तर्कों में जो एक इस विषय का भी है उसीके आधार पर यह भावना पुनः जागरूक होती गयी। अथवा दूसरे प्रकार से भी इस भावना को स्थान मिला होगा। वह इस प्रकार से--कि नैरुक्त और मीमांसक जनों ने यद्यपि वेदों में अनित्य व्यक्तियों के इतिहासका खण्डन कर दिया था फिर भी वेद के अर्थको समझाने में प्रीति से आख्यानद्वारा वेदमंत्रों के अर्थ को समझाने की प्रक्रिया वर्तते थे। ब्राह्मण—ग्रन्थों में ऐसी प्रक्रिया के आधार पर मनघडन्त कहानियों द्वारा वेदार्थ समझाने का प्रयत्न किया गया है। यह प्रक्रिया नैरुक्त, याज्ञिक और दूसरे लोग भी वर्तते थे। परन्तु वे यह मानते थे कि यह इतिहास नित्य-इतिहास है, किसी अनित्य व्यक्तिका इतिहास नहीं। ऐसा किया क्यों जाता था? इसलिये कि गूढार्थ को खोलने मे यह प्रक्रिया बड़ी सहायक और रोचक थी। वेदों में कहीं कहीं पर संवाद सूक्तों मे जड़ प्राकृतिक पदार्थों के संवाद द्वारा भी इस प्रकार का वर्णन पाया जाता है। परन्तु वे पदार्थ सृष्टि के पदार्थ हैं, कोई तन्नामधारी व्यक्ति नहीं। इस प्रक्रियावालों को आख्यानविद्, ऐतिहासिक और इनके सिद्धान्त को आख्यानसमय कहकर पुकारा जाता था। यास्कका ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता नि० १०।१० का यह वचन इस प्रीतिवादी इतिहास की ओर संकेत करता है। आत्मवादी लोग भी इस पक्ष का बड़ा आश्रय लिया करते थे क्योंकि वेद से आत्म, अनात्म पदार्थों के समझाने में इसके विना कोई गति जिज्ञासुओं की सुविधा के लिये दिखलायी नहीं पड़ती। वे लोग परकृति और अर्थवादरूपसे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थका प्रतिपादन करते थे। इसीको इतिहास कहा जाता था। परन्तु उनका यह इतिहास नित्य था, अनित्य इतिहास के अर्थका प्रतिपादक नहीं था। इस प्रकार तीनों प्रक्रिया वर्ती जाती थीं और उसे इतिहास कहा जाता था। इस विषयको लक्ष्य में रखकर दुर्ग ने निरुक्तवृत्ति १०।२६ पर इस प्रकार लिखा है। इतिवृत्तं

परकृत्यर्थवादरूपेण । यः कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वार्थः आख्यायते दिष्ट्युदितावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते । स पुनरयंमितिहासः सर्वप्रकारो नित्य-मविवक्षितस्वार्थः तदर्थ प्रतिपत्तृणामुपदेशपरत्वात् ।

कभी उपमार्थक सांसारिक पदार्थोंका वर्णन इस ढंग पर किया जाता था कि उससे देखने में तो इतिहास दृष्टिगोचर होता है परन्तु वह व्यक्तिविशेष का इतिहास नहीं । इसे ही ब्राह्मण ग्रन्थों में "माया"=बुद्धिचातुर्य से वर्णन कहा जाता है । यह भी एक प्रकारका इतिहास वेदार्थ को समझाने के लिये था । यास्क का ऋ० १।३२।१० पर "उपमार्थेन युद्धवर्णाः भवन्ति-वाक्य इसी पक्षका परिचायक है । ब्राह्मणग्रंथों में वेदार्थ करने के अनेक प्रकार देखे जाते हैं, जिसे भक्तिवाद कहा जाता है वह--यौगिक निर्वचन, इतिहासकल्पना, मायामय वर्णन और त्रिविध प्रक्रियाओं के प्रकाशन की भावना है । इनके अनुसार मंत्रों के त्रिविध अर्थ खुलते हैं । इसका वर्णन ब्राह्मणों में निम्न प्रकार है— तस्मादाहुर्नैतद् अस्ति यद्देवासुरमिति । श० ११।६।१।९

इसी स्थलपर वेदवचनका उद्धरण देकर और भी दिखलाया गया है—मायेत्साते यानि युद्धान्याहुः—अर्थात् हे इन्द्र तेरे जो युद्ध वर्णन हैं वे मायामात्र हैं—तू न कभी लड़ा और न कभी पराजित हुआ है । इससे इन्द्र और वृत्र का युद्ध प्रपञ्चमात्र है । बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति—नि० ६।२४ का यह यास्कीय वाक्य इसी ओर निर्देश है । वेदों के कई सूक्तो में नित्य पदार्थों के संवादकी कल्पना है । वे संवाद व्यक्तिविशेषों के नहीं फिर भी तद्वत् भासित होते हैं । उनसे सूक्तों का अर्थ भलीप्रकार रोचकता से प्रकट होता है । पुरूरवा, उर्वशी, लोपामुद्रा अगस्त आदि सम्बन्धी अनेक सूक्त ऐसे ही दिग्दर्शन हैं । इसी लिये इस नित्य संवाद का वर्णन करने के हेतु और नित्यपदार्थों के ऐतिहासिक वर्णन करने के लिये--यास्क को कहना पड़ा कि--तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्र गाथामिश्रं भवति अर्थात् वेदमंत्र, इतिहासों, ऋचाओं और गाथाओं से मिश्रित हैं । इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् की युक्ति भी इसी प्रकार चरितार्थ है । इन सभी प्रकारों का यदि संग्रह कर दिया जावे, तो निम्न प्रकार के पक्ष बनेंगे जो इतिहास पदसे अभिप्रेत हैं । वेदार्थ करने में यही प्रकार मिलेगा । मैं जो वैदिक ऐतिह्यप्रदीप नामक पुस्तक इस विषयमें लिख रहा हूँ, उसमें सभी विषयों का ऊहापोह गवेषण होगा ।

इतिहास के प्रकार –आख्यान की प्रीति, उपमार्थक, बहुभक्तिवाद, त्रिविध अर्थ के कारण; अथवा वेदोमें प्राप्त नित्य-इतिहास और मायाप्रपञ्चादि प्रकाशनार्थ, परकृति और अर्थवाद के कारण हैं । जैमिनि और यास्कने 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' और नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' से क्रमशः अपने ग्रन्थों में वेदान्तर्गत अनित्य व्यक्तियों के वर्णन के पक्षको काट दिया परन्तु कालान्तर से वेदों के अर्थ को स्वीकार करने पर पूर्वोक्त धारणा के आधार पर विपरीतार्थ लेकर इतिहासभावना का उद्भव हुआ. जो वेद के लिये नितरां अनर्गल

है। वेद में किन्ही व्यक्तिविशेषों का इतिहास नहीं पाया जाता। हां! नित्येतिहास जो पूर्वोक्त भेदों में प्रतिपादित किया जाता है, अवश्य वेदार्थ के लिये उपयोगी होने से ग्रहण किया जाता हैं। नित्येतिहास को लक्ष्य में रखकर ही यह माना जाता है कि वेदमंत्रों के चार प्रकार के अर्थ होते हैं। उदाहरणार्थ 'अश्विनौ' पद लीजिए द्यावापृथिवी वा अश्विनौ काठ० १२।५; इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ श० ४।१।५; अहोरात्रे अश्विनौ मै० सं० ३।४।४; अश्विनाध्वर्यू श० १।१।२।१७; सूर्याचन्द्रमसावित्येके, राजानौ पूण्यकृतावित्यैतिहासिकाः नि० १२।१। इत्यादि विविध अर्थ अश्विनौ पद के पाये जाते हैं। इनमें द्यावापृथिवी; सूर्यचन्द्रमा, अहोरात्र, ये आधिदैविक अर्थ है और याज्ञिक भी; अध्वर्यू अर्थ याज्ञिक मात्र है। दो पुण्यकृतराजा जिन में ये गुण कल्पित किये जावें, यह ऐतिहासिक अर्थ है। प्राण और अपान इसके आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थ, हैं। "अदिति" पद का अर्थ प्रकृति नैरुक्त प्रक्रिया से है परन्तु "देवमाता" अर्थ ऐतिहासिक पक्षमें है। भाव दोनों के एक से ही हैं। केवल प्रक्रियाका अन्तर है। यास्क ने स्वयं अपने निरुक्त में "अदितिरदीना देवमाता" यहाँ पर वही ऐतिहासिक अर्थ लिया हैं। इसलिये मानना पड़ेगा कि यह एक॰ प्रक्रियाविशेष है।

विरोधियों के माने इतिहासका वर्गी-करण एवं--निराकरण

वेदोंमें व्यक्तिविशेषों का इतिहास मानने वाले लोगों के माने हुए इतिहासों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। राजाओं के इतिहास, ऋषियों के इतिहास और नदी पहाड़ तथा प्रदेशों के इतिहास। उनका विचार है कि ऋषि वेदमंत्रों के कर्ता हैं और उनके इतिहास इनमें पाये जाते हैं। प्राचीन राजाओं के दानों और कार्यों का इसमें वर्णन पाया जाता है। नदी पहाड़ों और प्रदेशों के इतिवृत्ति भी इनमें दृष्टिगोचर होते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि ये नाम भी तो आखिर वेद से ही आये होंगे। ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येव पुनर्द्दात्यजः। वेदान्तभाष्य, १।३।३०- इन वाक्यों को देखते हुए भी वे अपनी ही धुनमें लगे हुए हैं। इन सबका विस्तृत विचार तो मैं वैदिक इतिहासप्रदीप में करूँगा, यह संक्षेप में थोड़ा सा प्रकाश डाला जाता है। ऋषि लोग वेदमंत्रों के कर्ता हैं, यह तो अनर्गल विषय है; परन्तु उनका इतिहास वेदों में पाया जाता है यह सुतरां अनर्गल है। अत्रि, विश्वामित्र, भरद्वाज, गोतम, कण्व, वसिष्ठ, अङ्गिरा-आदि जो नाम देखे जाते हैं-ये कोई विशेष व्यक्तियों के नहीं हैं। ये जगत् के सामान्य पदार्थों अथवा विद्वान् आदि के वाचक हैं। तीन तापों से रहित व्यक्ति को अत्रि कहा जाता है। परन्तु यह आध्यात्मिक प्रक्रिया में होगा। वैसे ऋग्वेद १।११।६।८ में अत्रिका अर्थ भौमाग्नि है। विश्वामित्र का अर्थ करते हुए स्कन्दने लिखा है कि "सर्वमित्रः भगवानादित्यः" अर्थात् सर्वमित्र भगवान् आदित्य ही विश्वामित्र से अभिप्रेत है। परन्तु प्रक्रियान्तर से विश्वामित्र का

अर्थ प्रजामित्र राजा भी हो सकता है । उस स्थितिमें "कुशिकस्य सूनुः" उसका विशेषण भी ठीक मेधाविपुत्र के अर्थ में घटित होगा । सूर्य अर्थ में प्रकाशका पुत्र ऐसा विशेषण संगत होगा । ऐतरेय आरण्यक २।२ शतपथ ८।१।१।६ मे प्राण का नाम भी वसिष्ठ ऋषि है।

बृहदारण्यक २।२। में आंख कान आदि ज्ञानेन्द्रियों को विश्वामित्र, जमदग्नि, गोतम, भरद्वाज, वसिष्ठ, कश्यप कहा गया है । 'वाणी' को वहाँपर 'अत्रि' कहा गया है । सप्तर्षयः प्रतिहिताः" शरीरे इस मंत्रमें सप्तर्षियों की स्थिति शरीर में मानी गयी है और ये ज्ञानेन्द्रियाँ आदि हैं । यास्कने भी इसकी व्याख्या करते हुए १२।३६ पर अध्यात्म में यही भाव ग्रहण किया है। जब कि दैवत पक्षमें उसका अर्थ सूर्य की सप्त किरणें हैं । यजुः १३।५४–५५ की प्रतीकों से शतपथ में इन ऋषियों के नामसे इंद्रियों का व्याख्यान किया गया हैं । शतपथ के ८ काण्ड के तीन ब्राह्मणों में यह स्थल देखा जा सकता है । कण्व पद निघण्टु में 'मेधावि' लोगों के नाम में पठित है । जिसका अर्थ मेधावी अथवा विद्वान् है । इसी प्रकार 'भृगु' की व्याख्या करते हुये स्वयं यास्क ने लिखा है 'अर्चिषु भृगुः सम्बभूव, जिसका प्रक्रियानुरोधेन तपस्वी और 'अग्नि' दोनों अर्थ हो सकता है । अंगिरा मेधावी और प्राण दोनों को कहा जा सकता है । 'अङ्गिरा' का अर्थ अङ्गों में रमनेवाला प्राण बहुत ही सार्थक है । ऋषि पदों से संसार में विद्यमान विविध तत्त्वों का भी ग्रहण होता है। ऋग्वेद में ऋषियों को संसारी पदार्थों का कारण कहा गया हैं । ऋग् १०।८०।२ और अथर्व ६।१३।३।५ के ये, मंत्र उदाहरण रूपमें उपस्थित किये जा सकते हैं । त अयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना । असूर्ते सूर्ते रजसि विषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि । तथा यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिवेधिरे । अग्नेभूमिरस्यृषिकृत् ऋ० १।३१।१६ के इस मन्त्रखण्ड में अग्नि को ऋषिका उत्पादक और भूमि का कारण कहा गया है । यदि ये ऋषिवाचक नाम व्यक्ति-विशेष होते तो इनके साथ आतिशायिक तमप् प्रत्यय का प्रयोग न मिलता । परन्तु ऋग्वेद १।४५।४ में कण्वतमः पाठ आया है। अभूदुषा इन्द्रतमा मघोनी अजीजनत् सुविताय श्रवांसि । अंगिरस्तमा सुवते वसूनि । इस ऋग्वेद के मंत्र में उषा को इन्द्रतमा और अंगिरस्तमा विशेषण से युक्त किया गया है । यदि ये व्यक्तिवाचक पद होते तो फिर इनमें 'तमप्' प्रत्यय कैसे लगता । इस से स्थिति स्पष्ट है कि ये विशेषण पद हैं । जैसा कि पूर्व बतलाया जा चुका है वेदों में जड़पदार्थों के संवाद पाये जाते हैं और उनमें पिता पुत्र आदि का व्यवहार तथा तत्सम्बन्धी तद्धित प्रत्यय के प्रयोग भी पाये जाते हैं । अथर्व ६।९२।१—सभाच समितिश्च प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने अर्थात् सभा और समिति प्रजापतिकी पुत्रियें हैं । सहसस्पुत्रोऽग्निः ऋ० ३।१४।१ तथा अग्ने दिवःसूनुरसि ऋ० ३।२५।१ में यहां स्पष्ट अग्नि को सहः और द्युका पुत्र कहा गया है । "तनूनपात्" पदकी निरुक्ति को निरुक्त में देखिए वहाँ किस प्रकार से इसकी रचना पायी जाती है । कात्थक्य— आचार्य के मतमें तनूनपात् का अर्थ

आज्य अर्थात् घृत है। नपात् व्यवधानवाली प्रजा का नाम है। गौ को 'तनू' कहा जाता है। उससे दूध उत्पन्न होता है और दूधसे घृत होता है। इसलिये वह गौका पौत्र है। निरुक्त ८।५ का इस सम्बन्धी संस्कृत वाक्य निम्न प्रकार है—तनूनपादाज्यमिति कात्थक्यः। नपादिति अन्तरायो प्रजायाः नामधेयम् निर्णीतमा भवति गौरत्र तनूरुच्यते। ततो यस्यां भोगाः। तस्याः पयो जायते। पयस आज्यं जायते।

अब जड़ों के संवाद को भी देखें। यमयमी सूक्त को लीजिए वहां पर रात्रि और सूर्य का परस्पर संवाद मिलता है। पुरूरवा मेघ है और उर्वशी विद्युत् है इनका परस्पर संवाद ऋग्वेदीय एतत्सम्बन्धी सूक्त में पाया जाता है। निरुक्त ५।२१ में अहयदुषा अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता तामश्विनौ प्रमुमुचतुरित्याख्यानम्-इस वाक्यमें उषाका अश्वियों को बुलाना पाया जाता है। उषा कोई चेतन पदार्थ नहीं है जो उसमें यह कर्म हो सके परन्तु यह व्यवहार यहाँ पर स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है। ब्राह्मणग्रन्थों की साक्षी ली जावे तो इस विषय के इतिहासों का और भी रहस्य खुल जाता है। प्रजापतिः स्वाम् दुहितरमभिदध्यौ। दिवं वोसर्स वा मिथुनेन श० १।७।४।४ प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यधावदुषसम् मै० सं० ३।६।५; प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरंमभ्यधावद् दिवमित्मन्ये आहुःरुषसमित्यन्ये-ऐ-३।३३ अर्थात् प्रजापति सूर्यने अपनी दुहिता का पीछा किया। इस उपन्यासमें सूर्य और उषाका वर्णन है जिसके जोड़ें से दिनकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार विचार से पता चलता है कि ऋषियों का इतिहास वेदों में नहीं। ये ऋषि जगत् के सामान्य पदार्थ हैं—व्यक्तिविशेष नहीं।

अब राजाओंकी बात लीजिए। वेदोंमें राजावों का इतिहास भी नहीं। देवापि, शन्तनु, कक्षीवान्, प्रमगन्द आदि राजावों के जो नाम लोगों को भासित होते हैं वास्तवमें व्यक्तिवाचक नाम नहीं हैं। देवापिः का अर्थ निरुक्त के इस स्थल के टीकाकार विद्युत् करते हैं और 'शन्तनु' का अर्थ उदक करते हैं। 'पुरोहित' उसे इसलिये कहा गया है कि वह पहिले चमकती है बादमें जल वर्षता है। यह ऋग्वेद का सारा सूक्त वर्षकामेष्टि में विनियुक्त है। इसके भावको समझने के लिये देवापिको राजा गढ़कर विषय को प्रकट किया गया है। यहाँ पर आर्यसमाज के कई विद्वानोंने विद्युत् पक्ष को दिखलाया तो है परन्तु सारा सूक्त उस प्रक्रियाके अनुसार आजतक किसीने नहीं लगाया। इस सूक्तमें—मंत्रमें ही यं त्वां अग्ने देवापिः आर्ष्टिषेणो मनुष्यः समीधे—ऐसा पाठ आया हुआ है। इसको लेकर लोगों को कहने का अवसर मिलता है कि वहाँपर तो देवापि को स्पष्ट मनुष्य कहा गया है फिर विद्युत् अर्थ करना कैसे संगत है। समाधान यहाँ पर यह होगा कि वहाँ 'मनुष्यः' पद मनुष्येभ्यो हितः मनुष्यः ऐसी व्युत्पत्ति कर के प्रयुक्त किया हुआ ज्ञात होता है। इस से संगति में कोई विषमता नहीं ज्ञात होती। इसी प्रकार कक्षिवान् का अर्थ कक्ष्यावान् है। स्कन्दने इसका अर्थ हाथी और अश्वोंवाला सामान्य

व्यक्ति किया है। ऋग्वेद १।१८।१ में इसे 'औशिज' कहा गया है। जिसे देखकर लोग इतिहास मानने लगते हैं परन्तु ऐसा युक्तिसंगत नहीं। उशिक् कोई व्यक्तिविशेष नहीं। उसका अर्थ मेधावी है। नि० ३।१५ में यह मेधाविनाम में पाठित भी है। मेधावी का पुत्र होनेसे उसे औशिज कहना सुसंगत ही है। प्रमगन्द भी कोई व्यक्ति नहीं। इसका अर्थ अत्यंत व्याजखोर है। जिसके धनको हर लेने की प्रार्थना ऋग्वेद ३।५३।१४ में की गयी है। भरत पदको लीजिए। ऋ० ३।५।२४ में "इमे इन्द्र भरतस्य पुत्राः" पदों को देखकर लोग इतिहास की गन्ध पाते हैं परन्तु निरुक्त ८।१४ पर यास्क कहते हैं कि "भरत आदित्यस्तस्य भाः" अर्थात् भरत आदित्यका नाम है। कौषीतकी ३।२ में अग्नि को भरत कहा गया है–अग्निर्वै भरतः। निघण्टु २।१८ में यह ऋत्विज् अर्थ में पठित है। नहुष पद ऋग्वेद में कई स्थलों पर आया है। यास्कीय निघण्टु २।३ में यह मनुष्य नाम में पढ़ा गया है। इतिहासवादी यदु, तुर्वश, पुरु, द्रुह्यु और अनु को व्यक्तिविशेष मानते हैं परन्तु ये सभी पुरु को छोड़कर मनुष्य नाम में पठित हैं। पुरु बहुत अर्थ में माना जाता है। कुशिक ऋ० ३।३३।५ में राजा अर्थ में लोग समझते हैं परन्तु इसका अर्थ यास्क के अनुसार "प्रकाश" और 'विद्वान्' होगा। इस प्रकार यह कहना कि वेदों में राजावों के इतिहास हैं–यह भी संगत नहीं।

नदी, पहाड़, पर्वतों के विषय में भी विचारने की आवश्यकता है। गंगा, यमुना, सरस्वती, कीकट आदि नाम भी प्रदेशवाची व्यक्ति नाम नहीं हैं बल्कि नदी और प्रदेश–सामान्य हैं। गंगा नाम इसलिये है कि उसका पानी गमनात्मक वेगवाला है। संमिश्रण के कारण नदी–सामान्य ही यमुना है। इन नदियों की स्थितिपर निरुक्ति द्वारा प्रकाश डाला गया है। हठयोग ३।११।१० तथा शिवस्वरोदय ३७४ और साम-स्वरोदय आदिमें इन्हें शरीर की नाड़ियाँ कहा गया है। 'इडा भगवती गंगा पिङ्गला यमुना नदी। हठयोग। इडा गंगेति विज्ञेया पिङ्गला यमुना नदी। मध्ये सरस्वती विद्यात्प्रयागादिःसमस्तथा शिवस्वरोदय। ये इन ग्रन्थों के वचन विचार के योग्य हैं। इसी प्रकार ऋजुगामिनी को आर्जिकीया कहा जाता है। विपाट् के विषय में लोग अधिक विवाद का प्रदर्शन करते हैं। वह भी यास्क के इस वचन के कारण–कि पाशा अस्यां व्यपाशन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षत–तस्तस्मात् विपाट् उच्यते पूर्वमासीत् उरुञ्जिरा निरुक्त ८।२६। अर्थात् इसमें मरते हुए वसिष्ठ के पाश खुले थे, पहले इसका नाम उरुञ्जिरा था। यहाँ पर विचारनेकी बात यह है कि वसिष्ठ क्या कोई ऐतिहासिक व्यक्ति है। यदि ऐसा नहीं तो फिर इतिहास का कोई स्थान ही नहीं रह जावेगा। वेदमें वसिष्ठ जल को कहा गया है। वसिष्ठ की उत्पत्ति मित्र और वरुण से उर्वशी के सम्बन्ध से मानी गयी है। वहाँ ऋग्वेद में यह भी दर्शाया गया है कि "विश्वेदेवाः त्वा पुस्करे आददन्त"—अर्थात् हे वसिष्ठ तुझे सारी वायुवें अन्तरिक्ष में धारण करती हैं। इस विषय के मंत्र ऋग्वेद ७।३३।१० १३

तक में है। उनकी स्थिति को जांचने पर पता चलता है। कि वसिष्ठ वायु से आच्छादित उदकसंघात है। निरुक्त में वसिष्ठविषयक मंत्रों के स्थलपर भाष्यकारोंने बहुधा यही भाव लिया है। "वसिष्ठोऽप्याच्छादित उदकसंघातः" ऐसा भाव आचार्योंने व्यक्त किया है। ऐतरेय आरण्यक २।२ में वसिष्ठ को प्राण कहा गया है। इस प्रकार वसिष्ठ का बन्धन खुला अर्थात् जल जो बन्धा हुआ था बहने लगे यही भाव ग्रहण किया जा सकता है। यह जिन आकाशीय या पृथिवीस्थ नदियों के जलों में होता है वे नदी सामान्य विपाट् कही जा सकती हैं। यास्क की निरुक्ति का यही भाव है। 'पूर्वमासीत् उरुञ्जिरा" यह ऐतिहासिकों का मत है। यह मत किसी प्रीतियुक्त वर्णन की अपेक्षा से लिया गया है। "सरस्वतीमाविवासेम धीतिभिः" यह ऋग्वेदीय मंत्र निरुक्त में वर्णित है। वहां पर यह नदीसामान्य ही है, नहीं तो यह कहना पड़ेगा कि सभी को फिर सरस्वती नदी पर ही स्तुति आदि करना चाहिए अन्यत्र नहीं। परन्तु वेद कहता है "उपह्वरे च गिरीणां संगमे च नदीनां अर्थात् पर्वतों की कन्दराओं में और नदियों के संगमों पर संध्या वन्दनादि कार्य करने चाहिए। कीकट नाम किसी देशका नहीं। जो लोग विहारवर्ती स्थान विशेष को कीकट कहते हैं वे ठीक अर्थ नहीं करते। 'कीकट' पद ऋ० ३।५३।१४ में आया है। इसकी व्याख्या करते हुए निरुक्त ६।३२ पर यास्कने लिखा है कि यह अनार्यवास और यज्ञादिक्रियाहीन स्थान हैं। निरुक्त समुच्चयमें आचार्य वररुचिने नैरुक्त प्रक्रियामें इसका भाष्य किया है परन्तु इससे स्थानविशेष है, यह समझना भूल है। यह भी स्थान-सामान्य है और किसी भी अनार्यवास और कर्मकाण्डादिसे रहित प्रदेश के लिये इसका प्रयोग हो सकता है। बोधानन्द भिक्षुने ऋग्वेदिक इण्डियाके आधार को लेकर इससे जो महात्मा बुद्ध पर इसे लगाकर आदिवासियों का आर्यों से पृथक् होना दिखलाया है, और उन्हें ही देशका आदिमवासी बनाकर आर्यों को विदेशी सिद्ध किया है, यह सब कुछ अनर्गल प्रलापमात्र ही है। इस प्रकार देखने से पता चला कि वेदों में नदी आदि नाम भी जो दृष्टिगोचर होते हैं, वे नदीसामान्य हैं— विशेष नहीं।

वैदिक इतिहासों पर आचार्यों के विचार

आचार्य दुर्ग की निरुक्तवृत्ति को देखने से ज्ञात होता है कि वह वेदों में व्यक्ति-विशेषका इतिहास नहीं मानते हैं। त्रिविधार्थ दिखलानेमें नित्य इतिहासकी कल्पना का वह स्वीकार करते हैं। परन्तु यह सब कुछ उनका निरुक्त के भाष्यपर है अपना स्वतः भी यही मत है या नहीं-यह विचारणीय है। उनके कुछ स्थल इस प्रकार हैं.—

१ तत्र एतस्मिन्नर्थे इतिहासमाचक्षते आत्मविदः। इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण। यः कश्चित् आध्यात्मिक आधिभौतिको वार्थ आख्यायते दिष्ट्युदितावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो हि नित्यमविवक्षितस्वार्थः तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात्। नि० १०। २६

२ तत्रैवं सति आत्मविद् आत्मनि त्रित्वनानात्वे गुणीकृत्य तदङ्गप्रत्यङ्गभावेन कल्पयित्वैकमात्मनं पश्यन्ति । तथा नानात्वैकत्वे नैरुक्ता इति त्रित्वे । तथा त्रित्वैकत्वे याज्ञिका नानात्वे । एवमेषामविरोधः । नि० ७।८

३ अतश्च दर्शयति मन्त्राणामैतिहासिकोऽप्यर्थ उपेक्षितव्योऽसावपि तेषां विषयः नि० १०।१०

४ नि० ११।२५ पर सरमा को निरुक्तकारने आख्यानविदों के मतसे देवशुनी कहा है। दुर्गने वहाँपर नैरुक्तों के मतसे माध्यमिका वाक् कहा है।

५ युद्धवर्णा भवन्ति । युद्धे रूपकाणीत्यर्थः । नह्यत्र यथाभूतं युद्धमस्ति । नहीन्द्रस्य शत्रवः केचन सन्ति । नि० २।१६

६ निरुक्तपक्षे ऋष्टिषेणो मध्यमः शन्तनवे सर्वस्मै यजमानाय- २।१६

७ मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेराध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेष्ववस्थानं याथात्मतो दृश्यते-४।१९

८ कोऽयमग्निः । आत्मा इत्यात्मविदः । अविवक्षितस्थानविशेषो निर्ज्ञातैतदभिधानो देवताविशेषो लोकवेदप्रसिद्धः कर्माङ्गमिति याज्ञिकाः । विवक्षितविशिष्टस्थानकर्मा मध्यमोत्तमाभ्यां ज्योतिर्भ्यामन्यः पार्थिवोऽयमग्निरिति नैरुक्तसमन्यः ७।१४

९ विश्वानरविद्यायां तावत् "आत्मा इत्यात्माविदः, इन्द्रादित्यः, वायुः आकाश उदक-पृथिव्यादयश्च पृथक् पृथगेव वैश्वानरत्वेन विज्ञायन्ते । ६।२२। आचार्यवररुचिने निरुक्तसमुच्चय में निरुक्त के अनुसार मंत्रों के भाष्य किये हैं—

१ एवमितिहासपक्षे योजना । नैरुक्तपक्षे पुरूरवा मध्यमस्थानः वाय्वादीमेकत्वात्। उर्वशी-विद्युत् पृ० १४१

२ नित्यपक्षे तु (मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्ताः) यमं च यमीं चेत्यैतिहासिकाः नि० १२।१०। यमी मध्यमस्थाना वाक् । यमश्च मध्यमस्थानः......
एवं नित्यत्वाविरोधेन योज्यम् । पृ० १४६
स्कन्दस्वामी के विचार निम्न हैं :—

१ नित्यपक्षे तु सततप्रवृत्तयज्ञः कश्चिद् यजमानः प्रियमेध उच्यते तथा भृग्वादयोऽपि यजमानविशेषा एव । पृ. १८० भाग दूसरा यह ऋ. १।४५।३ पर है ।

२ सर्वे इतिहासाश्चार्थवादमूलभूताः । ते चान्यपरा विधिप्रतिषेधशेषभूताः । अतस्ताननादृत्य स्वयमविरुद्धं नित्यदर्शनमुपोद्बलयन्नाहः मेघ इति नैरुक्ता :— तस्मादसति युद्धे कल्पनैषा, तथा च कल्पितरूपा मन्त्रवर्णा मन्त्रलिङ्गाः ।

३ नित्यपक्षे त्रितो नाम शुक्लशब्दलक्षणः कर्मपाशैस्त्रिः स्वर्गनरकमर्त्येषु बद्धः कश्चित्क्षेत्रज्ञः पृ. २११.

४ पृ. २५३. अदितिः प्रकृतिः, पृ. २९५ यम आदित्यः यमी रात्रिः

५ उशिक् शब्दोऽपिमेधाविनाम उशिजश्च मेधाविनः कण्वस्य पुत्रः । पृ. २४ दूसराभाग

६ ऋष्टिः रेषणा हिंसा च कामादीनाम् । अन्तश्चरश्शत्रूणां सेना-समुदायः स चेन्द्रियाणाम् । भाग दूसरा पृ. ७३

७ नित्यपक्षे ऋग्द्वयस्यान्यदर्थयोजना- आर्ष्टिषेणः ऋष्टिषेणो मध्यमः तत्र भवत्वाच्चार्ष्टिषेणो विद्युत् । भाग २ पृ. ७७.

८ देवापिर्विद्युत् शन्तनुरुदकम् वृष्टिलक्षणम् । यत् यदा देवापिर्विद्युतः शन्तनवे वृष्टि-लक्षणस्योदकस्यार्थाय पुरोहितः पूर्वं हि विद्योतते पश्चादुदकम् । पृ. ७७

९ अथवा कश्चिद् राजा यजमानो अनावृष्ट्या क्षतसेन ऋष्टिषेण उच्यते पृ. ७८.

१० एवमाख्यानस्वरूपाणां मंत्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या । एवं शास्त्रे सिद्धान्तः पृ० ७८

ऐसी ही मिलती जुलती बात वररुचिने भी कही है—

औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयो नित्यत्वविरोधात् ।

परमार्थेन तु नित्यपक्ष एव नैरुक्तानां सिद्धांतः पृ० १४२ हस्तलेख । तैत्तिरीय आरण्यकमें भट्टभास्कर पृ० १०२-१०३ पर कहते हैं कि—इन्द्रः परमेश्वरः । मेधातिथिरग्निः । अहल्या वाक् । कुशिकः अग्निः । ऐतिहासिकास्त्वाहुः ।

हरिस्वामीजी शतपथ पर प्रसिद्ध भाष्यकार हैं और थोड़ा ही अंश उनका प्राप्त है । वे लिखते है—

१ वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा-शिष इत्यादि तदपि नैरुक्तदिशा प्रवाहनित्यम् । एष विद्युदादिव्यवहारवाचित्वेन ऐतिहासिकदिशां वा सर्ववृतान्तानामेव... वेदे न कर्म-कालेऽतीतरूपेण प्रतिपादनाददोषः । भूमिकोपसंहार पन्ना १४

२ एवमपि (इति) हासदृष्ट्याऽपि व्यवहारमुक्त्वा नैरुक्तदृष्ट्या प्रत्यक्षमिन्द्रवृत्र-व्यवहारं दर्शयन्नाह—तद् वा एते देवा इति अत्र च वृत्रहः आदित्योऽभिप्रेतः ।

३ आधिदैविकं सूक्ष्मार्थं दर्शयति पन्ना ७१

उद्गीथने ऋग्वेद दशम मण्डल पर भाष्य किया है । उसमें १०।८२।२ का भाष्य करते हुये उन्होंने सूर्यपरक अर्थ लगाया है । जब कि यह मन्त्र इतिहास के लिये नवीनों में प्रसिद्ध है । अस्यवामीय में आत्मानन्द ने हिरण्यस्तूपाख्य का अर्थ पृ० ४८ पर जीवात्मा किया है । पृ० ९ पर "अश्विभ्याम्" का अर्थ गुरुशिष्य किया है । पृ० ९३ ३३, २७, ७ पर क्रमशः सोम, ऋषि, पुत्र, शब्दों का अर्थ जीवनप्रेरक जगदीश्वर, प्राण अंशुमहदादिक विकार किया है । वह पृ० १८ पर यहां तक कहते हैं कि वेद परमार्थतः परमेश्वर का ही प्रतिपादन करते हैं : सारे वेद ब्रह्मपरक हैं ।

हरिदत्तने एकाग्निकाण्डमें उशिजका मेधावी अर्थ किया है । पुन प्र. १७३ पर यह आचार्य लिखता है कि 'मध्यमस्थानो रुद्रो वर्षिता इति नैरुक्ताः । जगदुत्पादनेची यस्य सेक्तेति पौराणिकाः । तस्मै मीढुषे" मीढुषी मध्यमस्थाना वाक् । रुद्रस्य पत्नीति नैरुक्ता । जगत्प्रकृतिरूपेति पौराणिकाः ।

महामीमांसक शबर स्वामी भी मी० १ । २ । १० पर लिखते हैं--

वृत्तान्तान्वाख्यानेऽपि विधीयमाने आदिमत्ता दोषो वेदस्य प्रसज्यते ? (उ०) नित्यः कश्चिदर्थः प्रजापतिः वायुः आकाशः आदित्यः स्यात् । पृ० . ३६, ३८ पर कहता है— ननूक्तमसंवादो वेदे.... ..गुणवादेन प्रराचनार्थतां ब्रूमहे । वृत्तान्तं न्वाख्यानं न च वृत्तान्तस्य ज्ञापनाय किं तर्हि प्ररोचनायैव ॥ यहां पर शबर के वाक्य 'प्ररोचन' और यास्कीय 'प्रीतिर्भवति आख्यानसंयुक्ता' में समता झलक रही है ।

कुमारिल भट्ट तन्त्रवार्त्तिक पृ० ६७ पर कहते हैं कि "कीकटा नाम यद्यपि जनपदाः । तथापि नित्याः । अथवा सर्वलोकस्थाः कृपणाः कीकटाः । पृ० १३३ पर वह प्रजापतिका अर्थ आदित्य और अहल्याका अर्थ रात्रि करता है । उसकी दुहिता उषाको बतलाता है । जीर्ण करने से वह आदित्य के जार कहता है । वह इन आख्यानों को औपचारिक मानता है ।

इन आचार्यों में एक महान् दोष ।

इन सभी आचार्योंने अपने सिद्धांत दर्शाये हैं परन्तु इसका निर्वाह किसी से भी पूर्णतया नहीं हुआ है ।

निरुक्तसमुच्चय में निरुक्त के आधार पर कुछ मंत्रों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है । स्कन्द और दुर्गका तो यह मत निरुक्तमूल पर है । स्कन्दभाष्य में भी ऐतिहासिक व्याख्या पायी जाती है । सायणने भी तो भूमिकामें मीमांसा के मत को स्वीकार किया है परन्तु भाष्य में मन्त्रों का अर्थ उसके विपरीत किया है । भरत स्वामी के भाष्य में भी इतिहास पदे पदे दिखलायी पड़ता है । कहने का तात्पर्य यह है कि किसी से भी अपनी प्रतिज्ञा निभी नहीं ।

महान् दयानन्द की विशेषता

जहां इन आचार्योंने सिद्धान्त तो इतिहास के अभाव का प्रतिपादन किया भाष्य इतिहासपरक किये वहां भगवान् दयानन्द की विशेषता यह है कि सर्वत्र उन्होंने अपने भाष्यमे मंत्रों का अर्थ नित्य नैरुक्तप्रक्रिया के आधार पर ही किया है । उनके भाष्य में कहीं पर भी इतिहास की गन्ध को अवसर नहीं मिलता । यास्क, मीमांसको और ब्राह्मणों के सिद्धांत को उन्होंने पूर्णतया निभाया है । वास्तव में यदि इन इतिहासों पर

विचार किया जावे तो इतिहास का भ्रम नष्ट होकर मंत्रों का वैज्ञानिक अर्थ लोगों के समक्ष रखा जा सकता है। मैं पाश्चात्य और सभी इतिहासपक्षी विद्वानों के भ्रमों के निवारणार्थ इस दिशामें प्रयत्न कर एक महान् पुस्तक लिखने में लगा हूँ। मै सभी इतिहासों पर इस ग्रंथमें विस्तर से विचार कर रहा हूँ। देखें परमात्मा ग्रन्थको कब पूरा करता है। इसमें संदेह नहीं कि ग्रन्थ पूरा होनेपर एक अपूर्व वस्तु होगा। इस विषय में बहुत सामग्री एकत्र हो चुकी है और लिखना प्रारम्भ है परन्तु विघ्नों के कारण महती कठिनाई भी है। इस प्रसंगमें मैं वैदिक विज्ञान के मर्म को खोलने के लिये, इतिहासका निराकरण करते हुए अप्सरावों के ऊपर बहुत कुछ लिख चुका हूँ।

१०

अप्सरा:

वैदिक साहित्य अनेक ज्ञान-विज्ञानोंसे परिपूर्ण है। ज्ञानका विषय नीरस और गहन होनेसे सर्वसाधारणकी समझमें आना बहुतही कठिन है। इस काठिन्यको दूर करने के लिये और जनसाधारणकी रुचिको इसकी ओर बढ़ानेकी दृष्टिसे काल्पनिक आख्यानोंका जन्म दिया गया। वास्तवमें आख्यान कल्पित कर गहन-से-गहन विषयको सरलतासे समझाया जासकता है, और यह एक विद्या है। प्राचीन कालमे इसका पर्याप्त प्रचार था। वैदिक वाङ्मय इससे रिक्त नहीं है। इन कल्पित आख्यानोंके पात्र भी कोई व्यक्तिविशेष हों—ऐसा नहीं, ये सृष्टिगत पदार्थ-समष्टिमें सेही हैं। इनको आख्यान-वर्णनकी प्रीतिसे पात्रों के रूपमें वर्णित किया गया है। वैदिक साहित्य ऐसे वर्णनोंसे भरा पड़ा है और उसके प्रभावसे ही लोकमें उस रूपकी अनेक कल्पित रचनाएँ हुईं, जोकि अब व्यक्तिविशेषोंके ऐतिह्य-रूपमें प्रचलित हो गई हैं। समस्त वैदिक-आख्यानों पर विचार करना और उनमें से वास्तविक तत्वको निकालकर जनताके समक्ष रखना बहुत कठिन कार्य है; और अधिक समय तथा शक्तिकी अपेक्षा रखता है। यहाँपर थोड़ासा विचार वेदोंमें आये "अप्सरस्" शब्द, उसके कुछ अवान्तर-विशेष तथा सम्बद्ध पदार्थोंके विषय में करना है।

वेदमें भिन्नभिन्न अर्थोंमें इस शब्दका प्रयोग हुआ है। इन सभी अर्थों को यहाँपर न दिखलाकर प्रक्रियाविशेषके किसी एक अर्थपर प्रकाश डाला जावेगा। यजुर्वेद (१८।३९) में सूर्यको गन्धर्व और उसकी किरणोंको अप्सरस् कहा गया है। इससे पूर्व और अगले मन्त्रोंमें क्रमशः— अग्नि, चन्द्रमा वायु, यज्ञ और मनको गंधर्व तथा औषधियों, नक्षत्रों, जलों, दक्षिणा और ऋग् तथा सामोंको क्रमशः उनकी अप्सरायें कहा गया है। इस समूचे प्रकरणका विचार करनेसे ज्ञात होता है कि सूर्य आदि पदार्थोंको गन्धर्व कहकर उनके साथ सम्बद्ध तत्वोंको अप्सरायें बतलाया गया है। कल्पित गन्धर्वोंसे अप्सराओंका जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध देखा जाता है, वैसा ही सूर्य आदि पदार्थोंके साथ अप्सरारूपमें वर्णित वस्तुओंका भी सम्बन्ध उनके साथ पाया जाता है। इन मन्त्रोंमें अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, यज्ञ और मनके पूर्व विशेषणरूपसे ऋताषाड्, संहत, सुषुम्णः, इषिर, भुज्यु और प्रजापति शब्दोंका प्रयोग हुआ है। ये शब्द विशेषार्थक हैं। ऋतका सहन करनेवाला होनेसे अग्नि ऋताषाड् और दिन तथा रात्रिको जोड़ने के कारण सूर्य संहत=साथ जोड़नेवाला है। इसी प्रकार सुखकारक होने से वायु को इषिर कहा गया है। यज्ञ सबका पालक होनेसे भुज्यु और प्रजाका पालक होनेसे मन प्रजापति है। गन्धर्व और अप्सराओं के मिथुनभावके समान अग्नि और सूर्य आदि

पदार्थों के साथ औषधि और किरणों आदिका मिथुनभाव दर्शाया गया है। इन मन्त्रों का विवाहकृत्यमें प्रयोग स्त्री-पुरुषको मिथुनभावकी शिक्षा देनेके उद्देश्यसे है। अग्नि आदिको गन्धर्व कहना तथा उनके साथ सम्बद्ध तत्वोंको अप्सरा कहना यौगिक-प्रक्रियाके चमत्कारको दिखलानेके लिये है। जैसे—अग्नि सूर्य आदिमें गन्धर्व प्रयोग यौगिक है, वैसे ही उनसे सम्बद्ध पदार्थोंमें अप्सरस् शब्दका प्रयोग भी यौगिक हैं और इस वर्णनसे आख्यान-विषयक अप्सरसूका कोई सम्बन्ध नहीं दिखलाई पड़ता।

यजुर्वेदमें एक दूसरे स्थल (अ० १५।१५—१९) पर अग्नि, वायु, आदित्य, यज्ञ और मेघके वर्णनके साथ क्रमशः पुञ्जिकस्थला, क्रतुस्थला, मेनका, सहजन्या, प्रम्लोचन्ती, विश्वाची, घृताची, उर्वशी और पूर्वचित्ति आदि दो-दो अप्सराओंका वर्णन है। ये अप्सरायें क्या हैं? और इनका अग्नि आदि पदार्थोंसे क्या सम्बन्ध है? इत्यादि बातें विचारणीय है। इनपर विचार करनेसे किसी अच्छे परिणाम पर पहुँचनेकी आशा हो सकती है। इसी प्रकार से वेदके अन्य स्थलोंपर भी इन अप्सरसूका सामान्य या विशेषरूपसे वर्णन पाया जाता है। इनपर विशेष विचार करनेसे पूर्व यह निर्णय करना है कि "अप्सराका अभिधेय अर्थ क्या है?" यह पहले कहा जा चुका है कि यौगिक प्रक्रिया के बलसे भिन्न भिन्न प्रकरणोंमें इसके और भी अर्थ हो सकते हैं परन्तु यहाँपर एक ही प्रक्रिया में इसकी अर्थसङ्गति लगाई जावेगी। अप्सरा: पद अप् पूर्वक सृ धातुसे औणादिक (४।२३७) असि प्रत्यय करनेसे सिद्ध होता है। निरुक्त (५।१३) पर यास्कने योगबलसे इसका अर्थ अप्सारिणी किया है। यद्यपि उसने अन्य अर्थों को भी दिखलाया है परन्तु यह अर्थ भी साथ लगा हुआ है। यास्क के इस अर्थको विचारने से अप्सराका अर्थ—जलमें सरण करनेवाली अर्थात् विद्युत् निकलता है। प्रतीकमें दिये गये मन्त्रों से भी यही भाव व्यक्त होता है।

'अप्सरा'का जलसे सम्बन्ध

अप्सरा = अप्सारिणी विद्युत् है यह भाव पहले व्यक्त किया गया है। अब जलके साथ इसके सम्बन्ध को देखना है। आख्यानों में अप्सराओंका जलसे सम्बन्ध बतलाया जाता है अतः जब विद्युत् को अप्सरा माना जायगा तो उसका भी जलसे सम्बन्ध होना ही चाहिये। जलके साथ विद्युत् के सम्बन्धको, थोड़ा भी विज्ञान पढ़ा व्यक्ति, भली प्रकार जानता है। इन दोनोंका घनिष्ट सम्बन्ध है। विद्युत्का जलकी उत्पत्तिमें भी प्रयोग होता है और उसके विश्लेषणमें भी। विद्युत्से जहाँ हाइड्रोजन और आक्सीजनका संगतिकरण होता है वहाँ विश्लेषणकालमें उसके सञ्चारसे दोनों तत्व पृथक् पृथक् हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त जलको भी विद्युत् वाहक पदार्थ माना गया है। अतः इसप्रकार भी इन दोनोंका सम्बन्ध है। यथा—

" Among conductors are metal, Charcoals, acids, water, animals etc." [१]

अर्थात् विद्युत्-वाहक पदार्थों में धातु, कोयला, क्षार, जल और पशु आदि भी हैं। वैदिकसाहित्य में भी इस सम्बन्धका प्रतिपादन किया गया है। शतपथ[२] ब्राह्मण ७।५।२।४९ में विद्युत् को जलोंकी ज्योति कहा गया है। ऐतरेय[३] २।४१ में भी विद्युत्को वृष्टिका देनेवाला कहा गया है। जैमिनि-ब्राह्मण[४] १।२९२ में विद्युत्का जलमें स्थान कहा है। इसी तरह तैत्तिरीयोपनिषद्[५] बल्ली १ अनुवाक ३ में वैद्युत अग्नि को जलोंकी सन्धि करनेवाला बतलाया गया है। जैमिनि ब्राह्मणने एक अन्य स्थान पर यज्ञायज्ञीय[६] सामसे विद्युत्का सम्बन्ध दर्शाते हुए जलको यज्ञायज्ञीय कहकर जल और विद्युत्के इस घनिष्ठ सम्बन्धभावको प्रकट किया है।

[७]यजुर्वेद १५।१८ में विश्वाची और घृताची दो अप्सराओंका वर्णन है और जलको आयुध बतलाया गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद ९।७८।३ में अप्सराओंका वर्णन करते हुए "समुद्रिया-अप्सरसः" अर्थात समुद्रकी अप्सरायें ऐसा कहा गया है। पुनः ऋग्वेद १०।१५।१० और १०।१०।४ में क्रमशः इनके लिए अप्या और अप्या योषा पद प्रयुक्त किये गये हैं। जिनका अर्थ—पानी सम्बन्धी स्त्रियाँ—होगा। वैदिक माइथालेजी पृष्ठ १३४ पर इन्हें Water Nymph कहा गया है। अथर्ववेद[८] २।२।३ में अप्सराओं के सम्बन्धमें कहा गया है कि समुद्र उनका घर—निवास स्थान—है। फिर २।२।४ मन्त्रमें अप्सराः को अभ्रिये दिद्युत् अर्थात् "हे मेघमें होनेवाली और प्रकाशयुक्त !" कहकर सम्बोधित किया गया है। इस दिद्युत् पदका अर्थ ग्रिफिथने अपनी टिप्पणीमें स्पष्ट

(1) Royal Hand Book of Popular Science by John Gall p. 58.

(२) विद्युद्वाऽपां ज्योतिः। शतपथ, ७।५।२।४९

(३) वृष्टिर्वै याज्या विद्युदेव, विद्युद्धीदं वृष्टिमन्नाद्यं संप्रयच्छति—ऐतरेय २।४१

(४) अग्निः पृथिव्यां वायुरन्तरिक्षे, आदित्यो दिवि चन्द्रमा नक्षत्रेषु, विद्युदप्सु,—जैमिनिब्राह्मण १।२९२

(५) अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः। वैद्युतः सन्धानम्। तै० १।३

(६) विद्युद्यज्ञायज्ञीयम्। आपो हि यज्ञायज्ञीयम्। —जैमिनि० १।२९२

(७) विश्वाची च घृताची चाऽप्सरसा वायो हेतिः.........यजुः १५।१८

(८) समुद्र आसां सदनम्। अथर्व. २।२।३

रूपसे विद्युत्को चमकाने वाली किया है। इसके अतिरिक्त अथर्व[१] ४।३।७३ में उल्लेख किया गया है कि अप्सरायें नदी अथवा जलके तीरको चली जावें। इन प्रमाणोंसे यह स्पष्ट है कि अप्सरा का अर्थ विद्युत् है और उसका सम्बन्ध जलके साथ है। पूर्व-कथित "घृताची" पदको लीजिये। यह एक अप्सराका नाम है; परन्तु इसके अर्थ पर ध्यान देनेसे यह भी जलको प्राप्त करानेवाली विद्युत् ही मालूम पड़ती हैं। निघण्टु १।१८ में घृत शब्द जलके नामोंमे पठित है। घृतमञ्चतीति घृताची इस व्युत्पत्तिसे जलको प्राप्त करानेवाली विद्युत् ही इसका अभिधेय है। जैसा कि पहले विद्युत्कों जलका कारण बताते हुए प्रकट किया गया है। मोनियर[२] विलियमके संस्कृतकोषमें अप्सराका अर्थ करते हुए बतलाया गया है उनका जलों अथवा मेघोंके जलोंमे सञ्चार होता है और वे समुद्रमन्थन द्वारा उत्पन्न हुई कही जाती हैं। एक इङ्ग्लिश[३] कोशमें निम्फका अर्थ बतलाते हुये दिखलाया गया है कि ये प्रायः पहाड़ों बनों और हरी घासके मैदानों वा जलोंमें विचरा करती हैं।

कादम्बरीमे[४] महाश्वेता जहाँपर अपना वृत्तान्त चन्द्रापीडको सुनाती है वहाँपर अप्सराओंके १४ कुलोंमें एक कुलको जलसे उत्पन्न हुआ बतलाया गया है। कहीं कहीं पहाड़ी प्रदेशोंमें पर्वतकी ऊँची चोटियोंपर देवताके रूपमें लोहेके त्रिशूल गाड़े जाते हैं। उन स्थानोंपर रहनेवालोंका यह विचार है कि हरे-भरे स्थानों और ऊँची चोटियोंपर आच्छरी (अप्सराएँ) रहती हैं। वहाँपर लाल वस्त्र और बाजे नहीं जाने चाहिये। यह लोहेके त्रिशूल गाड़नेका कार्य विद्युत्पातसे बचावके लिए हुआ करता है जो कि वैज्ञानिक है। अप्सरा—विद्युत् है उसके पातसे कोई हानिकी संभवना न हो-इस लिए चोटियोंपर त्रिशूल गाड़े जाते हैं। बड़े-बड़े प्रासादोंको विद्युत्पातजनित हानिसे बचानेके लिये लोग उनपर भी लोहेकी नोकदार शलाका गाड़ते हैं। इस शलाकाका[५] निचला भाग

(१) नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारम्—अथर्व. ४।३७।३

(२) (Going in the waters or between the waters of clouds)...they....are said to have been produced at the churning of the ocean.
Monier William. Sanskrit English Dictionary.

(३) One of the inferior divinities of the Greeks & Romans imagined as beautiful maiden haunting the mountain, forests, meadows or waters.
(Student's English Dictionary 1911)

(४) अन्यज्जलाज्जातम् (कादम्बरी)

(५) To avoid the destructive effects of lightning large buildings are provided with lightning-conductors. These consist of strong pointed metallic rods which rise into the air some distance above the highest

नीचे कुछ गीली भूमिमें गड़ा होना चाहिये। इससे विद्युत् उस शलाकासे होती हुई भूमिमें चली जाती है और प्रासाद तथा उसमें रहनेवाले लोग बच जाते हैं। इन पूर्वोक्त प्रमाणों तथा सन्दर्भोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अप्सराका अर्थ विद्युत् है और उसका सम्बन्ध जलसे है। कल्पित अप्सराओंका जो जलसे सम्बन्ध दिखलाया गया है वह भी विद्युत् और जलके सम्बन्धका पोषक है।

अप्सरस् व्यक्तियें

ऊपर अप्सरस्-सामान्यको विद्युत् अर्थमें दिखलाया गया। अब अप्सरस् व्यक्तियोंपर विचार किया जाता है। जब अप्सरा शब्दसे विद्युत् अर्थ सिद्ध है तब उसके विशेषभेद भी विद्युत् ही होने चाहिये; इसका वर्णन इन अगली पंक्तियोंमें किया जायगा।

वैदिक माइथालोजी, पृष्ठ १३४ पर मैकडानल्ड महाशयने अथर्ववेद २।२।४ का हवाला देते हुए बतलाया है कि अप्सरायें[1] मेघ, विद्युत् और नक्षत्रोंसे सम्बद्ध हैं। इसी भावको ऋग्वेद १०।९५।६ में वर्णित अप्सरस् व्यक्तियें भी प्रकट करती हैं। ऋग्वेदके इस स्थलमें "सुजूर्णि" "सुम्न आपि" "चरण्यु" "ग्रन्थिनी" और "हृदे चक्षुः" पद आये हैं। इस पर ग्रिफिथ महाशय[2] टिप्पणीमें लिखते हैं कि—ये अप्सरायें उर्वशी के चले जानेके बाद उसकी साथी थीं। इसकी तुलना लाल रेखासे की गई है। ये विजलीकी चमक ही हैं। इस वर्णनसे जब यह स्पष्ट है कि ये उर्वशीकी सहेलियाँ विजुलीकी चमक ही हैं तो उर्वशी भी कोई ऐसा पदार्थ है जो विद्युत् है या उसका विद्युत् से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यजुर्वेद १५।१९ में उर्वशी और पूर्वचित्ति दो अप्सराओंका जो वर्णन आया है, वहाँ पर विजलीके गर्जने और चमकनेको क्रमशः हेति=आयुध और प्रहेति अर्थात् बड़ा आयुध कहा गया है। जिससे कि उर्वशी और विद्युत्का कोई न कोई विशेष सम्बन्ध अवश्य प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त उर्वशीका वर्णन पुरूरवा के साथ ऋग्वेद दशवें मण्डलके पञ्चानवें (९५) सूक्तमें तथा शतपथ ११।५।१ में आया है। पुरूरवा पदके निर्वचन आदिसे पता चलता है कि उसका अर्थ मेघ है। उस (मेघ) की पत्नी होनेसे उर्वशीका भी विद्युत् होना ही सङ्गत है। इन दोनोंके सम्बन्धोंका विचार करना किसी अच्छे परिणामपर पहुँचनेके लिए उपयुक्त होगा।

point of the building and are sunk into moist earth at the lower end. Lightning in passing between the clouds and the earth will by preference travel by the best conductor and as the lightning rod conducts better than the building, lightning travels by that instead of striking and shattering the building.

(Royal Hand Book of Science by John Gall p. 70)

(1) The goddesses........are described as connected with clouds, lightning and stars.

(2) The Apsarasas who were the companions of Urvasi after her flight

उर्वशी और पुरूरवा

ऊपरकी पंक्तियोंमें कहा गया है कि पुरूरवा मेघ है, अतः इसपर प्राप्त प्रमाणों की आलोचना की जाती है। यदि इन प्रमाणोंसे पुरूरवा मेघ सिद्ध हो जाये तो फिर उर्वशीको विद्युत् सिद्ध करनेमें अत्यन्त सरलता हो जायेगी। उणादि सूत्र ४।२३२ द्वारा पुरु + रु धातुसे पुरूरवा शब्द सिद्ध होता है जिसका अर्थ है बहुत शब्द करनेवाला। वररुचि आचार्यकृत निरुक्तसमुच्चय, कल्प ४ मं० १४ और यास्कीय-निरुक्त १०।४६ से भी यही भाव व्यक्त होता है। निरुक्त १०।११ में मध्यस्थान (अन्तरिक्षस्थ) देवता-नामोंकी व्याख्याकी प्रतिज्ञा की गई है और १२।१ में द्युस्थानदेवतानामोंकी। ये दशवाँ और ग्यारहवाँ अध्याय क्रमशः अन्तरिक्षस्थ और द्युलोकस्थ देवताओंकी व्याख्या करते हैं। निरुक्त, १०।४६ में पुरूरवा और ११।३५ में उर्वशीका वर्णन है। इस वर्णनसे दोनों अन्तरिक्षस्थ पदार्थ-विशेष ज्ञात होते हैं; कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं। १०।४६ की टीका करते हुये स्कन्द स्वामी लिखते हैं कि[1] पुरूरवा मध्यस्थान पदार्थ है क्योंकि अनेकविध विद्युत्गर्जनलक्षण शब्दको करता है, अतः इससे पुरूरवाका मेघ होना संगत मालूम पड़ता है। इसीप्रकार उर्वशी पदकी व्याख्याके पूर्व निरुक्त ११।२२ में लिखा है-अब मध्यस्थानीय स्त्री-देवताओंके नामोंकी व्याख्या की जाती है। पुनः अदितिसे लेकर रोदसी तकके पदोंकी व्याख्या की गई है। इसी प्रसङ्गमें उर्वशी पदकी व्याख्या भी ११।३५ में मिलती है। अन्तरिक्षमें रहने और बहुत गर्जनेवाला होनेसे पुरूरवा मेघ है तो उसकी पत्नी भी जो अन्तरिक्षस्थानीय देवता है, विद्युत् ही हो सकती है; कोई शरीरधारिणी ऐतिहासिक स्त्री नहीं। यजुः[2] २६।१० और[3] शतपथ ६।७।३।२ में मेघको गर्जनेवाला कहा गया है। ऋग्वेद १०।९५।१८ में पुरूरवाको ऐल कहा गया है। इस मन्त्रका देवता भी पुरूरवा ऐल ही है। वास्तवमें इलाका पुत्र होनेके कारण उसे ऐल कहा जाता है। संस्कृतसाहित्यमें ड-ल और र-ल के भेदको नगण्य मानकर उन दोनोंका अभेद ही माना जाता है। इससे र-ल और ड-ल एक ही ठहरेंगे। महेश्वरकृत टीकामें अमरकोष[4] ३।३।४२ पर इडा और इलाको एक ही माना गया है। इन दोनों शब्दोंके अर्थ जहाँ अन्य

They are compared to red line, meaning perhaps bright flashes of lightning followed by the lowing or bellowing of the thunder.

(१) पुरूरवा मध्यस्थानः ...... । सः कस्मात्? बहुधा रोरूयते । अनेकविधमत्यर्थं स्तनयित्नुलक्षणं शब्दं करोतीति पुरूरवा ।

(२) कनिक्रदद्देवः पर्जन्यः–यजु० ३६।१०

(३) क्रन्दतीव पर्जन्यः–शतपथ ६।७।३।२

(४) डलयोरैक्यात् इडा इलाश्च । अमरकोषः ३।३।४२

हैं; वहाँ जल भी है। निघण्टु ४।३ के भाष्यपर देवराज यज्वाने 'इरा'का[1] अन्न अर्थ दिखलाते हुये, उसके हेतुभूत उदक अर्थमें वहाँ पर प्रयुक्त हुआ माना है। अमरकोष ३।३।१७५ और यादवप्रकाशित वैजयन्तीकोष १।८ में इरा शब्द वाक् आदि अन्यार्थोंके साथ साथ जल अर्थमें भी पठित है। निरुक्त १०।८ पर स्कन्द माहेश्वर[2] लिखते हैं कि इरा अन्न है। उसके सम्बन्धसे तद्धेतुभूत जल भी लक्षित होता है। उणादिसूत्र २।२८ पर सिद्धान्तकौमुदीकारने भी इरा पद = वारि = जल अर्थ में माना है। निघण्टु १।१ में इरावत्य जलवाली होनेसे नदीके नामोंमें आया है। इससे भी इरा पदका जल अर्थ होना सिद्ध है। अमरकोष १।१।४६ की टीका करते हुये भानुजी दीक्षित लिखते हैं कि इरावान् शब्दका अर्थ समुद्र है। समुद्रसे उत्पन्न होनेके कारण ऐरावतको ऐरावत कहा गया है। यह ऐरावत वास्तवमें अभ्रमातङ्ग मेघ है और ऐरावती मेघकी भार्या होनेसे विद्युत् है। अभ्रमातङ्ग वास्तवमें गजाकार मेघका ही नाम है,। ऐरावत, जो प्रसिद्ध काल्पनिक गाथाओंमें इन्द्रका हाथी कहा गया है वह इरावान्=समुद्रसे उत्पन्न हुआ और चौदह रत्नोंमेंसे एक है, ऐसा माना जाता है। यह बात मेघपक्षमें ज्योंकी त्यों घट जाती है। अमरकोष १।१।४६ पर क्षीरस्वामी स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि बादलोंमें स्थित होनेसे अभ्रमातङ्ग कहा जाता है अथवा कई एक यह मानते हैं कि वह मेघ रूप ही है, अतः उसे अभ्रमातङ्ग कहते हैं। इरावान्का अर्थ समुद्र, ऐरावतका अर्थ मेघ तथा ऐरावतीका अर्थ विद्युत्, वाचस्पत्यकोष में भी माना गया है। वैजयन्तीकारने भी मेघाध्यायके चौथे श्लोकमें विद्युत्को ऐरावती कहा है। इसका अर्थ करते हुए गुस्तवआप्टेने इङ्गलिशमें इसका भाषानुवाद Lightning (विद्युत्) किया है। इन उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि इलाका अर्थ जल है और जलसे उत्पन्न होनेके कारण पुरूरवा मेघ ही है। शतपथ[3] ब्राह्मण ११।५।१।१७ में यह दर्शाया गया है कि 'पुरूरवा' गन्धर्वोंमेंसे एक था। वास्तविक रूपमें यदि देखा जाये तो इस वर्णनसे पुरूरवाका मेघ होना ही सिद्ध है; क्योंकि गन्धर्व शब्द भी मेघका वाची है और गन्धर्वोंमें एक होनेसे पुरूरवा भी मेघ ही ठहरेगा। सामवेद उत्तरार्चिक अ० २० के अन्तिम मन्त्रपर सायणका कथन है कि गन्धर्वका अर्थ है।—जलोंका धारक। ऋग्वेद १०।१२३।७ पर सायणने गन्धर्वका अर्थ उदकोंका धारक किया है। इसी सूक्तके ४ थे मन्त्रमें आये गन्धर्व पदका भी उसने ऐसा ही भाव लिया है। गन्धर्वका अर्थ ऊपर जहाँ मेघ सिद्ध किया गया वहाँ भाव यह भी दिखलाया जाता है कि अप्सराओंको गन्धर्वोंकी पत्नियाँ कहा गया है। अथर्ववेद[4] ४।३७।७ में गन्धर्वको अप्सरापति कहा गया है।

(१) इला अन्नमत्रान्नहेतुभूत उदके वर्त्तते—निघण्टु ४।३

(२) इरा अन्नं तेन सम्बन्धात् तद्धेतुभूतमुदकं लक्ष्यते—निघण्टु १०।८ स्कन्द टीका।

(३) (पुरूरवा) गन्धर्वाणामेक आस—श० ११।५।१।१७

(४) गन्धर्वस्याऽप्सरापतेः—अथर्व ४।३७।७

उसी जगह ४।३७।१२[1] में ऐसा कहा गया है कि हे ! गन्धर्वो ! अप्सरायें तुम्हारी जाया और तुम उनके पति हो। एक और स्थल पर अथर्व[2] में इसी प्रकारका वर्णन मिलता है। इन वर्णनोंसे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि गंन्धर्व मेघ है और अप्सरा उसकी पत्नी है। मेघ और विद्युत् का पति-पत्नि भाव तैत्तिरीय आरण्यक[3] ३।९।२ से भली प्रकार प्रकट है। कालिदासने मेघ[4] दूतके ५४ वें श्लोकमें ऐसी कल्पना करते हुये लिखा है कि हे मेघ ! तू चाहे हुये स्थानों पर विचर तुम्हारा विद्युत्के साथ क्षण भर भी वियोग न हो। इसमें "विद्युता" पद की व्याख्या करते करते हुये श्री कोलाचल मल्लिनाथने "कलत्रेणेतिशेषः" कह कर कलत्र पद का अध्याहार किया है। जिसका अर्थ है कि "विद्युत् पत्नीसे"। तैत्तिरीय संहिता[5] ३।४।७।२ में पर्जन्यको गन्धर्व और विद्युत्को उसकी पत्नी कें रूपमें वर्णन किया गया है। कादम्बरीमें महाश्वेता चन्द्रापीडको अपना वृतान्त सुनाते हुये कहती है कि इन अप्सराओंके[6] १४ कुल हैं। एक कुल अमृतमन्थनसे निकला है और दूसरा एक ऐसा भी कुल हैं जो कि सौदामिनी=विद्युतोंसे प्रवृत्त हुआ है। अमृत शब्द निघण्टु १।१२ में जल नाममें पठित है। विद्युत्से अप्सराओंकी उत्पत्ति कहनेसे यह और भी पुष्ठ हैं, कि एक प्रकारकी विद्युत् मेघस्थ विद्युत्से निकलती है। इस कादम्बरीके वाक्यसे कोइ मौलिक विचार भले ही न निर्धारित किया जासके परन्तु इतना तो अवश्य विदित होता है, कि अप्सराओंका वियुतसे सम्बन्ध है। ऋग्वेद १०।९५।१० मन्त्र जो निरुक्त ११।३६ में भी उद्धृत है, इस पर टीका करते हुये दुर्ग[7] लिखता है कि विद्युत् के समान अथवा विद्युत् रूप—उर्वशी अन्तरिक्षमें मेघोंके मध्य जाती हुई पुनः पुनः चमकती है; और जलोंको मेघोंसे गिराती हुई लोगोंको दीर्घायु प्रदान करती है।

(१) जाया इद् वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम्—अथर्व ४।३७।१२

(२) ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्यराभ्यः। अथर्व २।२।५

(३) पर्जन्यस्य विद्युत् (पत्नी) तैत्तिरीयारण्यक ३।९।२

(४) इष्टान्देशान् जलद ! विचर, माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः।

(५) पर्जन्यो गन्धर्वस्तस्य विद्युतोऽप्सरसः·········तैत्तिरीयसंहिता ३।४।७।२

(६) तासां चतुर्दश कुलानि। अन्यदमृतान्मथ्यमानादुत्थितम्। अन्यत् सौदामिनीभ्यः प्रवृत्तम्।

(७) विद्युन्न विद्युदिव संप्रत्ययें वा नकारः। या पतन्ती गच्छन्त्यन्तरिक्षे मेघोदरेषु दविद्योत्। पुनः पुनर्द्योतते भरन्ती हरन्ती मे मम स्वभूतानि अप्यानि काम्यानि उदकानि योर्वशी सा यदैवमुदकानि हरन्ती मेघेभ्यः पतन्ती भृशं स्वयं विद्योतते······प्रोर्वशी प्रवर्द्धयते दीर्घमायुः।

इसी स्थल पर टीकाकार स्कन्द[1] लिखते हैं कि विद्युत्के समान अथवा विद्युत्‌रूप स्तनयित्नु लक्षणा वाणीका अधिदेवता उर्वशी है। यहाँ पर दुर्ग और स्कन्द दोनों ही भाष्यकार "न" पदको उपमार्थीय तथा सम्प्रत्यर्थक मानते हैं। उपमाघटित करने पर विद्युत्के समान जो उर्वशी, ऐसा अर्थ होगा, परन्तु सम्प्रत्यर्थमें मानने पर विद्युत् ही उर्वशी है, यह भाव व्यक्त होगा। इस सन्दर्भमें जो बातें—उर्वशीके सम्बन्धमें कही गई हैं वे निःसन्देह विद्युत्में घटती हैं। सारे प्रकरणको मिलाने पर ज्ञात होता है, कि मेघोंमें चलना, वार वार चमकना, मेघसे जलोंको गिराना, तथा दीर्घायु प्रदान करना आदि उर्वशीके कार्य हैं; जो कि विद्युत्के ही कार्य हो सकते हैं—यह विना सङ्कोच माना जा सकता है। मन्त्रमें जो उर्वशीको आयु प्रदान करनेवाली कहा गया वह सर्वथा ठीक ही है। विद्युत् वृष्टि द्वारा अन्न प्रदान करती है और उससे प्राणियोंका भरण पोषण तथा जीवन-संरक्षण होता है। यही भाव ऐतरेय ब्राह्मण[2] २।४१. में भी प्रकट किया गया है। इसके अतिरिक्त एक अन्य वैज्ञानिक हेतुसे भी विद्युत्को दीर्घायु देनेवाली कहा गया है। वह यह कि ओजोन, जो कि जमी हुई या पुञ्जीकृत ऑकसीजन है,[3] वह भी एक शक्तिशाली और जन्तुनाशक पदार्थ है। वह वायुस्पर्शसे फैलनेवाले कीटाणुओंको नष्ट करती है। विजलीकी कड़कसे ओजोन अधिक मात्रामें उत्पन्न होती है। विद्युत्पातसे वायु इसे प्राप्त करती है और जब विद्युत्की कड़क समाप्त हो जाती है तो हम आराम और नवीन स्फूर्तिको[4] अनुभव करते हैं।

संस्कृत साहित्यमें वज्रका[5] पर्याय अशनि है और यह अशनि विद्युत्को कहा जाता है। जिस समय यह विद्युत्-सम्पात होता है उस समय रोगोत्पादक जन्तुओंका विनाश होता है। इस सत्यताको वैदिक वाङ्मयने भी स्वीकार किया है,

(१) विद्युदिव या उर्वशी स्तनयित्नुलक्षणाया वाचोऽधिदेवता। विद्युन्न या न शब्द उपमार्थत्वात्, सम्प्रत्यर्थे। अथवा स्वार्थ एव।

(२) विद्युद्वीदं वृष्टिमन्नाद्यं सम्प्रयच्छति।

(3-4) Ozone=Oxygen in a condensed or concentrated state (see page 248) is also a powerful germicide, capable of killing the germs which give rise to contageous disease. During a thunderstorm Ozone is produced in large quantity by the electric discharges and thus the air recieves as were a new lease of life and we feel the refreshing effects when the storm is over.

—(Electricity by W. H. Cormicks Page 23).

(५) विद्युद्वाऽशनिः। शतपथ ६।१।३।१४ तथा अमरकोष १।१।४७।

जो कि वर्त्तमान विज्ञानसे बहुत पूर्वका है । शतपथ[१] ब्राह्मण ७।४।१४ में वज्र = विद्युत्की कड़क के द्वारा राक्षस = रोगकारी जन्तुओंका विनाश होता है, यह स्पष्ट रूपसे दिखलाया गया है । ऋग्वेद[२] ५।८३।२ में यह दिखलाया गया है कि मेघ कड़कता हुआ वृक्षोंको नष्ट करता है और रोगोत्पादक जन्तुओं तथा बुरे प्रभावोंवाले क्रिमियोंका भी संहार करता है । पृथिवी आदि पर जितने प्राणी हैं, सब प्रसन्न हो उठते हैं । मन्त्रमे "स्तनयन्" पद पड़ा है, जो कि विद्युत्पातके समय होने वाली कड़कके भावको सूचित करता है । निघण्टु २।२० में दियुत् पद वज्रका पर्याय मालूम पड़ता है और इसका अर्थ अथर्व २।२।४ के भाष्यमें सायणने द्योतमाना (अप्सराः) किया है । उसी मन्त्रमें अप्सराको अभ्रिया, अर्थात् मेघमें रहनेवाली, कहा गया है । इससे भली भाँति व्यक्त है कि अशनि, वज्र और विद्युत् आदि पदोंसे विद्युत् अर्थ ही निकलेगा । यही वास्तवमें उर्वशी है । इसके पतनसे रोगकारी जन्तुओंका भी विनाश होता है । इनके अतिरिक्त कुछ और भी स्पष्ट प्रमाण दिये जाते हैं, जिनसे उर्वशी विद्युत् है यह भाव विशिष्टरूपसे सिद्ध हो जावेगा । निरुक्त[३] ५।१४। पर टीका करते हुये स्कन्दस्वामी लिखते हैं कि नित्यपक्षमें उर्वशी विद्युत्[४] है। आचार्य वररुचिने भी निरुक्त समुच्चय कल्प[५] ४ मं० १४वें के भाष्यमें कहा है कि, अन्तरिक्षमें व्यापक होनेसे उर्वशी विद्युत्का ही नाम है । स्कन्दने एक और स्थल पर लिखा है कि उर्वशी मध्यमस्थानीय विद्युत्[६] है । लौगाक्षि गृह्यसूत्र २५।१८ में "वारिवर्ण्ये 'अप्सराः' पर लिखते हैं कि वारिवर्ण्या विद्युत्[७] को कहते हैं और वह ऊपर मेघमण्डलमें रहती है । ऐसा ही भाव काठकगृह्यसूत्र[८] ४।१०वें मन्त्रसे व्यक्त होता है । इसे ही सौदामिनी भी कहा जाता है । सुदामाका अर्थ मेघ है । मेघजन्य होनेसे यह सौदामिनी है । अमरकोष[९] १।३।९ पर टीकाकार भानुदीक्षित कहते हैं कि मेघमें होनेसे विद्युत् का सौदामिनी ऐसा अपपाठ भी देखा जाता है । अमरकोषके उसी स्थल पर इसे अप्सराके भेदोंमें और विद्युत्के भेदोंमें भी माना गया है । इस सन्दर्भसे विद्युत् अप्सरा है और वह उर्वशी

(१) वज्रेणैवैतद्रक्षांऽसि नाष्ट्राऽपहन्ति । शतपथ ७।४।१।४।

(२) विवृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसः पर्जन्यः—स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः ।

(३) नित्यपक्षे तु उर्वशी विद्युत् वशिष्टोऽप्याच्छादित उदकसंघातः ।—निरुक्त ५।१४

(४) विशेषेण द्योतते इति विद्युत् उर्वशी—निरुक्त ५।१४

(५) उर्वशी विद्युत् । उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमश्नुत इति ।—कल्प ४ मं० १४

(६) उर्वशी मध्यस्थाना विद्युत् । —निरुक्त १०।४९ पर स्कन्द टीका ।

(७) या सा उपरि तिष्ठति वारिवर्ण्ये । अप्सराः । भाष्यं-वारिवर्ण्या तडित् । अप्सराश्च ताः इत्याहुः ।—लौगाक्षि २५।१८ ।

(८) काठकगृह्यसूत्र कैलण्ड–सम्पादित–अपेण्डिक्स ५ मं० १४ ।

(९) सौदामन्यप्सरोभेदे तडित्तद्भेदयोः स्त्रियाम् । —अमर १।३।९ । सुदाम्नि मेघे भवा । सौदामिनीत्यपपाठः ।—भानुदीक्षित टीका ।

आदि नामोंसे भी व्यवहृत होती है, यह स्पष्ट है। शतपथ[1] ब्राह्मण ३।४।१।२२ में स्पष्ट कहा गया है कि उर्वशी अप्सरा है और पुरूरवा उसका पति है। उन दोनोंके जोड़ेसे आयु नामक पुत्र उत्पन्न होता है। इससे पूर्व पुरूरवाको मेघ बतलाया जा चुका है। उर्वशी नाम विद्युत्का है। उन दोनोंसे उत्पन्न होनेवाला आयु भी वास्तवमें जल ही है, कोई व्यक्तिविशेष नहीं। निरुक्त[2] १०।४१ में आयुसे अयन, मनुष्य, ज्योति और उदक अर्थ लिये गये हैं, जो कि उर्वशी और पुरूरवाके भिन्न-भिन्न अर्थोंको लेकर सङ्गत होंगे। यहाँ पर जल अर्थ ही अभिप्रेत है। इस प्रसङ्गमें अधिक विस्तारमें न जाते हुये पूर्वोक्त प्रमाणोंसे यह निष्कर्ष निकालना ही श्रेयस्कर है कि उर्वशी विद्युत् है और पुरूरवा मेघका नाम है। यहाँ यह विशेष स्मरण रहे कि वैदिक देवता वा पद अनेक[3] पदार्थोंके वाची हैं, अतः इस नियमसे उर्वशी और पुरूरवाके अन्यार्थ भी, जैसा कि वैदिक-साहित्यमें मिलता है, हो सकते हैं, परन्तु यहाँ पर प्रक्रियाविशेषमें उर्वशी और पुरूरवा से विद्युत् और मेघ ही अर्थ लिया गया है।

अप्सरस्—द्वित्व

पहले दिखलाया गया कि पुरूरवा मेघ और उर्वशी विद्युत है अब यह विचार किया जाता है, कि इन अप्सराओं को अनेक स्थलों पर दो दो क्यों वर्णन किया गया है। इनके साथ यह दो की संख्या, वस्तुतः विद्युत् Positive और Negative अर्थात् धन और ऋण दो रूपोंमें रहती है, इसी भावको व्यक्त करनेके लिये दिखलायी गयी है। इस मेल का सम्बन्ध वैदिक साहित्यमें अनेक स्थलों पर[4] मिलता है।

(१) उर्वशी वाऽप्सराः, पुरुरवाः पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायत तदायुः।—शत० ३।४।१।२२

(२) आयोरयनस्य मनुष्यस्य ज्योतिषो वोदकस्य।—निरुक्त १०।४१

(३) विज्ञायते हि वायुः प्राण एव पूरुरवा इति।—निरुक्त १०।४६ पर स्कन्द—उर्वश्यसीति वाग्वा उर्वशी पुरूरवा असीति प्राण एव (मैत्र्यायणी ३।९।५) माता वा उर्वशी आयुर्गर्भः; पिता पुरूरवा (काठक २६।७ कपिष्ठल ४१।५) इसके अतिरिक्त पुरूरवाके सूर्यआदिं अर्थ भी हैं और उर्वशीसे स्त्री तथा अन्य अर्थ भी लिए जाते हैं।

(४) पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाऽप्सरसौ—यजुः, १५।१५; मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ '—यजुः, १५।१६; प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ—यजुः, १५।१७ विश्वाची च घृताची चाप्सरसौ—यजुः, १५।१८; उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ—यजुः, १५।४९; उग्रम्पश्या राष्ट्रभृच्च अप्सरसौ तैत्तिरीयारण्यक २।४।१; देवपत्नी अप्सरसौ—अथर्ववेद, ६।११८।३; उग्रंपश्ये उग्रजितौ...... अप्सरसौ—अथर्व, ६।११८।१; अप्सरसो मुष्काभ्याम् — तैत्तिरीय संहिता ५।७।१५।१; उर्वश्यप्सराः... उरुभ्यामश्नुते—निरुक्त ५।१३; द्वे अशनी—वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड सर्ग २७ श्लोक ९; वीयुर्तो कनीनकाभ्यां।—तेतीरीय संहिता ५।७।१२।१ इत्यादि।

उर्वशी और मित्रावरुण

वैदिक साहित्यमें उर्वशीकें साथ मित्र और वरुण के सम्बन्धका भी वर्णन मिलता हैं। उर्वशी अप्सराको देखकर मित्र और वरुणके रेतःस्कन्दका ग्रन्थोंमें भली प्रकार वर्णन मिलता है। उर्वशी और इनके सम्बन्धसे वसिष्ठकी उत्पत्ति मानी जाती है। जब उर्वशी अप्सराको पहले विद्युत् बतलाया जा चुका तो यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि—मित्र और वरुण क्या हैं? तथा उनका इससे क्या सम्बन्ध है? जिससे वसिष्ठकी उतपत्ति मानी गई है। उर्वशी तो विद्युत् है ही; मित्र और वरुण भी प्राण तथा उदान रूप दो वायुयें हैं। इन दोनों वायुवों द्वारा विद्युत्के सम्बन्धसे जलकी उत्पत्ति होती हैं। ऋग्वेद[१] ७।३३।११—१६ तकके मन्त्रों मे वसिष्ठकी उत्पत्तिका वर्णन मिलता है। यहाँ पर वसिष्ठको सम्बोधित करके कहा गया है कि हे वसिष्ठ। तू मित्र और वरुणका पुत्र है और उर्वशीके मनसे समुत्पन्न है। इसी बातपर प्रकाश डालते हुये यास्काचार्यने निरुक्त[२] ५।१३ पर लिखा है कि उर्वशी को देखनेसे मित्र और वरुणका रेतःपात होगया। रेतः शब्द भी निघण्टुमें जल अर्थमें पठित है, अतः यह भी एक वैज्ञानिक स्थितिको ही हमारे समक्ष उपस्थित करता है।

मित्र और वरुणको बतलाते हुये शतपथ[३] ब्राह्मण १।८।३।१२; ३।६।१।१६; ५।३।५।३४; १।५।१५।६; ३।२।२।१३ आदि स्थलों पर लिखा है कि प्राण और उदान ही मित्रावरुण हैं। वर्त्तमान विज्ञानमें यही शक्तियाँ ओक्सीजन और हाइड्रोजनके नामसे पुकारी जाती हैं। ऑक्सीजन जीवनके[४] लिये अत्यन्त—आवश्यक है। सब प्राणी इसीसे जीवित हैं। इसमें कोई स्वाद रंग या गन्ध नहीं होता। यह हवा और जल आदि पदार्थोंका एक भाग है। इससे जहाँ जीवनको सहारा मिलता है वहाँ प्रज्वालन आदि क्रियायें भी इसीसे होती हैं ग्रीक भाषाके Oxdeys शब्द जिसका अर्थ तीक्ष्ण होता है और Gen पद, जिसका अर्थ उत्पन्न करना है, से मिलकर बना है। दूसरा तत्त्व जो हाइड्रोजन है वह भी जलवाचक ग्रीक Hydor और Gen क्रियासे मिलकर व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ जलको उत्पन्न करनेवाला है। ये दोनों वायव्य, जब विद्युत्संचार द्वारा मिलाये जाते हैं, तब जलकी उत्पत्ति होती है, ऐसा वर्त्तमान विज्ञान स्पष्ट स्वीकार करता है।

(१) उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठ। ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः······ऋग्वेद ७।३३।११

(२) तस्याः (उर्वश्याः) दर्शनान्मित्रावरुणयोः रेतश्चस्कन्द—निरुक्त, ५।१३

(३) प्राणोदानौ वैं मित्रावरुणौं—शतपथ १।८।३।१२ प्राणोदानौं मित्रावरुणौं—शतपथ ३।२।२।१३

(४) Oxygen—this gas......is necessary for all forms of life, all animals, if deprived of it, dying at once. (Hygiene by Notter & Firth p. 2 सन् 1914)

जलोत्पत्तिमें इसकी मात्रा २" + १° के औसत पर मानी[1] गई है। प्राण और उदानमें उदानको वर्तमान विज्ञान और वैदिक साहित्य दोनों ही हल्की वायु स्वीकार करते हैं। योगदर्शन ३।३९ पर व्यासभाष्यमें[2] ऊपर को उठानेवाला होनेसे इसे उदान कहा है। इस स्थल पर टीका करते हुये वाचसपति मिश्रने भी ऐसा ही लिखा है। वर्तमान विज्ञान भी हाइड्रोजनको सबसे हल्की वायु मानता है। आकाशमें गुब्बारे चढ़ानेके लिये यह काम[3] आता है।

एक छिद्ररहित बड़े थैलेमें यह गैस भरली जाती है और हल्का होनेसे वह गुब्बारा आकाशमें चढ़ जाता है। थोड़े समय पूर्व पाश्चात्य वैज्ञानिक नक्षत्रोंके निरीक्षणमें इस गुब्बारे द्वारा आकाशकी यात्रा किया करते थे। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि मित्र और वरुण दो वायुयें हैं; जिन्हे हम प्राण और उदान कहते हैं, और ये ही वर्त्तमान में ऑक्सीजन और हाइड्रोजनके नामसे पुकारे जाते हैं। जब इन दोनोंके साथ विद्युत् (उर्वशी) का सम्पर्क होता है तब जल[4] की उत्पत्ति होती है। वसिष्ठ जलका नाम है,

(१) In the formation of water we know that two atoms of hydrogen combine with one atom of oxygen (Inorganic chemistry by E. C. C. Baly 1922)

(२) उन्नयनादुदानः । व्यासभाष्य ३ । ३९, अन्नयनादूर्ध्वनयनात्—वाचस्पति

(३) Hydrogen which is the lightest of all gases (Hygiene by Notter & Firth 1914 p. 4). Baloon–A large bag made of silk and filled with light gas, so that it takes a globular form. It's general appearance and use are well known from familiar observation. It rises in the atmosphere, because it's weight is less than the weight of air which it displaces .... It was invented by the two brothers Montgoalfier. They used ordinary air, made lighter than the surrounding atmosphere by heat, afterwards hydrogen gas was used which is only about one fourteenth the weight of air, bulk for bulk.

(Royal handbook of Science by J. Gall p. 22)

(४) Two volumes of hydrogen and one volume of oxygen combine together to form water..... .. It is simple enough to make the oxygen and hydrogen enter into combination with one another by passing an electric spark through the mixture. Combination takes place explosively that is to say, with evolution of large quantities of light and heat. (Inorganic Chemistry by E. C. C. Baly 1922 p. 30)

यह पूर्व लिखा जाचुका है। निरुक्त[1] ५।१४ पर स्कन्द टीकासे यह बात और भी भली प्रकार स्पष्ट है। मित्र और वरुण पदोंका समास करनेपर मित्रावरुणौ एक समस्त पद बनता है। उसमें ताद्धित प्रत्यय करनेसे मैत्रावरुण पदकी सिद्धि होती है। वसिष्ठके उत्पादक मित्रावरुण हैं, अतः वसिष्ठको वेदमें मैत्रावरुण कहा गया है। यद्यपि वैदिकसाहित्यमें—बादमें यह उत्पत्ति अलङ्काररूपसे वर्णितकी गई है, परन्तु यह वैज्ञानिक है इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं। वसिष्ठ जल है और मित्रावरुणका अपत्य होनेसे मैत्रावरुण कहलाता है। वैदिक भाषामें—अपत्य प्रत्यय जड़ पदार्थोंसे भी होते हैं। मित्र और वरुणका जलसे कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है; इससे वैदिक साहित्य भरा पड़ा है। ये दोनों महान् वैज्ञानिक शक्तियां हैं, जो कि जगत्में अपना महत्तम कार्यभाग पूरा कर रही हैं।

ऋग्वेद[2] १।१५२।७में मित्र और वरुणको वृष्टि प्राप्त करानेवाले पदार्थके रूपमें वर्णन किया है। ग्रिफिथने[3] भी वहाँ पर ऐसा ही अर्थ किया हैं। ऋग्वेद[4] ५।६९।२ में—इनके प्रभाव से मेघ और नदियोंसे मीठे जलकी प्राप्ति होना लिखा है। इस पर भाष्य करते हुये सायणने भी ऐसा ही अर्थ किया है। ऋग्[5] ५।६८।२ में मित्र और वरुणको "घृतयोनी" अर्थात् जलका कारण कहा गया हैं। घृत शब्द निघण्टु १।१२ में जल अर्थमें—पठित है। उसका कारण होनेसे मित्र और वरुणका घृतयोनी होना ठीक ही है। सायण[6]ने इस पर लिखा है; कि जो मित्र और वरुण हैं वे दोनों घृतयोनी=जलस्योत्पादकौ = जलोंके उत्पादक हैं। इसी प्रकार ऋग्[7] ५।६२।३ में इन दोनों शक्तियोंको वृष्टिको नीचेकी तरफ प्रेरित करनेवालेके रूपमें वर्णन किया गया है। पुनः ऋग ५[8]। ६२।४ और ७।६४।१ के मूल तथा तत्स्थलस्थ सायण भाष्यसे यह स्पष्ट है कि जल मित्र और वरुणके पीछे चलता है, उसके द्वारा चिरकालसे नदियाँ वहती हैं। यजुः[9] २।१६ में मित्र और

(१) वसिष्ठोऽप्याच्छादित उदकसङ्घातः— निरुक्त, ५। १५ स्कन्दटीका

(२) मित्रावरुणा······अस्माकं वृष्टिर्दिव्या सुपारा—ऋग्वेद १। १५२। ७

(३) God Mitra Varuna........may have rain from heaven to make us prosper

(४) वरुण!······मधुमत्तां सिन्धवो मित्र। दुहे······ऋग् ५। ६९। २ सायणभाष्यम्—हे वरुण! हे मित्र! युवयोराज्ञया······सिन्धवः स्यन्दनशीला मेघा नद्यो वा मधुमन्मधुरसमुदकं दुहे दुहन्ति।

(५),(६), या घृतयोनी मित्रश्चोभा वरुणश्च। ऋक् ५। ६८। २ सायणभाष्यम्—यौ मित्रश्च वरुणश्च उभा उभौ घृतयोनी उदकस्योत्पादकौ।

(७) अव वृष्टिं सृजतं जीरदानुं ऋक् ५। ६२। ३

(८) घृतस्य निर्णिगनुवर्त्तते वामुपसिन्धवः प्रदिवि क्षरन्ति। ऋक् ५। ६२। ४ सायणभाष्यम्—हे मित्रावरुणौ वां युवां घृतस्योदकस्य निर्णिगुप वामनुवर्त्तते अनुगच्छति।

(९) मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्याऽवताम्। यजुः २। १६

वरुणको वृष्टि द्वारा रक्षक बतलाया गया है। अथर्व ५।[1]१९।१५ में वर्षाको मित्र वरुण द्वारा उत्पन्न कहा गया है, और एक दूसरे स्थल पर उन्हें वृष्टिका अधिपति लिखा है। फिर ऋग्वेद[2] १।२।७ में मित्र और वरुणको जलोत्पादनरूपी कर्मका सिद्ध करनेवाला लिखा हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि मित्र और वरुण जलके उत्पादक हैं। इन्हीकी भाँति उर्वशीको भी जलकी निर्मात्री कहा गया है और ऋग् १०।[3]९५।१७ का मन्त्र इसमें प्रमाण स्वरूप है। इस मन्त्रमें उर्वशी को "रजसोविमानी" कहा गया है। रजस् शब्दका अर्थ लोक भी है और जल भी है। यहाँ पर जलका ही ग्रहण अभिप्रेत है, जो कि निरुक्त[4] ४।१९ से सिद्ध है।

जब रजस्का अर्थ जल हुआ तो उसकी "विमानी" रचनेवाली उर्वशी जलनिर्मात्री स्वयं सिद्ध है। यहाँ पर सायण ने भी इसी प्रकारका अभिप्राय लिया हैं। अन्ततोगत्वा प्रकरणको समाप्त करते हुये यह परिणाम सरलता से निकाला जा सकता हैं कि वेदमें अनेकार्थोंका वाचक होते हुये भी अप्सरस् शब्द प्रकियान्तरमें विद्युत्का वाचक है। उर्वशी आदि व्यक्तियें भी विद्युत् वा तत्सम्बन्धी पदार्थ हैं। पुरूरवा मेघ है और उसका विद्युत्से साक्षात् सम्बन्ध है। गन्धर्व पद भी मेघका वाचक है। मित्र और वरुण दो वायव्य हैं और इनका उर्वशीसे सम्बन्ध होनेसे जलकी उत्पत्ति होती है।

(१) वर्षं मैत्रावरुणम् ।— अथर्व ५। १९। १५, मित्रावरुणौ वृष्ट्याऽधिपतीः—अथर्व, ५। २४। ५

(२) मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता ऋग् १। २। ७

(३) अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीम् ।—ऋक् १०। ९५। १७

(४) उदकं रज उच्यते।—निरुक्त ४। १९

११

देवता

कई विचारणीय वैदिक विषयों में देवतावाद भी एक है। वैदिकसाहित्य में यह विषय जितना महत्त्वपूर्ण है उसकी दृष्टि से इस पर विचार सामग्री बहुत थोड़ी समुपलब्ध होती है। निरुक्त, अनुक्रमणी, बृहद्देवता, ब्राह्मणग्रन्थ और मीमांसा तथा एक अन्य ग्रन्थ जिसका नाम नीति-मंजरी है, आदि इस विषय पर प्रकाश डालते हैं, परन्तु निरुक्त को छोड़कर अन्य यत्किञ्चिन्निर्देश ही करते हैं। केवल निरुक्त में इसे विस्तार दिया गया है, वह भी इस धारणा से कि निरुक्त के अन्य प्रयोजनों में देवता-निर्णय भी एक प्रयोजन है। निरुक्त में निघण्टुगत पदों की जहां नैघण्टुक और नैगम काण्ड में व्याख्या की गई है, वहां दैवतनिर्णयार्थ दैवतकाण्ड में देवतावाचक पदों पर भी विचार किया गया है। परन्तु इतने विचार के उपरान्त भी यह नहीं कहा जा सकता है कि अब इसके आगे अधिक और कुछ नहीं।

आज से कुछ वर्ष पूर्व आर्यसमाज में विद्वानों ने इस पर बड़े जोरों से चर्चा उठायी थी परन्तु निर्णय क्या हुआ ? यह आर्यजगत् और सुधीवर्ग भली प्रकार जानते हैं। केवल आर्यमित्र में दो चार गर्मागर्म लेखों के अन्य कुछ परिणाम सामने नहीं आया। हां लेखकों ने एक दल के रूप में परस्पर एक दूसरे पर कटु शब्दों के प्रयोग अवश्य किये। इसके उपरान्त कुछ एक विद्वानों ने ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशन् के न्यायानुसार अनेक प्रसङ्गों में विषयस्पर्श अवश्य किया परन्तु एकाङ्गी दृष्टि से। किन्हीं ने थोड़ा प्रकाश डालकर विषय को अपने आगामी जीवन में लिखे जाने वाले ग्रन्थ पर छोड़ दिया। क्या ही अच्छा होगा कि ग्रन्थरूप में विषय विद्वानों के समक्ष आजावे। सभी आर्य-विद्वानों की आशाभरी दृष्टि ऐसे अमूल्य ग्रन्थों की ओर लगी है।

अस्तु! अब तक इस विषय पर जो कुछ भी लिखा गया वह स्वल्प और एकाङ्गी है। वेदमन्त्रोंका प्रतिपाद्य विषय देवता है और वह परिवर्तनीय है, इतने मात्र से विषय स्पष्ट नहीं होता। आचार्य दयानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में इस विषय पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है परन्तु वह सर्वसाधारणगम्य नहीं। यही कारण है कि कई लेखकों ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठों का उद्धरण तो अवश्य दिया है परन्तु ऋषि के भाव और मत को स्पष्ट करने में वे भी सफल रहें या असफल, यह कहना एक विवादात्मक और कटु तथा अत्यन्त नग्न तथ्य का उद्घाटन करना होगा।

अतः यह आर्यविपश्चितों पर ही छोड़ा जाता है। यहां पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि जिसने इस विषय पर जो कुछ भी लिखा वह धन्यवाद का पात्र है, उसका प्रयत्न स्तुत्य है।

धारणा का मूल

प्रत्येक कार्य किसी न किसी धारणा से किया जाता है और वह धारणा भी किसी न किसी मूल से ही निकलती है। इसी प्रकार यदि दैवतविचार की कोई धारणा बनी तो उसका मूल भी होना ही चाहिये। उस मूल को इस शीर्षक में ढूंढ़ कर दिखलाने का प्रयत्न किया जावेगा। लोक में जब कोई वाक्य बोला जाता है तो उसका कुछ न कुछ अर्थ, प्रयोजन अथवा विधेय विषयरूप से हुआ करता है। जिस प्रकार हमारे वाक्यों में यह नियम है उसी प्रकार वेदवाक्यों में भी मानना पड़ेगा। यदि एक पढ़े लिखे लौकिक पुरुष के वाक्य का अर्थ और विषय है तो परम आप्त सर्वज्ञ परमेश्वर के वाक्य वेदमन्त्रों का भी कोई न कोई अर्थ और विषय अवश्य होगा। ऐसा तो हो नहीं सकता कि वे अनर्गल प्रलाप हों। इसी दृष्टि से वेद में मन्त्रराशि का निरीक्षण कर एक विशेष धारणा बनायी गयी। वास्तव में वेद की संहितायें मंत्रमय हैं। मन्त्र भी छन्दः, वर्ण, पद, वाक्य और अर्थ से युक्त हैं। यदि मन्त्रों का अर्थ और विषय ज्ञात नहीं तो वास्तव में उनसे केवल शब्दों के कण्ठस्थीकरण से कुछ विशेष लाभ नहीं होता। विना अर्थ को जाने केवल मन्त्रपाठमात्र कुरान के हाफ़िज़ लोगों के हिफ्ज़ के समान है अन्य कुछ नहीं। कर्मकाण्ड के लिये यद्यपि मन्त्रों का स्मरण और पाठ उपादेय है परन्तु वह भी विनियोगात्मक और दैवत अर्थकी अपेक्षा रखता है। अर्थज्ञान के विना केवल पाठ का विशेष लाभ नहीं। इस बात पर बल देते हुये ऋ० १। १६४। ३६ में स्पष्ट घोषित किया गया है 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति= अर्थात् नाना देवता वाले मन्त्रों में ओम रूपी अर्थमयी वाक् जो व्याप्त है उसको न जान कर केवल ऋचा से क्या लाभ उठायेगा। आचार्य यास्क ने वाणी की अतिस्तुति में इस मन्त्र को देकर वास्तव में अच्छा सन्दर्भ लगाया है। बहुधा याज्ञिकगण मन्त्र-पाठ को अधिक महत्त्व देते थे, अतः ऐसे मंत्र का उद्धरण देकर आचार्यों को अर्थज्ञान की महत्ता दर्शानी पड़ी। यास्क ने एक और स्थान पर निरुक्त १।१८ में अर्थज्ञान की महत्ता बतलाते हुये यह लिखा है कि जो पढ़कर उसके अर्थ को नहीं जानता वह स्थाणुवत् मूढ और पोथियों का भार ढोने वाला है। आगे चलकर वह कहता है कि ऐसा व्यक्ति केवल बनावट से विद्वान् बना गर्जता है जो वेदवाणी को उसके पुष्प और फल के विना ग्रहण किये है। यास्क का यह अभिप्राय ऋ० १०।७१।५ के मन्त्र के एक खण्ड "वाचं शुश्रुवान् अफलामपुष्पाम्" का अर्थमात्र है। कात्यायन को भी इस भाव के अनुरूप ही कहना पड़ा कि दैवत और आर्ष को विना जाने हुए जो

मन्त्र का अध्ययनाध्यापन करता है वह वास्तव में गर्त में गिरता है। जब इस प्रकार यह आवश्यक है कि मन्त्र का कोई न कोई अर्थ और विषय अवश्य हैं तब यह सोचना पड़ा कि वह अर्थ और विषय क्या है। परमेश्वर ने इस सृष्टि के आरम्भ में जब वेद का ज्ञान दिया तो वह मंत्रराशिरूप में था। उस समय इसे प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को इस का अर्थ आदि उनकी योग्यताविशेष के कारण साथ ही मिला। यह नियम देखा जाता है कि कभी पूरा सन्दर्भ, जो वाक्यों का समूह है, अर्थ के साथ साथ प्रस्फुरित हो जाता है और कभी पद, पदार्थ, वाक्यार्थ, उद्देश्य, विधेय और प्रकरण के पर्या-लोचन से विदित होता है। जब मन्त्रराशि संहितारूप में प्राप्त होगई तो उसके अर्थ आदि का विचार और विश्लेषण प्रयोगात्मक उद्देश्य से होने लगा। इस विश्लेषण ने मन्त्र की स्थितियों को भली प्रकार खोलकर सामने रख दिया और बहुत से मन्त्रों में ही अर्थ, दैवत आदि की महत्ता दिखलाई पड़ने लगी। जब आचार्यों ने मन्त्रराशि के विश्लेषण से उन मन्त्रों में देखा कि सभी मंत्रों के अर्थ, विषय, प्रकरण आदि हैं तो उन्होंने इन की संगति पर दृष्टि से विचार प्रारम्भ किया और मन्त्रों के देवता आदि की धारणा बनायी। उन्होंने देखा कि सर्वज्ञ प्रभु का दिया ज्ञान सर्वाङ्गपूर्ण और रहस्यमय है। इसको जानने के लिये यह दैवत आदि की धारणा उपयोगी है। वास्तव में संहितारूप में प्राप्त मन्त्रराशि पाकर भी कोई व्यक्ति जब तक उस के ओर छोर को न पावे क्या प्राप्त कर सकता है। परन्तु विचार करने पर पता चला कि संहिता में भी प्रकरण और विषय आदि निहित हैं। और वे हैं भिन्न भिन्न देवता तथा उनका उन्नायक प्रकरण-चतुष्टय। इस प्रकार मंत्रों के प्रयोग में लाने की चिन्ता ने अर्थविचार की ओर अग्रसर किया और अर्थविचार ने विषय जो प्रकरणचतुष्टयसे निर्धारण करने योग्य है की ओर पहुंचाया। इससे दैवतधारणा बनी और इसका भी मूलमन्त्र से ही समुपलब्ध हुआ, कहीं बाहर से नहीं। "बृहद्वदेम विदथे सुवीराः" इस मन्त्रभावना ने कल्पनिर्माण द्वारा प्रयोग का पाठ पढ़ाया। प्रयोग की सिद्धि अर्थ और दैवत बिना नहीं अतः उसकी चिन्ता परमावश्यक है, इस उदात्तभावना की प्रेरणा ऋग्वेदीय (१।१६४।३९) "यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति और वाचं शुश्रुवान् अफलामपुष्पाम्" (ऋ० १०।७१।५) आदि मन्त्रों ने दी। इन्होंने जहां अर्थ पर बल दिया वहां यह भी बतलाया कि वह अर्थ वास्तव में है क्या। इनमें से प्रथम मंत्र ने अर्थ का स्पष्टीकरण करके यह बतलाया कि मन्त्र नाना देवताओं से युक्त है और उनमें ओमूरूपी वाणी, जो सबका देवता है सर्वत्र ओत-प्रोत है। दूसरे मंत्र ने फल और पुष्प के नाम से उसे दर्शाया। मंत्रवाणी के पुष्प और फल क्या हैं—यज्ञ और देवता अथवा देवता और अध्यात्म। यहां पर यह दो प्रकार का वर्णन दृष्टिभेद से समझना चाहिये। इसी प्रकार वेदों में कई मंत्रों में यह भाव दिखलाया गया है कि परमेश्वर प्रशंसनीय मन्त्रों का उपदेश करता है जिन मे ही सारे देवतावें ने अपना घर बनाया है। अर्थात् मन्त्रों में सारे देवता स्थित हैं अथवा मन्त्र देवतामय हैं।

देवता-ज्ञान की कुञ्जी

ऊपर यह भाव व्यक्त किया गया कि दैवत धारणा के मूल वे मन्त्र हैं जो अर्थ विचार की प्रेरणा करते हैं। यदि अर्थ मन्त्रों का ज्ञात हो जावे तो दैवत भली प्रकार ज्ञात हो सकता है क्योंकि वही तो अर्थरूप में भासमान हो रहा है। यहां इन पंक्तियों में यह देखना है कि अर्थ का परिज्ञान होता कैसे है। संहितारूप से प्राप्त मन्त्रों का अर्थ करना और दैवत समझना बिना साधनविशेष के वैसा ही है जैसा कि अगाध समुद्र में बिना साधन के डूबना। फिर साधन विशेष क्या हैं जिनसे पूर्वोक्त बातों का परिज्ञान और निश्चय हो सकता है। समाधान होगा कि वह है प्रकरणचतुष्टय। मन्त्रों के प्रकरण से दैवत आदि अर्थोंका निश्चय होता है। प्रकरण भी मन्त्रों का चार प्रकार का है—यज्ञ, दैवत, अध्यात्म और इतिहासानुप्रवेश। दूसरे शब्दों में ये हैं यज्ञ, देव, अध्यात्म और आख्यान=नित्य संवाद। सर्वसाधारणगम्य तांत्रिकी परिभाषा में इसे आधि-याज्ञिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक और ऐतिहासिक प्रक्रिया कहा जाता है। ये प्रक्रियायें ही मन्त्रों के प्रकरण हैं। प्रकरण और प्रक्रिया थोड़े भेद के साथ समानार्थक हैं। इन्हीं को दर्शन नाम से भी कई आचार्यों ने पुकारा हैं। ये ही मन्त्रों में अर्थ करने की दृष्टियें हैं। इन्हीं से मन्त्रों के निर्वचन होते हैं। कहीं मन्त्र यज्ञ प्रकरण से संबद्ध हैं; कहीं दिव्य पदार्थों, कहीं अध्यात्म और कहीं आख्यान की गति से रूपात्मक नित्य इतिहासों से बंधे हैं। इन प्रकरणों के अनुसार ही देवता की कल्पना या निश्चय किया जाता है। यज्ञ की दृष्टि से मन्त्रों का देवता यज्ञ और विभिन्न अङ्ग होते हैं। अधिदैवत की दृष्टि से अग्नि, वायु, सूर्य तथा उनके त्रिस्थानीय सहचारी विविध पदार्थ देवता होते हैं और अध्यात्म की दृष्टि से आत्मा परमात्मा आदि। आख्यान की दृष्टि से इन्ही प्रकरणों में से देवता मान कर व्यक्तिवत् उसे दिखला कर चेतन की भांति रूपक से वर्णन किया जाता हैं जैसा कि सामान्य मेघ सूर्य, नदी, विद्युत् परम आत्मा आदि शब्दों के स्थान में वृत्र, इन्द्र, विपाट् शुतुद्री, देवापि, और विश्वकर्मा आदि पदों का प्रयोग मन्त्रों में देखकर उसी के अनुरूप उपमार्थक आख्यानों द्वारा विषय कीं कल्पना कर वर्णन किया जाता है। देवता-विषयक सारा प्रपंच इन्हीं प्रकरणों के आधार पर चलता है। मन्त्र भी दो श्रेणियों में विभक्त पाये जाते हैं। सारी संहितावों में कुछ मन्त्र तो ऐसे हैं जिनमें देवतावाचक नाम पाए जाते हैं और कुछ ऐसे हैं जिनमें ऐसा चिन्ह नहीं पाया जाता। देवतावाचक नामों से युक्त मन्त्रों को आदिष्टदेवताक कहा जाता है और उनसे रहितों को अनादिष्टदेवताक। पहली संज्ञा वाले मन्त्रों में दैवतनिर्णय की परीक्षा साधारण रूप से ही करनी पड़ती है क्योंकि उनमें कोई विशेष कठिनाई इस विषय की नहीं है। हां जहां यह निर्णय करना पड़ता

है कि एक मन्त्र में अनेक देवतावाची नाम आए हों तो उनमें अमुक मुख्य और अमुक गौण या आनुषङ्गिक है, तब परीक्षा का प्रश्न उठ जाता है। परन्तु अनादिष्ट देवता वाले मंत्रों में परीक्षा बहुत करनी पड़ती है। क्योंकि सभी प्रकरणों के अनुसार विचार कर देवता का निर्णय करना पड़ता है। सर्वज्ञ द्वारा दियें गए ज्ञान में न्यूनता तो हो नहीं सकती और न यह ही हो सकता है कि उसके द्वारा दिये गए मंत्रों का कोई विषय नहीं, जो जैसा चाहे बना लेवे। फिर प्रश्न यह रह जाता है कि आदिष्टदेवता मंत्र तो सभी प्रकरणों में विषय से बंधे है, उनमें कोई विचारणीय बात नहीं परन्तु अनादिष्टदेवताक मंत्रों को बिना विषय के कैसे उसने दिया। विषय तो उनका भी कोई होना ही चाहिए जो मंत्र का प्रतिपाद्य विषय कहा जा सके। अन्यथा सर्वज्ञ के दिये ज्ञान में अनिश्चय और अपूर्णता की त्रुटि आवेगी और यह किसी प्रकार भी संभव नहीं कि पद, वाक्य और छन्दों से युक्त मन्त्र केवल निरर्थक आंय बांय सांय मात्र हों। उनका विधेय तो कुछ न कुछ होना ही अवश्य चाहिए। इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि सर्वज्ञ का ज्ञान और उसकी रचना भी व्यापक हैं। उसकी सीमा बहुत और उसका क्षेत्र विस्तृत है संकुचित नहीं। उसकी रचना में विषय वर्णन कहीं पदार्थ का नाम लेकर, कहीं रूपक या स्वरूप से, कहीं कर्म से और कहीं सम्बन्ध से पाया जाता है। जिनमें ये स्पष्ट भान होते हैं वे मन्त्र समझना चाहिये कि विषयनिर्देश सहित रचे गए और जिनमें स्पष्ट भान नहीं होते वे व्यापक विषय से सम्बद्ध मानकर निर्मित किये गए। जिनमें विषय आदिष्ट हैं उनके पदों का सम्बन्ध विषय के साथ जुड़ जाता है और वे नाम आदि से युक्त कहे जाते हैं। जिनमें विषय पद नहीं आदिष्ट हैं उनके पदों का सन्निवेश गुणवाचक भावों की दृष्टि से किया गया है। अतः मंत्रों को दो विभागों में रखा जाता है—एक आदिष्ट देवता नाम वाले और दूसरे गुण पदों वाले। इन गुण पदों वाले मंत्रों में किसी देवता को युक्तिसंगत ढंग पर विषय रूप में निश्चत कर लेने पर उस विषय के साथ अन्वय खा जाते हैं और उन्हें पूर्वोक्त प्रकरणों में किसी विषय के वर्णन से सम्बद्ध किया जा सकता है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद ४।५८।३ का मन्त्र 'चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा, आदि दिया जा सकता है। इस मंत्र में 'महान् देवः' ये गुणपद देवतावाचक पद के स्थान में पड़े हैं। इनके साथ किसी प्रकरणगत जिस विषय को रख लिया गया उसके ये विशेषण बनकर अन्वित होगए। यही कारण हैं कि यास्क ने और गोपथब्राह्मणकार ने इसमें यज्ञ विषय को लगाया, महाभाष्यकार ने शब्द विषय लगाया, तथा सर्वानुक्रमणी और ऋषि दयानन्द ने दूसरे विषय लगाये, और मंत्रगत महान् देवपद सब के साथ संगति खाता गया। अस्तु! यह मन्तव्य है कि प्रकरण देवता-ज्ञान में सहायक हैं; अतः वे ही दैवत-ज्ञान की कुञ्जी कहे जा सकते हैं।

दैवत-लक्षण

लक्षण से वस्तु की सिद्धि होती है, अतः देवता का लक्षण करना आवश्यक है। पूर्वोक्त प्रकरणों को दृष्टि में रखकर आचार्यों ने बहुत विचार के बाद देवतापदार्थ का लक्षण किया है। दृष्टिभेद के कारण देवतावों में भेद भी पाया जाता है और उसी के अनुसार लक्षणों की संगति भी लगती है। यास्क ने देवता का लक्षण करते हुए लिखा है कि 'ऋषि जिस अर्थ के वर्णन की कामना करता हुआ जिस देवता में अर्थ का स्वामी होने के भाव की इच्छा कर स्तुतिप्रयोग या वर्णन करता है, उस देवता-वाला वह मंत्र होता है। उसके वाक्य ये हैं:— यत्काम ऋषिर्यस्याम् देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तद्दैवतः स मंत्रो भवति। बृहद्देवताकार ने भी ऐसे भाव का यह वाक्य लिखा है कि—अर्थमिच्छन् ऋषिर्देवं यमाहायमस्त्विति, प्राधान्येन स्तुवन् भक्त्या, मन्त्रस्तद्देव एव सः। बृ० १।६। कात्यायन सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि "यस्य वाक्यः स ऋषिः, या तेनोच्यते सा देवता। २।४। अर्थात् जिसका वाक्य है वह ऋषि और जो उस ऋषि वा वाक्य से कहा जाता है वह देवता है। इस पर षड्गुरु शिष्य ने वेदार्थदीपिका में लिखा है कि "तेन वाक्येन यत्प्रतिपाद्यं वस्तु सा देवता" अर्थात् उस वाक्यं से जो प्रतिपाद्य वस्तु है वही देवता है। अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणिका (१) में उसी पूर्वोक्त भाव को इस प्रकार वर्णन किया है—यत्काम मन्त्रद्रष्टा वा भवति' यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छता स्तुतिः प्रयुज्यते-इत्यादि। मीमांसा में अपि वा शब्दपूर्वकत्वाद्यज्ञकर्म प्रधानं स्याद् गुणत्वे देवताश्रुतिः।६।१।४ में शब्द का यज्ञ से सम्बन्ध मान कर हवि का उस के साथ सम्बन्ध होने से शब्द को देवता माना है। भाष्यकारों ने प्रसंगतः इस विषय की पुष्टि भी की है। शबरस्वामी ने अपने भाष्य में देवताभिधानाधिकरण में मीमांसा के आशय को लक्षणान्वित करते हुए लिखा है कि जिसका शब्द हवि से और उस के अर्थ से सम्बन्ध खाता है वह देवता है। उस के शब्द इस प्रकार हैं—यस्य हविषा तादर्थ्येन सम्बध्यते सा देवता शबर भाष्य १०।४।२३। शतपथ ब्राह्मण ६।४।२।१५ में लिखा है यस्यै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यते" अर्थात् जिस के लिए हवि दी जावे वही देवता कहलाता है जिस के लिये नहीं वह नहीं। ब्राह्मणों में अन्य स्थलों पर इस विषय में ये वाक्य और मिलते हैं—यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता तद्यजुः (श० ६।५ १।२+७।५।१।४) अथो खल्वाहुर्यस्यै कस्यै च देवतायै पशुरालभ्यते सैव मेधपतिरिति ऐ० २।६, देवतैव मेधपतिरिति-कौ० १ ।४। इन वाक्यों से यह ज्ञात है कि यज्ञ का देवता है और वह है जिसके लिए पिष्टाक=पुरोडाश या आहुतियें दी जाती हैं। शतपथ का वाक्य यह विशेष बतलाता है कि जिस के लिए ऋचायें और यजुः कहे गये हैं वह देवता ही देवता है, वह ऋग् वही देवता है और वह यजुः भी। यह संक्षेप से लक्षण हुआ।

लक्षणसंगति और विचारभेद

लक्षण तो जो ऊपर कहे गए वे ही शास्त्रों के परिशीलन से समुपलब्ध होते हैं परन्तु उनकी संगति के साथ पल्लवन में आचार्यों के मतभेद पाये जाते हैं। इस शीर्षक में उनका दिग्दर्शन कराया जावेगा।

यास्क-जैसा कि लक्षण शीर्षक में पूर्व कहा गया है यास्क ने उस लक्षण से दैवतपदार्थ का लक्षण किया। साथ ही उसने दैवतकाण्ड नाम से अपने ग्रन्थ में इस विषय पर विशद विचार किया है। इस से बढ़कर विचार दैवतविषय पर अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। यास्क ने इस काण्ड का उपोद्घात तो निरुक्त के उद्देश्यनिरूपण में ही कर दिया, जबकि उसने लिखा कि निरुक्त के बिना दैवत-ज्ञान नहीं हो सकता। यास्क का यह लक्षण साधारणतया आदिष्टदेवताक मन्त्रों के देवताओं का लक्षण करने वाला कहा जाता है। सभी भाष्यकारों ने इसे स्वीकार किया है। वह इस लक्षण के साथ ऋचावों का भेद बतलाता हुआ थोड़ा सा प्रकाश प्रकरण पर भी डालता है। आगे चलकर यास्क ने अनादिष्टदेवताक मंत्रों में देवतानिर्णय का विचार चलाया है। इस में वह बतलाता है कि ऐसे मंत्रों में देवतानिर्णय का प्रकार यह है कि जिस यज्ञ में वे मंत्र विनियुक्त होते हैं उस देवता वाले ही वे हो जाते हैं। जैसे अग्निष्टोम आग्नेय है अतः उस में प्रयुक्त अनादिष्टदेवताक मन्त्र आग्नेय हो जावेंगे। अर्थात् अग्निष्टोम का देवता अग्नि ही उनका भी देवता हो जावेगा। अथवा दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि जिस देवता के निमित्त प्रधानता से हवि दी जाती है उस देवता वाले वे मंत्र हो जाते हैं। हवि के प्रधान देवता इन्द्र अथवा महेन्द्र हैं अतः अनादिष्टदेवताक 'इषे त्वोर्जे' तथा अन्य मन्त्र ऐन्द्र अथवा माहेन्द्र समझे जावेंगे। अर्थात् ऐसे मन्त्रों का देवता इन्द्र अथवा महेन्द्र होगा। जिस यज्ञाङ्ग में ऐसे मंत्र प्रयुक्त होते हैं वह यज्ञाङ्ग भी इन मन्त्रों का देवता हो जाता है।

उदाहरणार्थ-प्रातःसवन में जो मंत्र विनियुक्त हैं उन का अग्नि, माध्यन्दिन सवन में विनियुक्तों का इन्द्र और तृतीय सवन वालों का आदित्य देवता है, क्यों कि इन यज्ञाङ्गों के ये ही देवता होते हैं। इसी प्रकार अन्य यज्ञाङ्गों के विषय में भी समझना चाहिये। यज्ञ से अतिरिक्त अर्थात् संध्या-वन्दन, श्रावणी, उपाकर्म आदि में प्रयुक्त मंत्र प्रजापतिदेवताक होते हैं। क्यों कि प्रजापति अनिरुक्त है अतः इस साम्य से अनिरुक्तदेवताक मंत्रों का देवता प्रजापति समझना चाहिये। यह मत याज्ञिकों का है। नैरुक्तों के मत में इस प्रकार के अनादिष्टदेवताक मंत्र नाराशंस देवता वाले होते हैं। नराशंस का अर्थ निरुक्त ८।६ के अनुसार कात्थक्य के मत में यज्ञ है और शाकपूणि के मत में अग्नि है। यज्ञ नाम

विष्णु का है । अतः ऐसे मंत्रों का देवता अग्नि अथवा विष्णु है, यह नैरुक्तों का मत है । अथवा इन मंत्रों का कामदेवता है अर्थात् इच्छा से इनकी कल्पना कर लेनी चाहिये। अथवा इन्हें विश्वेंदेवाः देवता वाला समझना चाहिये । लोक में अनेक प्रकार का व्यवहार पाया जाता है । यह सामग्री पितृदेवत्य है, यह देवदेवत्य है, इत्यादि से बची हुई जिस का कोई निर्देश नहीं, वह सर्वसाधारण हो जाती हैं । विशेष निर्देश से रहित वस्तु सर्वसाधारण होती है । इसी प्रकार जिन मंत्रों में देवता का विशेष निर्देश है वें उस देवता वाले हैं, परन्तु जिन में नहीं वे सर्वसाधारण होने से वैश्वदेव हैं, यह मतान्तर है । इस प्रकार यज्ञ देवता, यज्ञाङ्गदेवता, प्रजापतिदेवता, नराशंसदेवता, कामदेवता, और विश्वदेवदेवता होते हैं, अनादिष्टदेवताक मंत्रों के यह यास्क ने दिखलाया। इन में यज्ञ से अन्यत्र के विषय में चार मत हैं, क्योंकि यज्ञ और यज्ञाङ्ग के विषय में किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं । चारों में नराशंसदेवताक पक्ष नैरुक्तों का है। अन्य मतों को दिखलाते हुए यास्क ने " याज्ञदैवतो मंत्रः " इस कथन से नैरुक्तों के पक्ष को उपसंहृत किया । इस का आशय यह है कि ऐसे मंत्रो का देवता विष्णु अर्थात् सूर्य और अग्नि है । यज्ञ से विष्णु का अर्थ लिया जाता है । विष्णु वैदिक साहित्य में सूर्य है अतः सूर्यदेवता इन मंत्रों का होगा । देवता पद से वैदिक साहित्य में अग्नि लिया जाता है क्योंकि वही सब देवताओं का देवता है, अतः पूर्वोक्त मंत्र अग्निदेवताक होंगे । यह नैरुक्तों का पक्ष है ।

पूर्व कहे गये देवता-लक्षण को मानने पर औषधि आदि जड़ और अश्व आदि पदर्थों की यज्ञ में वेदमंत्रों से स्तुतियां माननी पड़ेंगी, यज्ञ का देवता लक्षण के अनुसार वह होना चाहिये जो चाहे हुए अर्थ का पति बनने की क्षमता रखता हो, परन्तु इन ओषधि आदिकों में यह सामर्थ्य पाया नहीं जाता, अतः पूर्व लक्षण (यत्काम ऋषिः) की संगति नहीं लग सकेगी ? यह एक प्रश्न था जिस का समाधान यास्क ने यह किया कि वहां उन मंत्रो में इन आगन्तुक पदार्थों को स्तुति नहीं माननी चाहिए बल्कि सर्वात्मा परमेश्वर की स्तुति माननी चाहिये । उस की महिमा महान् है अतः सब देवों के देव उस महान् आत्मा की ही स्तुति इन भिन्न पदार्थों की स्तुतियों से लेनी चाहिये ।

उस एक महान् आत्मा के ही ये नामधेय हैं । आत्मविदों के पक्षमें एक परमेश्वर हीं सब मंत्रों का देवता है । नैरुक्तों के मत में अग्नि, वायु और सूर्य ये तीन ही देवता हैं । यद्यपि देवता अनेक हैं । परन्तु नैरुक्तों की यह त्रित्वकल्पना स्थान की दृष्टि से है । अग्नि का पृथिवी स्थान, वायु का अन्तरिक्ष और सूर्य का द्यु स्थान है । ये ही इन तीनों स्थानों के मुख्य देव हैं । चूंकि अधिदेव दृष्टि से सृष्टि इन तीन स्थानों से ही सम्बद्ध है अतः ये तीन देव इनके प्रधान देव होने से इस स्थान में रहने वाले सभी देवों के देव हैं । देवताओं के कर्म और नाम से पृथक्त्व पाये जाने से भी भक्ति-साहचर्य और भोगैकत्व की दृष्टि से तीन ही हैं जैसे एक प्रकार के ऋत्विजों के होता

अध्वर्यु आदि कर्मभेद से भेद हैं परन्तु ऋत्विज् रूप से एकता है। वैसे ही यहां भी समझना चाहिए। यद्यपि निरुक्तकार यास्क ने अग्नि से लेकर देवपत्नी पर्यन्त डेढ़ सौ के लगभग देवतानामों का वर्णन किया है परन्तु स्थानों की एकता और पूर्वोक्त नियमो से उन्होंने तीन स्थानों में विभक्त कर तीन देवताओं की प्रतिज्ञा को पूरा किया है। ऋग्वेद के मन्त्रों के देवता २०९ की संख्या में हैं और थोड़े भेद के साथ लगभग ये ही सारे वेदों के होते हैं। नैरुक्त लोग इनको भी अपनी प्रक्रिया में ढालते हुए उन्हीं तीन स्थानों में इन्हें मानकर अपने त्रित्व को सिद्ध करते हैं। उसके लिए यास्क एक दृष्टान्त देता हैं वह है--नरराष्ट्र। जैसे नर कहने से भेद मालूम पड़ता है परन्तु राष्ट्र कहने से अभेद, वैसे ही विविध देवों का वर्णन करने से भेद है परन्तु स्थानैकत्व आदि से तीन कहने से अभेद होता है। उसका कथन है कि वक्ता की प्रतिपत्तियों के कारण यह भेद है। वास्तव में अभेद ही है। भेद के मूल कारण वह कर्म की पृथक्ता, नामों की भिन्नता तथा पृथक् स्तुतियों का होना बतलाता है। यास्क ने अपने विषय को, कि तीन देवता हैं भली प्रकार सिद्ध किया हैं और साथ ही उनके भक्तिसाहचर्य आदि का निरूपण करते हुए विषय का बहुत ही प्राञ्जल वर्णन किया हैं।

समालोचना--यास्क के मत और वर्णन को ऊपर उद्धृत कर दिया गया। उसके भावों को समझने में भाष्यकारों तथा कई अन्य विद्वानों ने त्रुटियां की हैं। अतः सूक्ष्मेक्षिकया यास्क के सन्दर्भों पर इस प्रकरण में विचार किया जाता है। यास्क ने देवता का सामान्य-लक्षण (यत्काम ऋषिः) आदि जो दिया है उसे भाष्यकार यह समझते हैं कि यह केवल आदिष्टदेवताक मन्त्रों में आए देवताओं का ही लक्षण करता है। अन्य का नहीं। कई एक विद्वान् यह समझते हैं कि इससे देवताओं के परिवर्तन की बात निकलती है क्योंकि मन्त्रद्रष्टा जैसा चाहे उसके अनुसार स्तुति का प्रयोग करेगा और उससे प्रत्येक ऋषि भिन्न भिन्न देवता किसी मन्त्र का बना सकता है। वास्तव में ये दोनों बातें ही ठीक नहीं। यास्क का लक्षण व्यापक है वह विषयरूप देवता का निर्णय भी करता है और यज्ञादि सम्बन्धी विनियुक्त देवताका भी। देवता भिन्न भिन्न अपनी इच्छा से ऋषि बना सकता है, इस प्रकार का इसका भाव निकालना भी ठीक नहीं, क्योंकि उस पक्ष को तो यास्क ने आगे 'कामदेवता वा स्यात् से' कह ही दिया है। यदि ऐसा होता तो उस पुनरुक्ति की आवश्यकता क्या थी। इन विप्रतिपत्तियों के उठने का कारण यास्क का ऋषि पद है 'ऋषि' पद का अर्थ महर्षि दयानन्द ने परमेश्वर लगाया है और दूसरे लोग इसका अर्थ मंत्रद्रष्टा करते हैं। इस प्रकार 'ऋषि' पद का अर्थ ही वास्तव में विचारणीय है। इस में दयानन्द के अर्थ के लिये परम्परा भले ही न मिले परन्तु वह है विचार की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय। यदि ऋषि का अर्थ मंत्रद्रष्टा ही माना जावे अन्य नहीं तो यास्क का देवतालक्षण केवल याज्ञिक बन जावेगा और उस अवस्था में देवता मंत्र का प्रतिपाद्य विषय (Subject Matter) है, के लिये कोई और लक्षण ढूंढना पड़ेगा।

क्योंकि 'अग्निमीडे पुरोहितम्' आदि जिन मंत्रों में देवता निश्चित है और नामरूप से कथित भी किया गया है, वह मंत्र द्रष्टावों की इच्छा का न तो फल है और न उसके वे निर्माण करने वाले ही हैं। उनका निर्माता या निर्धारक मानने पर मंत्रों को पौरुषेय मानना पड़ेगा, जोकि किसी भी वैदिक धर्मी को इष्ट नहीं। 'अग्नि' आदि देवतावाचक पदों का सन्निवेश और तद्विषयक वर्णन तो परमेश्वरकृत ही मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि, इस लक्षण का अर्थ इस पक्ष वाले निम्न प्रकार करते हैं--जिस कामना को चाहता हुआ मंत्रद्रष्टा जिस देवता के स्तुति होने पर इस अर्थ का मैं स्वामी बनूंगा ऐसी इच्छा करता हुआ स्तुति का प्रयोग करता है, उस देवता वाला वह मंत्र होता है।" विचार करने पर पता चलता है कि वस्तु-कामनापूर्वक स्तुति करने वाले से पूर्व ही देवता उस मंत्र का निश्चित है अन्यथा जिस देवता में कामना करता हुआ' इत्यादि बन ही कैसे सकता है। मंत्र में देवता तो पूर्व ही नियत है वह विनियोगमात्र करता है। ऐसी हालत में जब देवता का नियतिकरण मंत्रद्रष्टा की इच्छा पर है तो पूर्व ही देवता कहां से नियत हो गया। इससे यह मानना पड़ेगा कि ऋषि का अर्थ परमात्मा भी है और ऐसा मान कर ही विषयरूपी देवता पक्ष का समर्थन बन सकेगा। ऋषि दयानन्द ने यही समझ कर अपने ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में ऋषि पद का अर्थ परमेश्वर किया। इस दृष्टि से यास्क के वाक्य का अर्थ यह होगा--कि जिस कामना को करता हुआ परमेश्वर जिस विषय में इस भावना से कि यह मंत्रगत अर्थ का स्वामी होवे, मंत्र का वर्णन करता है, उस देव वाला ही वह मंत्र होता है। अर्थ की इस प्रकार संगति तो बहुत युक्तियुक्त ढंग पर लग जाती है परन्तु इसमें एकाङ्गिता की गंध फिर भी शेष रह जाती है। वह इस प्रकार कि आधियाज्ञिक देवता का लक्षण पूरे रूप से संगत नहीं होगा। उसकी संगति के लिए मंत्रद्रष्टा अर्थ भी करना पड़ेगा। बिना ऐसा किये कार्य नहीं चलेगा। यास्क को भी ऐसा अभिप्रेत है। क्योंकि उसने केवल आदिष्टदेवताक मंत्रों के देवतानिर्णय की प्रतिज्ञा नहीं की है, बल्कि याज्ञिक पक्ष को भी लिया है। निरुक्त के उद्देश्य का ख्यापन करते हुये यास्क कहता है कि निरुक्त का उद्देश्य दैवतनिर्णय भी है। बिना इसके दैवतनिर्णय नहीं हो सकता। यह दैवतज्ञान केवल आदिष्टदेवताक मंत्रों के विषय में ही परीक्षणीय है, यह तो यास्क का तात्पर्य हो नहीं सकता क्योंकि वे तो लिङ्ग से ही निश्चित हैं। हां थोड़ा झंझट उनमें प्रधान और नैघण्टुक देवताओं के निर्णय में पड़ता है, उसके लिये इतनी बड़ी प्रतिज्ञा करने की भी उसे आवश्यकता नहीं थी। फिर क्यों इतना बड़ा उद्देश्य उसने रखा? इस का समाधान यह है कि याज्ञिक पक्ष में देवता का निर्णय करके अपने त्रिस्थानी देवतात्रयी के वाद को उसे निखारना था। इसी लिए उसने ऐसा किया। यास्क का यह कथन कि 'याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशाः भवन्ति। उसी बात को बतला रहा है। यास्क को नैरुक्त दैवत और आध्यात्मिक दैवत का पक्ष सुलझाना था और वह बिना याज्ञिक पक्ष को भली प्रकार दिखलाये बनता नहीं, अतः उसने इसका

भी पूरा विवेचन किया। करता भी क्यों न वह भी तो एक प्रक्रिया और सर्वसम्मत है। मंत्र दैविक और आध्यात्मिक विषय का ही प्रतिपादन तो करते नहीं, उनमें यज्ञ का भी प्रतिपादन है। उक्त दो प्रकार के अर्थों को दिखलाना, जहां मंत्रों का प्रयोजन है वहां यज्ञ, यागादि कर्मकाण्डों का संपादन भी उन्हीं से होता है। फिर उसे छोड़ा कैसे जा सकता है। यास्क स्वयं भी इसका वर्णन करता है। वह कहता है। कि 'पुरुष-विद्यानित्यत्वात्कर्मसंपत्तिर्मंत्रो वेदे'। यास्क के इस वाक्य का भी दो प्रकार से अर्थ हो सकता है और दोनों ही उसके अभिप्रायको बतलाने वाले होंगे। एक तो यह कि पुरुष परमेश्वर की विद्या नित्य होने से उसमें भ्रम या कमी आदि को अवकाश नहीं, अतः कर्मो की पूर्णता का विधान करने वाले मंत्र वेद में पाये जाते हैं। दूसरा अर्थ यह है कि जीव की विद्या अनित्य होने से उस के द्वारा संपादित कर्मो में भूल चूक होने का भय रहता है अतः कर्मों की सिद्धि करने वाले मन्त्र वेद में हैं। दोनों ही अर्थों से यास्क का यह भाव प्रकट हो जाता है कि कर्मो की सम्पन्नता करने वाले मन्त्र हैं। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि यास्क ने याज्ञिकों के देवतावाद का भी वर्णन किया है।

यास्क ने अपने ग्रन्थ में दो बार दैवत प्रकरण मे ही 'सैषा देवतोपपरीक्षा' "ये अनादिष्टदेवता मंत्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा" आदि वाक्य भी पूर्वोक्त पक्ष की पुष्टि करते हैं। यदि याज्ञिक देवता का प्रतिपादन इसका विषय न होता तो परीक्षा पद का प्रयोग हीं व्यर्थ था। क्योंकि यास्क का देवतापक्ष जो नैरुक्तों का है वह तो आदिष्ट होने से लक्षण से ही संगत था उसमे परीक्षा की आवश्यकता ही क्या? यदि यह कहा जावे कि नैघण्टुक देवता और मुख्य देवता तथा उनके विविध सम्बन्धों के निर्णय के ध्यान से यह परीक्षा पद व्यवहृत किया, तो यह भी इतने बड़े झंझट का विषय नहीं है जो पूर्वोक्त लक्षण और इन्द्रं मित्रं वरुणम्, इत्यादि की संगति से निर्णीत नहीं हो सकता था। उसके अपने पक्ष की स्थापना में दिये गए हेतुवों में कोई ऐसा नहीं, जो वेदमंत्रों से सहजतया सिद्ध न हो और उसके लिये महान् परीक्षा की आवश्यकता पड़े। उसने इसी उद्देश्य से 'परीक्षा' पद का व्यवहार किया।

यास्कीय निरुक्त के पूरे दैवत प्रकरण का विवेचन करने पर भी सुगमता से तीनों पक्षों का ही नहीं वल्कि चौथे आख्यान पक्ष का भी वर्णन मिल जाता है। 'स्तुति प्रयुङ्क्ते' में पड़ा स्तुति शब्द भी चारों पक्षों के भाव को व्यक्त करता है। ये चारों पक्ष आत्मविद्, नैरुक्त याज्ञिक, और आख्यानसमय हैं। इन चारों पक्षोमे आत्मविदों के पक्ष में सब मन्त्रों का प्रतिपाद्य विषय आत्मा है और वही देवता है। नैरुक्तों की दृष्टि से त्रिस्थानीय अग्नि, वायु और सूर्य देवता हैं। याज्ञिकों के मत में अनेक देवता हैं और उनका बड़ा प्रपंच है। आख्यानविद्

लोगों के मत में रूपक से कल्पित व्यक्ति देवता हैं। फिर इतने अधिक संख्या में वर्णित देवताओं की संगति कैसे लगेगी ? इसका उत्तर भिन्न-भिन्न प्रकार से ये सभी देते हैं। अध्यात्मवादी कहते हैं कि उस एक के ही सब नाम हैं, प्रधानतः देवता एक ही है वह परमात्मा है। नैरुक्त कहते हैं कि नाम, कर्म और स्तुतियों से देवों की पृथक्ता है वास्तव में स्थानैकत्व और संभोगैकत्व से देवता तीन हैं। याज्ञिक लोग कहते हैं कि जितने शब्द हैं उतने अर्थ हैं अतः जितने नाम कर्म, स्तुति, अध्यात्म आदि भेदों से वर्णित पदार्थ हैं सभी देवता हैं। आख्यानवादी भी नाना देवतावादी हैं। यास्क का यह वचन "पृथक् हि स्तुतयो भवन्ति" याज्ञिकों के पक्ष को बतला रहा है। क्योंकि याज्ञिकों के मन में स्तुतियों के भेद से जितने विधिवाक्य हैं उतने ही देवता हैं। इस सारे प्रपंच को दिखलाने के लिये ही यास्क ने परीक्षा प्रारम्भ की।

देवताओं के आकार का विचार करना भी बतलाता है कि यास्क याज्ञिकों के पक्ष का विशद वर्णन कर रहा है। आत्मविदों के पक्ष में तो यह देवताओं के आकार की चिन्ता बन नहीं सकती है क्योंकि वहां तो एक ही आत्मा है और यह विकार आदि से रहित है। नैरुक्तों के पक्ष में भी नहीं वहांतो अग्नि, वायु और सूर्य है और प्रत्यक्ष ही है॥ रह गया याज्ञिक और आख्यानविदों का पक्ष, जिनके मत में देवताओं के नाना होने से यह आकार का विचार उपस्थित होता है। अतः याज्ञिक पक्ष में ही यह विषय जुड़ता है। याज्ञिक लोगों के अनुसार देवता आकारी हैं और वे चेतन, अचेतन, कर्मार्थोभयविध तथा नित्योभयविध हैं। चेतन पक्षवाले अपनी पुष्टि में यह हेतु देते हैं:—चेतन की भांति मन्त्रों में उनकी स्तुतियां पाई जाती हैं, पुरुषों के प्रकार का उनके सम्बन्ध में कथन पाया जाता है, उनके हस्त आदि अंगों का वर्णन पाया जाता है, अश्व आदि पदार्थों द्वारा आने जाने का वर्णन पाया जाता है, उनके स्त्री और गृह आदि का वर्णन मिलता है और कान से सुनने, मुख से खाने आदि का वर्णन देखा जाता है। चूंकि ये हेतु चेतन में चरितार्थ हो सकते है अतः देवता चेतन और पुरुषाकार हैं।

अचेतन पक्ष वाले कहते हैं कि देवता पुरुष रूप नहीं है। उनके हेतु इस प्रकार हैं:—

पृथ्वी, चन्द्रमा आदि अचेतन पदार्थों में भी चेतन की भांति वर्णन मिलता है, अचेतन औषधि आदि पदार्थों की भी मन्त्रों मे स्तुतियां देखी जाती हैं; अचेतन पाषाणादि भी पुरुषविध अङ्गों से वर्णन किये जाते हैं; अचेतन पदार्थों में पुरुष सम्बन्धी द्रव्यों का संयोग भी देखा जाता है, जैसा कि सभा और समितियों को प्रजापति की पुत्री कहा गया है, और नदी आदि का पुरुष के रूप में वर्णन मिलता है। इस प्रकार चेतन में होने वाले व्यवहारों का अचेतन में भी वेदमन्त्रों में वर्णन मिलता है, अतः देवता पुरुषविध नहीं हैं।

देवता चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के हैं इस मत के मानने वाले भी दो प्रकार से अपने विचार को दिखलाते हैं। पहला कर्म की दृष्टि से उभयविध और दूसरा नित्योभयविध। पहले विचार वालों का कथन है कि देवता चेतन और अचेतन दोनों हैं परन्तु कर्म के प्रयोजन से अर्थात् चेतन देवता होने पर कर्म की दृष्टि से अचेतन में भी उसका व्यवहार पाया जाता है जैसा कि यज्ञ को आत्मा कहा जाता है और अचेतन देवता में कर्म की दृष्टि से चेतन का व्यवहार किया जाता है। दूसरे मतवाले कहते हैं कि देवता दोनों प्रकार के हैं अचेतन में चेतनवत् व्यवहार औपचारिक है। फिर जब प्रश्न होगा कि ऐसा अचेतनों में चेतन की भांति वर्णन क्यों किया जाता है, तो उस का समाधान यह करते हैं कि यह आख्यान का सिद्धान्त है अथवा सिद्धान्त ही है।

यद्यपि भाष्यकारों ने 'आख्यान समयः' का अर्थ सिद्धान्त किया है या महाभारत में यह सिद्धान्त है ऐसा भाव लिया है, परन्तु यहां पर आख्यानसमयः से आख्यान पक्ष अर्थात् ऐतिहासिकों का सिद्धान्त लिया जाना चाहिये। क्योंकि याज्ञिकों मे ही एक वर्ग ऐसा भी था जो कल्पित इतिहास गढ़ कर मन्त्रों की अर्थसंगति लगाता था। यास्क का उस प्रसंग में यह दिखलाना ऐतिहासिक पक्ष की पुष्टि करता है। ये लोग औपचारिक रूप से मन्त्रों में इतिहास दिखलाकर आख्यान की प्रीति प्रदर्शित किया करते थे। कई आचार्यों ने लिखा भी है कि औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमय.' अर्थात् मन्त्रों में आख्यान औपचारिक है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यास्क ने याज्ञिक और उसके प्रभेद आख्यानविदों का पक्ष भी वर्णित किया। जब ऐसा सिद्ध है तो लक्षण भी वैसा ही होना चाहिये जिसमें सब का समावेश हो जावे। वह होता तब है जब 'ऋषि' पद का अर्थ मन्त्रद्रष्टा और परमेश्वर दोनों ही माना जावे।

यास्क के लक्षण में भाषा की जटिलता भी भ्रान्ति का कारण है। लक्षण में यत् पद का समस्त प्रयोग है परन्तु उसके साथ तत् का सम्बन्ध नहीं। नियमतः यत् और तत् का सम्बन्ध नित्य है। उस सम्बन्ध के यहां पर ठीक न घटित होने से अर्थ करने में कठिनाई अवश्य पड़ जाती है।

उपसंहृति—यास्क लिखित निरुक्त के दैवत प्रकरण और उस के मत का ऊपर संक्षेप में पर्यालोचन किया गया। यास्क ने जिन वादों और विषयों को अपने दर्शन में दिखलाया है संक्षेप से वर्णन कर दिये गयें। विशेष आलोचन से निम्न बातें प्राप्त होती हैं, जो यास्क के देवता स्वरूप को बतलाती हैं:—

१, वेदमंत्रों का प्रतिपाद्य विषय देवता है-और वे आत्मा, परमात्मा अग्नि, वायु और सूर्य हैं। शेष सब इन के नामधेय हैं।

२. वेद मंत्रों का विनियोज्य विषय देवता है—वह यज्ञ, यज्ञाङ्ग और नाना प्रकार के यज्ञ सम्बन्धी कर्म हैं।

३. देवताओं का निर्णय प्रकरणचतुष्टय से होता हैं।

४ मंत्र अनादिष्टदेवता वाले और आदिष्टदेवता वाले हैं।

५. आदिष्टदेवता वाले मंत्रों का देवता लिङ्ग से तथा नैघण्टुक और प्रधानभाव की परीक्षा से ज्ञात होता है।

६. अनादिष्टदेवता वाले मंत्रों के विभिन्न मतों के अनुसार, यज्ञ, यज्ञाङ्ग-देवता हैं, यज्ञ से अन्यत्र प्रजापति, इच्छानुसार, नराशंस, विश्वेदेव आदि देवता हैं।

सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता—दूसरा विचार इस विषय में सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता का है। लक्षणकी दृष्टिसे इन्होंने भी यास्क का ही समर्थन किया है। कात्यायानसर्वानुक्रमणी के अनुसार "यस्य वाक्यं स ऋषिः, या तेनोच्यते सा देवता-- अर्थात् जिस का वाक्य है वह ऋषि है और जो उस से कहा जाता है वह देवता है। बृहद्देवताकार ने बतलाया कि जिस जिस देवता से ऋषि ने प्रधानतया स्तुति करते हुए कहा कि यह यह वस्तु हो जावे, उसी देवता वाला मंत्र होता है। अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी का भी ऐसा ही विचार है। इन सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता ने ऋग्वेद आदि के मंत्रों के ऋषि तथा देवतावों का विस्तार से दिग्दर्शन कराया है, भिन्नता और अन्यों से मतभेद चाहे उन में जितना हो। यास्क आदि के देवतावों से इनके देवतावों मे अनेक स्थलों पर बहुत बड़ा अन्तर पड़ता है। ये प्रामाणिक या अप्रमाणिक हों, नवीन या प्राचीन हों, आर्ष वा अनार्ष हों, जो भी कुछ हों, इन से मंत्रों के देवताव्यक्ति विषय में पर्याप्त सामग्री इन में मिलती है। इनकी एक दम उपेक्षा नहीं की जा सकती। कई स्थलों पर तो ये निरुक्त की ही नकल करते हैं।

समालोचना- ये सर्वानुक्रमणी बृहद्देवता आदि पृथक पृथक् मंत्रों के ऋषि और देवता बतलाने में कितने भी उपादेय हों परन्तु इनका देवतासम्बन्धी लक्षण विचारणीय अवश्य है। सर्वानुक्रमणी का देवतालक्षण यास्क की भांति दोनों तरफ लगता दिखलायी पड़ता है। वेदमंत्र जिस के वाक्य हैं वह ऋषि है और उस से जो कहा जावे वह देवता है, इस में ऋषि पद विचारणीय है और दोनों प्रकार से लगाया जा सकता है। पहला तो परमात्मा के वाक्य होने से वही ऋषि है, दूसरा यह कि परमात्मा के वाक्य को विनियोग या मंत्रदर्शन द्वारा अपना वाक्य बनाकर बोलने वाला मंत्रद्रष्टा ऋषि है। वाक्य दो प्रकार से अपने होते हैं। एक स्वतः निर्मित और दूसरा अन्यों के वाक्य को अपना बनाकर बोलना। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का अपना निर्मित वाक्य तो मंत्र है नहीं क्योंकि इस में वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानने वालों को बड़ी आपत्ति है। फिर रहता है दूसरा पक्ष वही सम्मत हो सकता है। परन्तु दोनों में से किसी एक को मानने पर वही निरुक्त की समालोचना में कहा गया एकाङ्गी दोष आवेगा। अतः ऋषि से परमेश्वर और मंत्रद्रष्टा दोनों ही अर्थ लेना उपयुक्त है। इस के अतिरिक्त देवतालक्षण में

सर्वानुक्रमणीकार ने 'तेन' सर्व नाम का प्रयोग किया है। इस 'तेन' पद से ऋषि का अर्थ भी लिया जा सकता है और वाक्य का भी। अर्थात् उस ऋषि से जो कहा जाता है वह देवता है अथवा उस वाक्य से जो कहा जाता है वह देवता है। ऋषि को मंत्रद्रष्टा मान कर उससे कहा जाने वाला देवता है, इससे याज्ञिक प्रक्रिया में लक्षण घटेगा और ऋषि का अर्थ परमात्मा मानकर अध्यात्म और दैवत प्रक्रिया में लक्षण जावेगा। इसी प्रकार आदिष्ट, अनादिष्ट की समस्या भी सामने होगी। 'तेन' पद से ऋषि न लेकर 'वाक्य' से अन्वय करने पर, यदि ऋषि को द्व्यर्थक माना गया तो आपत्तियां नहीं पड़ेंगी, परन्तु यदि एकार्थक माना गया तो वही एकाङ्गी लक्षण की आपत्ति यहां पर भी हो जावेगी। ऋषि मन्त्रद्रष्टा है ऐसा मानकर यदि "तेन" का अर्थ 'उस वाक्य से' करके देवतालक्षण की संगति लगायी जावे तो देवता में केवल याज्ञिकों वाला ही पक्ष बनेगा। यदि ऋषि को रचयिता मानकर अर्थ किया जावे तब सब कुछ समाप्त ही हो जावेगा और पौरुषेयत्व का दोष आ जावेगा। अतः किं बहुना! इस लक्षण में दोनों पदों को दोनों अर्थों में लगाना ही अच्छा है। इससे यास्क के मत से समता आवेगी और सर्वानुक्रमणी मे प्रतिपादित क्रम और ढंग की भी सार्थकता बनी रहेगी। बृहद्देवताकार और अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रम के लक्षण याज्ञिक पक्ष मे ही संगत हैं अन्यत्र नहीं। बृहद्देवता का लक्षण अपने भाव से व्यक्त कर रहा है कि वह यज्ञप्रक्रिया में घटेगा। वह स्पष्ट ही कह रहा है कि ऋषि ने अर्थ की कामना से जिस देवता से कहा कि यह अर्थ प्राप्त हो जावे, वही देवता वाला मंत्र है। इस से देवता का निश्चित होना तो पूर्व ही सिद्ध है। ऋषि केवल प्रयोक्तामात्र हैं। अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रम में तो ऋषि के साथ मंत्रद्रष्टा पद ही पड़ा है अतः उस में खींचतान की आवश्यकता ही नहीं, वह तो हैं ही सर्वथा याज्ञिक पक्ष में।

उपसंहृति—ऊपर समालोचना की गयी। परिणामतः संक्षेप में ये भाव निकले:—

१—सर्वानुक्रमणी के अनुसार मंत्र का प्रतिपाद्यविषय देवता है—वे तत्प्रदर्शित हैं।

२—मंत्र का विनियोज्य विषय देवता है।

३—बृहद्देवता और अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी के अनुसार मंत्र का विनियोज्य विषय देवता है।

ब्राह्मण और मीमांसा—ब्राह्मणों के अनुसार जिस को हवि दी जावे वह देवता हैं अथवा जिस के लिये ऋचायें, यजु आदि कहे गये हों वह देवता है। ब्राह्मण चूंकि बहुभक्तिवादी हैं अतः प्रधान-गौणरूप से उन से दोनों प्रकार के देवता का दिग्दर्शन प्राप्त होता है। वे स्थान स्थान पर प्रकरणचतुष्टय से मंत्रार्थ की संगति लगाते हैं। वे कहीं आधियाज्ञिक, कहीं आधिदैविक और कहीं आध्यात्मिक तथा कहीं पर आख्यायिक

ढंग से मन्त्रार्थ करते हैं। फिर भी यज्ञ का कृत्स्नरूप उपस्थित करते हैं। मीमांसा शास्त्र यज्ञों का प्रतिपादन करता है। वैदिक कर्मकाण्डान्तर्गत वेद, ब्राह्मण, श्रौत, गृह्य आदि में जितने कर्मो का प्रतिपादन है सभी उसका सामान्य विषय है। विशेषतः ब्राह्मण और श्रौतप्रतिपादित विषय। उस में देवता से हवि दिये जानेवाले और कर्मोपयोगी देवताओं का ही ग्रहण किया जाता है। यद्यपि अर्थ के विना शब्द नहीं रह सकता फिर भी मीमांसक मुख्यतया हविःप्रदान, कर्म और विधि का शब्द से ही सम्बन्ध होने से शब्द को ही देवता मानते हैं अर्थ को नहीं। उनके मत में शब्द मात्र देवता है। मीमांसा के मत का स्पष्टीकरण करते हुए १० । ४। २३ पर शबर स्वामी ने लिखा है-यह देवता वस्तु क्या है? उत्तर -जो कि इतिहास पुराणों में अग्नि आदि आकाशस्थानीय हैं। उनमें काल-वाची मास और संवत्सर आदि को देवता कहा गया परन्तु वर्तमान में माने जाने वाले शिव आदि को नहीं। दूसरा मत यह है कि देवता शब्द से उन्हीं का ग्रहण है जो मन्त्र और ब्राह्मणों में अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा आदि कहे गए हैं। वहां पर भी इन विग्रहधारियों का वर्णन नहीं। इस प्रकार चेतन, अचेतन, मूर्त्त, अमूर्त कोई भी वस्तु जो किसी अर्थ के लिये संकल्पित है देवता कही जा सकती है। देवता का यज्ञों को सिद्ध करना रूप कार्य रूप से नहीं होता। फिर किससे होता है; सम्बन्धी शब्द से। जैसे अध्वर्यु हाथ से उपकारक है इसी प्रकार देवता शब्द से उपकारिका है। देवता के उपकार का यज्ञ में शब्दमात्र से ही सम्बन्ध है। शब्द का ही हवि से सम्बन्ध होता है, अर्थ का देवतात्व तो शब्द के उस सम्बन्ध के कारण है। सिद्धान्तः जिसका शब्द हवि तथा उसके प्रयोजन से सम्बन्ध खाता है वही देवता है, शब्दमें कार्य का सम्भव होने से अर्थ में कार्य माना जाता है। खण्डदेव ने भी भट्टदीपिका ६ । १ । ५ पर लिखा है कि देवता विग्रहवती है, यह किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता। यहां तो केवल शब्दमात्र ही देवता है, यह सिद्धान्त है। इस प्रकार "आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद्" के अभिप्राय से मीमांसकजन विधिवाक्यों को ही देवता मानते हैं। उनका उद्देश्य शब्दमात्र देवता मानने में ही सफल है।

समालोचना- जितने शब्द हैं उतने ही अर्थ। यदि प्रत्येक अर्थ को सम्बद्ध मानकर देवता माना जावे तो अनेक अनर्गल कल्पनावों में पड़ना पड़ेगा। कहीं अचेतन की स्तुति, तो कहीं पशु आदि से प्रार्थना। यज्ञ इष्ट की प्राप्ति के लिये किया जाता है, उसकी पूर्त्ति देवाराधन कर्म से होती है, वह कर्म हविःप्रदान आदि से सम्बन्ध रखता है, हविःप्रदान देवता के निमित्त होता है, देवता अर्थमयी यज्ञ में उपस्थित होती नहीं. अतः हविःप्रदान का सम्बन्ध शब्दमात्र से है, इसलिये शब्दमात्र ही देवता है।

उपसंहृति—विवेचन से निम्न बातें प्राप्त होती हैं: -

१--जिसको हवि दी जाती है, वह देवता है।

२--जो मन्त्रों का वर्णनीय है वह देवता है।

३—मीमांसकों के मत में हविःप्रदान कर्म की सम्बन्धिनी देवता है और वह शब्दमात्र है।

आचार्य वररुचि ने यास्क की भांति ही देवता का प्रतिपादन किया है । स्थल स्थल पर प्रकरणचतुष्टय में दैवत दिखलाया है परन्तु ४ । १० में 'अहं भुवं वसुनः" आदि ऋग्वेदीय मन्त्र की व्याख्या करते हुए एक विशेष बात बतलाई है । वह यह कि "उत्तमस्य तु वर्गस्य य ऋषिः सैव देवता" अर्थात् अहं आदि युक्त उत्तमपुरुषीय प्रयोग वाली ऋचावों का जो ऋषि होता है वही देवता भी होता है । वाक्य उन्हे कहां से मिला, कहा नहीं जा सकता, फिर भी है अत्यन्त गवेषणीय । यास्क के अभिप्राय से कुछ समता अवश्य मालूम पड़ती है परन्तु यास्क ने यह स्पष्ट नहीं लिखा कि ऐसे मन्त्रों का ऋषि ही देवता होता है । इसकी गवेषणा से ऋषिविषयक एक समस्या का कुछ सुलझाव हो जावेगा ।

ऋषि दयानन्द—आचार्य दयानन्द ने यद्यपि देवता पदार्थ का कोई नवीन लक्षण नहीं किया, प्राचीन लक्षणों को ही स्वीकार किया है, फिर भी उनके व्याख्यान में कई विशेषतायें हैं । वे देवता से क्या अभिप्राय प्राप्त लेते हैं, यह इन पंक्तियों में वर्णन किया जाता है । आचार्य के विचार ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका में मिलते है । कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो समझते हैं कि आचार्य के सिद्धान्तों के ठेकेदार वेही हैं, उनके जितनी अन्य किसी को आचार्य में श्रद्धा नहीं। वे आचार्य के सिद्धांत को कहते तो हैं डंके की चोट पर. और ऐसे भावों में कि मानो उनको यह विषय हस्तामलक है परन्तु बात ऐसी नहीं। उनकी इस गर्जना मे भी आचार्य के भाव को न समझने का आडम्बर छिपा, हुआ है। उन्होंने जो वर्णन किये हैं वही आचार्यप्रदर्शित सिद्धान्त हैं, अन्य नहीं ऐसा कहा नहीं जासकता। बहुत से ग्रंथो के नाम लेना वास्तव में बात और है और उन्हें समझना और ही है। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' को आर्यसमाज ने बहुत अपनाया। जिसने यह प्रचलित किया वह व्यक्ति बड़े ही स्वाध्यायशील थे और ऋषि के अनन्य भक्त थे परन्तु थे संस्कृत से अनभिज्ञ। उनको यह पता नहीं था कि 'कृण्वन्तो' पद कृत्प्रत्ययान्त है या क्रिया पद है, अतः भाव को लेकर जो अर्थ उन्होंने किया वह विध्यात्मक क्रिया के अभिप्राय से पूर्ण है। सारे संसार को आर्य बनावो' यह अर्थ ही आज अधिकतर आर्यों में प्रचलित है। कई विद्वान् ऐसे प्रयोग का अभ्यास बन जाने से इसी प्रकार का प्रयोग कर देते हैं । परन्तु उसका अर्थ क्या है ? यह विद्वज्जनों से छिपा नहीं है । यह डंके की चोट पर घोषित होता रहा परन्तु बात वास्तविक ज्योंकी त्यों बनी है । ऐसे ही ऋषि के कई सिद्धांतों के विषय में भी देखा जाता है । एक स्थान पर एक व्यक्तिने यास्क मत में वेद अपौरुषेय हैं इसका प्रमाण देते 'हुए पुरुष विद्या०' इत्यादि यास्कीय प्रमाण को ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के हवाले से उद्धृत किया है । परन्तु ऋषि दयानन्द इसका क्या

अर्थ करते हैं उसने नहीं दिखलाया, क्योंकि वहां उसका अपना अभिप्राय सिद्ध करने के लिये थोड़ा मस्तिष्क लगाना पड़ता था। ऋषि ने इस प्रतीक का क्या अर्थ किया है? यदि इसे देखा जावे तो विचित्र ही बात ज्ञात होगी, परन्तु वह होगी सभी निरुक्त-भाष्यकारों के विरुद्ध। ऋषि यास्क की प्रतीक देते हुए लिखते हैं "अत्राह यास्काचार्यो निरुक्ते। कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे"......कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च सम्पत्तिः सम्पन्नता भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते, तथा च कर्मणां संपत्तिर्मोक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोऽपि मंत्रार्थश्चाङ्गीकार्यः। अर्थात् अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त कर्मों और शिल्पसाधनों की संपन्नता जिससे होती है वह मन्त्र वेद में देवताशब्द से ग्रहण किया जाता है, अथवा मोक्ष की सिद्धि और ईश्वर-प्राप्ति होती है जिससे, ऐसा भी मन्त्र और मन्त्रार्थ स्वीकार करना चाहिये। इसी प्रकार एक स्थान पर एक और विद्वान् ने लिखा है कि वेदमन्त्र का प्रतिपाद्य विषय ही देवता है। इस प्रकरण के सारे पृष्ठों में उन्होंने लिखा है ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ऋषि ने ऐसा ही प्रतिपादन किया है। उन्होंने ऋषि के वाक्य को भी उद्धृत किया है परन्तु वह वाक्य वहीं पर उनके 'ही' के बल को न्यून करता दिखाई पड़ता है। उद्धरण इस प्रकार है "ऋषि दयानन्द देवता किसको मानते हैं, इसके लिये ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को स्वयं देखें, विशेषतया पृ० ६० से ७० तक। हम यहां संक्षेप के कारण एक ही उद्धरण उपस्थित करते हैं, जिसमें उन्होंने अर्थ को देवता माना है।—"यस्मिन् मंत्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्तते स एव मंत्रो अग्निदेवतो गृह्यते पृ० ६०। तथा यस्य यस्य मंत्रस्य यो यो ऽर्थोऽस्ति स सो ऽर्थस्तस्य देवताशब्देनाभिप्रायविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम् ऋ॰ भा० ३६८. ३६९॥ अर्थात् जिस मंत्र का जो अर्थ होता है वही उसका देवता कहाता है"॥ उद्धरण देने वाले महानुभाव ने उद्धरण तो दे दिया परन्तु पूर्वापर का ख्याल नहीं किया। यदि सब वाक्यों की संगति लगाई गई होती तो केवल वेद मंत्रों का अर्थ ही देवता होता है, यह बलपूर्वक कहने का साहस न किया जाता और अपने ही को 'भी' में परिवर्त्तित करना पड़ता। अस्तु यहां पर इस तरफ अधिक न जाकर ऋषि के विचार को अङ्कित किया जाता है। वे कहते हैं: यज्ञ में देवता शब्द से किसका ग्रहण होता है? उत्तर जो कि वेद में कहे गए हैं- अग्नि. वायु, सूर्य चन्द्रमा, वसुगण, रुद्रगण, आदित्य-गण, मरुद्गण, विश्वेदेव. वृहस्पति, इन्द्र और वरुण आदि (यजुः १४। २०) अर्थात् यहां कर्मकाण्ड में देवता शब्द से वेदमंत्रों का ग्रहण है। गायत्री आदि छन्द जो अग्नि आदि नामों वाले हैं वे ही गृहीत होते हैं। क्योंकि वे ही कर्मकाण्ड आदि विधि के द्योतक हैं। जिस मंत्र में अग्नि शब्द और उसके अर्थ का प्रपिपादन है वह ही मंत्र अग्निदेवता वाला है, ग्रहण किया जाता है (उन उन मंत्रों का और उन उन शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है,—हिन्दी) इसी प्रकार वात, सूर्य, चन्द्रमा, वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत, विश्वेदेव, वृहस्पति, इन्द्र,

वरुण आदि शब्दों से युक्त मंत्र देवता शब्द से, गृहीत होते हैं क्योंकि वे ही उन उन अर्थों के द्योतक हैं और परमात्मा-परमेश्वर के द्वारा संकेत किये गए हैं।

इससे आगे यास्क के निरुक्त १।२ और ७।१ का उद्धरण देते हुये उनके अर्थ करते हुये आचार्य लिखते हैं:—अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त कर्मो और शिल्पसाधनों की सम्पन्नता=संयोग होता है. जिससे वह मन्त्र वेद में देवता शब्द से गृहीत होता है और कर्मो की संपत्ति=मोक्ष होता है और होती है परमेश्वर की प्राप्ति जिससे वह भी मन्त्र और मन्त्रार्थ स्वीकार किया जाना चाहिये। ....जिनके अर्थ मन्त्रों में पाये जाते हैं ऐसे जो मन्त्रोक्त नाम हैं वे सब देवता के परिचायक हैं। जैसा कि- अग्नि दूतं० यजु० २२।१७ में अग्नि पद देवता का लिङ्ग है। अतः क्या समझना चाहिये? जहां जहां देवता कही गयी है वहां वहां उस चिन्ह वाला मन्त्र ग्रहण करने योग्य है। जिस द्रव्य के नाम से अन्वित जो छन्द है वही दैवत जानना चाहिए।..................ऋषि=सर्वद्रष्टा परमेश्वर जिस अर्थ के प्रकाशन की इच्छा करता हुआ. जिस देवता को अर्थ का स्वामी होने का उपदेश करता है और उसके गुण का वर्णन करता है उस देवता वाला ही वह मन्त्र हुआ करता है। अधिक क्या? जो अर्थ को प्रतीति कराने वाला देवता जिससे प्रकाश्य होता है, वह मन्त्र ही देवताशब्द-वाच्य है, ऐसा जाना जाता है।........ ....ये ही कर्मकाण्ड में देवता शब्द के अर्थ होते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

इसके उपरान्त महर्षि दयानन्द यास्क की अनादिष्टदेवता-सम्बन्धी मन्त्रों की परीक्षा प्रारम्भ करते हैं और उसकी प्रतीकों का अपने ढंग पर अर्थ करते हुये कहते हैं:—तो फिर जिनमें देवता का दर्शाने वाला नाम वा अर्थ नहीं दिखलाई पड़ता, उन में देवता की परीक्षा=पहिचान क्या है? इसको कहते हैं। जहां विशेष नहीं दिखलाई पड़ता वहां पर यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग देवता होते हैं। जो यज्ञ से अलग प्रयुक्त हैं वे मन्त्र प्रजापति अर्थात् परमेश्वर देवता वाले हैं, ऐसा याज्ञिकों का मत है। यहां पर यह विकल्प है। वे मन्त्र नाराशंस=मनुष्य विषय वाले हैं, ऐसा नैरुक्तों का मत है। तथा जो कामना वह कामदेवता होती है ऐसा सकाम लौकिक लोग जानते हैं.......... मन्त्र तो निश्चय यज्ञसिद्धि के मुख्य हेतु होने से याज्ञदैवत ही होते हैं, ऐसा निश्चय किया जाता है। तत्पश्चात् देवताओं का परिगणन करते हुये आचार्य कहते हैं:—गायत्री आदि छन्दों से युक्त मन्त्र, ईश्वराज्ञा, यज्ञ, यज्ञाङ्ग, प्रजापति परमेश्वर, नर, काम. विद्वान्, अतिथि, माता, पिता तथा आचार्य इत्यादि कर्म काण्ड के प्रति देवता होते हैं परन्तु यज्ञ में मन्त्र और ईश्वर ही देवता होते हैं, ऐसा निश्चय समझना चाहिये। इसके अनन्तर आध्यात्मिक पक्ष का अनुसरण कर एक परमात्मा ही देवता है, इस बात का वर्णन ऋषि ने किया है। तत्पश्चात् ३३ देवतावों का।

समालोचना—आचार्य दयानन्द ने यद्यपि कोई विशेष लक्षण इस विषय में नहीं किया है परन्तु लक्षण के अर्थों को भिन्न प्रकार से लगाकर कुछ भेद दिखलाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य ने अपने लेख में मीमांसा और निरुक्त दोनों के मतों पर विचार किया है। यास्क के लक्षण में पठित ऋषि पद का अर्थ करके उन्होंने एक विशेषता दिखलाई, जिस का वर्णन यास्क मत की आलोचना में किया जा चुका है। ऋषि ने यास्क के 'नाराशंस' पद की व्याख्या भी अपने ढंग पर की है। इनके अभिप्राय से नैरुक्तों का मत यह है कि यज्ञ से अन्यत्र मन्त्रों के देवता नराशंस हैं। अर्थात् उन मन्त्रों में मनुष्य का वर्णन किया गया है। यह आचार्य ने कहां से भाव निकाला, समझ में नहीं आता, नैरुक्तों के मत का इस अर्थ से स्वभावतः भेद मालूम पड़ता है। यज्ञ से अन्यत्र प्रयुक्त मन्त्र नाराशंस अर्थात् मनुष्यविषयक हैं, यह नैरुक्त मत नहीं। नैरुक्त लोग अग्नि, वायु सूर्य और अध्यात्म में परमेश्वर को देवता मानते हैं। देवत्रयी नैरुक्तों की अत्यन्त प्रसिद्ध है। नाराशंस का स्वामीजी वाला अर्थ इस मत के विपरीत पड़ता है। अन्य भाष्यकारों ने ही ऐसा अर्थ नहीं किया। यास्क ने स्वयं भी इसका स्पष्टीकरण निरुक्त में ही कर दिया है। निरुक्त में ८। ६ में दो नैरुक्तों के मत को दिखलाते हुये लिखा है कि कात्थक्य के मत में नाराशंस यज्ञ है और शाकपूणि के मत में अग्नि है। इस विवेचन से नैरुक्तों के मत में ऐसे मन्त्र नाराशंस अर्थात् अग्नि और सूर्य देवता वाले होते हैं। यास्क ने अन्त में 'याज्ञदैवतो मन्त्रः' ऐसा कह कर अपने पूर्व मत का उपसंहार भी कर दिया है। नाराशंस से जो भाव निकलता है वही याज्ञदैवत से भी। नराशंस के अर्थ मतद्वय से यज्ञ=विष्णु=सूर्य और अग्नि हैं तथा याज्ञदैवत का ताद्धित भाव को छोड़कर यज्ञ=विष्णु=सूर्य और अग्नि देवता है। ऋषिदयानन्द ने याज्ञदैवत का भाव भी यास्क के अनुसार नहीं लिया। उन की दृष्टि से इसका अर्थ यज्ञ देवता वाला अर्थात् मन्त्र और परमेश्वर है। ऋषि की दृष्टि से विचार करने पर यास्क के दोनों वाक्य भिन्न भिन्न अर्थ वाले हो जाते हैं जब कि यास्क दृष्ट्या दोनों का भाव एक ही मालूम पड़ता है। इस अर्थ का कहां तक सामंजस्य है, कहां तक नहीं, यह विद्वानों से विचारणीय है। मैं यहां पर इतना अवश्य कह सकता हूं कि ऋषि ने नराशंस का अर्थ किसी स्थल पर ऐसा देखकर ही किया होगा। हो सकता है कि उन्हों ने कहीं अन्यत्र देखा हो, या अपनी अगाध प्रतिभा और समाधि बल से ही इसे निकाला हो परन्तु यह अवश्य है कि दुर्ग को उन्होंने निश्चय ही देखा होगा। दुर्ग ने इस वाक्य का अर्थ पक्षान्तर में ऐसा दिखला कर उसका खण्डन किया है। दुर्ग का खण्डन यद्यपि युक्तिसंगत नहीं, फिर भी इस का अर्थ कुछ लोग स्वामी जी के समान ही करते थे यह तो भली प्रकार सन्दर्भ से विदित हो जाता है। वह कहता है—केचित्तु येन नरा प्रशंस्यन्ते स नाराशंसो मंत्रइति हि पश्यन्तो मनुष्यस्तुतयस्ता इत्येवं मन्यन्ते। तदयुक्तम्। नि० ७।४। अर्थात् कई लोग व्युत्पत्तिबल से इस का अभिप्राय

ऐसा लेकर इन मन्त्रों में मनुष्य-स्तुतियां मानते हैं। वह ठीक नहीं है। अन्यत्र निरुक्त ६। १० का प्रारम्भ करते हुए अवतरणिकारूप से जो बातें लिखी हैं उस से भी महर्षि के अर्थ को प्रोत्साहन मिलता है। यास्क कहता है कि 'येन नराः प्रशंस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्रस्तस्यैषा भवति—अमन्दान्त्स्तोमान् (ऋ० १।१२८।१)॥ अर्थात् जिसके द्वारा नरों की प्रशंसा की जाती है वह नाराशंस मन्त्र है, उस की प्रतीकभूत यह मंत्र है।

अस्तु ! पहले कहा गया है कि महर्षि दयानन्द ने मीमांसकों के मत को भी इस देवतानिर्णय प्रकरण में अपनाया है। यही कारण है कि दोनों तरह का वर्णन करते दिखलाई पड़ते हैं। आत्मविद्, याज्ञिक और नैरुक्तों की दृष्टि से विचार करते हुए भी इन्होंने यह विशेष दिखलाया कि यज्ञ में मन्त्र और ईश्वर देवता होते हैं। हम पूर्व यह निर्देश कर चुके हैं कि मीमांसकमत में शब्दमात्र देवता है। वे विधिवाक्यों को देवता मानते हैं। इस विचार ने ऋषि को इस परिणाम पर पहुँचाया कि यज्ञ में मन्त्र देवता होता है। यास्क के इस विचार ने कि सारे देवता उस महान् देवता परमात्मा के अङ्ग वा नामधेय हैं, ऋषि को इस विचार का अवसर दिया कि यज्ञ में परमात्मा देवता होता है। मीमांसकजन शब्द को प्रधानता देते हैं क्योंकि हवि का सम्बन्ध उसी के साथ है। परन्तु यज्ञ इष्ट प्राप्त्यर्थ किया जाता है। उस इष्ट प्राप्ति में जो देवता समर्थ है उसी को यज्ञ में हवि दी जाती है, यदि मन्त्रों के अर्थमात्र को देवता मान लिया जावे तो अस्तुत्य की भी स्तुति और इष्टसंपादनायोग्य से भी इष्ट की सिद्धि की प्रार्थना करनी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में कई आपत्तियां उठ खड़ी होंगी। अतः ऋषिने यह निश्चित किया कि यज्ञ में मंत्रों के भिन्न भिन्न अर्थ देवता नहीं, केवल परमात्मा देवता है। इष्ट-प्राप्त्यर्थ प्रार्थना आदि की दृष्टि से परमात्मा देवता है और हविःप्रदान अदि कर्म की दृष्टि से मंत्र देवता हैं। दोनों का समन्वय करते हुए ऋषि ने लिखा— कि कर्मकाण्ड के प्रति पूर्वकथित भिन्न भिन्न देवता हैं, परन्तु यज्ञ में तो मंत्र और ईश्वर ही देवता हैं। ऋषि ने इस अपने विचार पर ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में दैवत विचार अवसर पर विशेष बल दिया है। जो लोग यह कहते हैं कि वेदमंत्रोंका प्रतिपाद्यविषयमात्र ही ऋषि दयानन्द के मत में देवता है, वे इन स्थलों को पुनःदेखें और विचार करें। यदि ऋषि का यही अभिप्राय होता तो वह यज्ञ विषय को विशेष बलपूर्वक न छूते। वे तो उपक्रम भी ऐसा ही चलाते हैं, जिस से इस मेरे विचार कीपुष्टि होती है। वे उपक्रम में सर्व साधारण देवता का विचार नहीं चलाते हैं बल्कि यज्ञ में देवता शब्द से क्या ग्रहण किया जाता है, इस प्रकार प्रारम्भ करते हैं। यह विचार उनका प्रधान मालूम पड़ता है, यही कारण है कि यज्ञ के देवता पर उन्होंने विशेष बल दिया। इतना ही नहीं अन्त में उपसंहार भी कर दिया--'परंतु यज्ञ में तो मंत्र और ईश्वर ही देवता हैं। फिर प्रश्न यह उठ सकता है कि यदि ऋषि को यज्ञ में देवता क्या है? यही बतलाना अभीष्ट था तो अर्थ देवता होता है, इस बात को जो प्रसङ्गान्तर थी क्यों छेड़ा। इसका

समाधान यह है कि ऋषि दयानन्द यज्ञ शब्द से यज्ञ और शिल्प साधन आदि अनेक अर्थ लेते हैं। शिल्पसाधन और विज्ञान आधिदैविक प्रक्रिया से सम्बंद्ध हैं, शब्दमात्र से नहीं, अतः उसके लिए अर्थ का जानना आवश्यक है। ऋषि ने इसी कारण से मंत्रों का प्रतिपाद्य विषय भी देवता है, इस विचार को भी दिखलाया। इस प्रकार श्री स्वामी जी महाराज ने दोनों दैवतस्वरूपों को हमारे समक्ष उपस्थित किया। एक बात जो इस प्रसंग में विचारणीय है वह यह कि यास्क के लक्षण में आये ऋषि पद का परमात्मा अर्थ लेने पर 'आर्थपत्यम्' पद के अर्थ की संगति किस प्रकार लगायी जावे। मन्त्रद्रष्टा लोग तो अभीप्सित वस्तु की कामना से, कि मैं उसका स्वामी बनूं उस के देने में समर्थ देवता की स्तुति करते हैं, परमेश्वर तो ऐसा कर नहीं सकता, क्योंकि वह स्वयं सब का स्वामी है, उसे कोई वस्तु अप्राप्य नहीं कि वह उस की प्राप्ति के लिये किसी देवता की स्तुति करे। वह तो सभी धनों और प्राप्तव्यों का स्वयं एकमात्र पति है। फिर यहां पर आर्थपत्य का क्या अर्थ लेना उचित है? इस का समाधान ऋषि ने यह किया कि इस इस अर्थ (अभिधेय का यह स्वामी होवे इस दृष्टि से परमेश्वर ने जिस मन्त्र मे जिस अर्थ (विषय) का वर्णन किया है, उस देवता=विषय वाला वह मन्त्र है। अर्थ कहना ही पर्याप्त था फिर अर्थपति क्यों कहा गया, इस का भी कोई कारण होगा ही। मेरी समझ में ऐसा पद रखने से एक तो याज्ञिक लोगों की प्रक्रिया भी इस विषय में दृष्टिगोचर हो जाती है और दूसरा एक विचारणीय समस्या का हल भी निकल आता है। अनादिष्टदेवता वाले मंत्रों में तो प्रकरणचतुष्टय के अनुसार अध्यात्म, अधियज्ञ आदि सभी प्रक्रियायें देवता कल्पना के आधार पर लग जावेंगी। याज्ञिक अपनी धारणा के अनुसार, नैरुक्त अपनी और अध्यात्मविद् अपनी बुद्धि के अनुरूप उन में देवता मानकर अर्थों की संगति लगा लेंगे, जैसा कि यास्क ने इस प्रकरण में मार्गनिर्देश कर दिया है। परन्तु आदिष्टदेवताक मंत्रों में तो देवता पद दिया हुआ है अतः किसी भी प्रक्रिया में अर्थ किया जावे वह उस पद के अनुरूप ही करना पड़ेगा। पद तो वही रहेगा परन्तु अर्थ तीनों प्रक्रियावों में भिन्न-भिन्न हो जावेगा। 'अग्नि मीडे' आदि मन्त्र में देवतावाचक 'अग्नि' पद पड़ा हुआ है। इस का अर्थ प्रक्रियामात्र में अग्नि, नेता और परमात्मा लिया जावेगा। यहां पद तो एक ही है परन्तु अर्थ भिन्न भिन्न हैं। भिन्न अर्थों के होते हुये विषय निर्देश में चतुराई रखी गयी है कि सभी अर्थों को वह अपने में सन्निविष्ट किये है। परमेश्वर ने यह 'अग्नि" जो देवता है उसे इस ढंग पर रखा कि वह केवल अर्थ ही न होवे अर्थों को देनेवाला अर्थ का स्वामी होवे। इस लिये देवता निर्देश करते हुये परमेश्वरने ऐसे ही देवता को मंत्र में रखा जो कि अर्थों का पति हो और सभी अर्थ उस से प्रकरण के अनुसार आ सकें।

उपसंहृति—ऋषि के विचारों की ऊपर समालोचना की गयी और निम्न बातें उससे प्राप्त हुईं:—

(१) वेंदमन्त्रो का प्रतिपाद्य विषय देवता है। जैसे अग्नि आदि

(२) वेंदमंत्रों का विनियोज्य विषय देवता है--जैसे यज्ञ और यज्ञाङ्ग ।

(३) यज्ञ में वेदमन्त्र और परमेश्वर ही देवता हैं ।

देवता परिवर्तनीय है या नहीं

इस विषय पर विद्वानों में बड़ा ही विवाद है। कई एक कहते हैं कि देवता निश्चित है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता और बहुतों का विचार है कि देवता परिवर्तनीय है, वह नियत नहीं हो सकता। वास्तव में तथ्य क्या है यह विचारणीय है। प्रथम तो यह संगमनीय है कि परिवर्तन पक्ष वाले किस अभिप्राय से इस पद का प्रयोग करते हैं। यदि उनका तात्पर्य यह हो कि देवता नियत नहीं तो यह सर्वथा सम्मत और सिद्धान्तभूत बात नहीं, क्योंकि वेदों में बहुत से मन्त्रों के देवता नियत हैं। "अग्निमीडे पुरोहितम्" आदि मन्त्रों में देवता नियत और आदिष्ट देखा जाता, है इसमें किसी को संशय नहीं है, और यही हाल अधिकांश आदिष्टदेवताक मन्त्रों का पाया जाता है। यदि यह भाव लिया जावे कि मतान्तर से देवताभेद विवक्षित है तो ठीक ही है, क्योंकि प्रकरणभेद से दैवतभेद मन्त्रों का होता है। मन्त्र दो प्रकार के हैं:—आदिष्टदेवताक और अनादिष्टदेवताक। आदिष्टदेवताक मंत्रों में तो देवताभेद का अवसर बहुत थोड़ा ही आता है। बहुधा तो उनके देवता निश्चित ही हैं। यह अवसर याज्ञिक, आख्यानिक प्रकरण अथवा दैवतप्रकरण मे नैघण्टुक देवतावों के आपड़ने, कर्म की समानता, स्थान की एकता के कारणों से होता है अथवा एक दैवतपद का ही भिन्न अर्थ लेकर नामान्तर ग्रहण करने से भी देवताभेद दिखलाई पड़ता है। प्रकरणभेद और दैवतनाम पद के अर्थान्तर से भी ऐसे मन्त्रों में देवता-भेद दृष्टिगोचर होने लगता है। हां अनादिष्टदेवताक मन्त्रों में भेद पदे पदे पड़ सकता है। परन्तु प्रकरण के अनुसार कल्पना में वह भेद भी अभेदवत् ही होगा। ऐसे मंत्रों में दैवतनिर्णय का प्रकार यास्क ने बतला दिया है जो कि पूर्व दिखलाया जा चुका। यास्कप्रदर्शित नियमों और विकल्पों के आधार पर दैवतनिर्णय करने पर भी तो प्रकरणचतुष्टय के अन्तर्गत ही रहना पड़ेगा, उससे बाहर तो कोई देवता कल्पित किया नहीं जा सकता। यास्क ने 'कामदेवता स्यात्' कह कर दैवतकल्पना में स्वच्छन्दता दी है, परन्तु वह स्वच्छन्दता भी तो प्रकरणों में ही होगी, उसके बाहर उसका क्षेत्र नहीं। इन दृष्टियों से यदि देखा जावे तो मतवैभिन्य बहुत अंश तक दूर हो जाता है।

देवताभेद के विषय में उदाहरणरूप से ऋग्वेद ५।४२।१४ वें मन्त्र को उपस्थित किया जाता है। इस मन्त्र में 'इडस्पति' पद आया है। नियमतः सामान्यदृष्टि से 'इडस्पति' इस मंत्र का देवता होना चाहिए था। परन्तु बृहद्देवता के अनुसार इस मन्त्र का देवता भिन्न भिन्न आचार्यों के मत में भिन्न भिन्न है। शाकपूणि के मत में इस मन्त्र का देवता 'इडस्पति' है। गालव इस का पर्जन्य और अग्नि देवता मानता है। यास्क की दृष्टि से पूषा, शौनक की दृष्टि से इन्द्र और भागुरि की दृष्टि से वैश्वानर इसके देवता हैं। इस प्रकार एक ही मन्त्र के देवता के विषय में आचार्यों का यह मत भेद है। इससे यह निश्चय होता है कि देवता परिवर्तनीय और अनिश्चित है, ऐसा कई विद्वान् दिखलाते हैं। परन्तु यहां पर सूक्ष्मेक्षिकया थोड़ा सा विचार अपेक्षित है। 'इडस्पति' पद को लीजिए, इसमें 'इडः' का अर्थ अन्न, प्रजा और वर्षा ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार निकलता है। इसके पालन का कर्म जिसमें पाया जावे वह 'इडस्पति' है, यही इस पद का अर्थ है। शाकपूणि एक नैरुक्त था और वह दैवत विषय में लिङ्गज्ञान पक्ष का समर्थक था, अतः उसने नैरुक्त प्रक्रिया की कोई क्षति न देखकर आधिदैवत प्रकरण की दृष्टि से लिङ्गोक्त देवता ही स्वीकार किया। रहे शेष आचार्य उन्होंने अपने मत से अन्न आदि के पालन रूपी कर्म को जिसमें पाया उसे नामान्तर से देवता माना। वास्तव में यदि देखा जावे तो ये सभी 'इडस्पति' पद के अर्थ हैं अन्य कुछ नहीं। गालव के मत में अन्न का पालन कर्म पर्जन्य और अग्नि में पाया जाता है अतः उनके कर्मानुसार उन्हें इस मन्त्र का देवता माना। ये भी 'इडस्पति' पद के अर्थ हैं। पर्जन्य अग्नि का स्तुतिपाठक है, अग्नि और 'इड' का स्थानैकत्व है, इत्यादि सम्बन्ध भी इस विचार के कारण हैं। यास्क पूर्वोक्त कर्म को 'पूषा' में मानता है अतः उसने पूषा देवता बतलाया, यह भी उस मन्त्रगत पद का अर्थ विशेष ही है। पूषा, द्युस्थानीय होते हुये भी इन्द्रदेव का स्तुतिपाठक है। इन्द्र का सम्बन्ध पर्जन्य से है ही क्योंकि इनका स्थान एक ही है अतः इस समानता को लेकर यास्क ने पूर्वोक्त धारणा बनायी। शौनक और भागुरि के मत में क्रमशः इन्द्र और वैश्वानर देवता भी पूर्वोक्त कर्म के घटने के कारण स्वीकार किये गए। इन्द्र का पर्जन्य के साथ सम्बन्ध होने से पर्जन्य पक्ष को ही 'इन्द्र' नाम देकर शौनक ने अपना भाव दर्शाया। वैश्वानर अग्नि का साथी है अतः अग्नि न कह कर भागुरि ने उसे वैश्वानर पद से व्यवहृत किया। अन्न के पालन रूपी कर्म से भिन्न भिन्न दैवत का विचार आचार्यों ने रखा। यास्क के त्रिदेवस्थापन सिद्धान्त को लेकर यदि उसी के दिखाये मार्ग से विचार किया जावे तो पता चलेगा कि इडस्पति के कर्मान्वित अर्थान्तर पर गालव का विचार आधारित है, और उसके विचारका ही शब्दान्तर शौनक और भागुरि का विचार है। यास्क का विचार अपनी भिन्न प्रकिया की दृष्टि से है।

इसी प्रकार ऋ० ३ । ८ । १, मन्त्र का विचार है । इस मन्त्र में 'वनस्पति' दैवताभिधायक पद आया है । उसका अर्थ प्रकरणवश दो नैरुक्ताचार्य भिन्न भिन्न करते हैं । कात्थक्य के मत में 'वनस्पति' का अर्थ यूप है और शाकपूणि के मत में अग्नि है । पूर्वमत यज्ञ प्रकरण पर अवलम्बित है और दूसरा दैवत पर । अन्य कोई विशेष भेद नहीं । इस प्रकरण का आरम्भ करते हुये यास्क ने ऋ० १० । ११० । १० मन्त्र को उपस्थित किया । इस मन्त्र में वनस्पति, शमिता और अग्नि पद आये हैं । अग्नि के साथ देव पद लगा ही हुआ हैं । रहता है वनस्पति और शमिता पद । मन्त्र के पूर्वार्ध से प्रत्यक्ष वर्णन प्रतीत होता हैं और उत्तरार्ध से परोक्ष वर्णन क्योंकि पूर्वार्ध की क्रिया के साथ संबोधनान्त पद अन्वय खावेगा और उत्तरार्ध में प्रथमान्त पद का क्रिया से अन्वय बनेगा । मंत्र की स्थितियों के विचार से वनस्पति और शमिता अप्रत्यक्ष देवता मालूम पड़ते हैं और अग्नि प्रत्यक्ष देवता ज्ञात होता है । ये तीनों हवि को उपयुक्त बनावें, यह भाव मंत्र में पाया जा रहा है । हवि का सम्बन्ध अग्नि से तो साक्षात्रूप में है वनस्पति आदि से नहीं । अतः विचारणीय है कि वनस्पति क्या वस्तु है । इस पर कात्थक्य आचार्य कहते हैं कि वनस्पति यूप है । वे अपने पक्ष की पुष्टि में ३ । ८ । १ । मंत्रका उदाहरण देते हैं । शाकपूणि आचार्य "वनस्पति" अग्नि को मानता है और वह अपने मत की पुष्टि में ऋ० ४ । १३ । ७ का प्रमाण देता है । वह कहता है कि मंत्र में हविवहन कर्म का प्रतिपादन पाये जाने से अग्नि ही वनस्पति माना जाना चाहिए । जैसे इन मंत्रों में वनस्पति से अग्नि अभिप्रेत है वैसे ही यूपाञ्जनीय ऋचावों (३ । ८ । १ आदि) मे भी समझना चाहिए । यहाँ पर जो आचार्यों का मतभेद दिखलाई पड़ता है, वह वास्तविक नहीं, केवल प्रकरण से अर्थान्तरमात्र है । इसे ही दिखलाने के लिए बृहद्देवता ने ऐसा वर्णन किया । वास्तव में देवता तो दोनों के मत में वनस्पति ही है । याज्ञिक प्रकरण में वनस्पति=यूप देवता होगा और दैवत प्रकरण में वनस्पति=अग्नि देवता होगा । यास्क द्वारा वर्णित पृथिवी स्थानीयों में वनस्पति भी है अतः उसके नियमानुसार अग्नि अर्थ दैवत प्रक्रिया में लिया हीं जाना चाहिए । यह कहना कि मंत्र-गत पद ही देवता नहीं अर्थ भी देवता होता है कुछ विशेष नहीं उपस्थित करता । याज्ञिक अर्थ को प्रधानता न देकर अपनी प्रक्रिया के अनुसार पद को देवता मानता है और दूसरे अन्य प्रक्रियावों के अनुसार पद और अर्थ को देवता मान कर चलते हैं, अन्य कोई विशेष बात नहीं । फिर कोई कहे कि अग्नि, वैश्वानर और जातवेदा फिर भिन्न भिन्न देवता क्यों हैं ? इसका समाधान यह होगा कि यास्क ने कर्म की पृथक्ता से अपनी प्रक्रिया में इन्हें भिन्न-भिन्न कहा है । कर्मपार्थक्य से एक ही अग्नि के भिन्न भिन्न नाम हो गए ।

इसी प्रकार इन्द्र और महेन्द्र का भिन्न देवतात्व मीमांसकों की याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार है न कि वास्तविक, क्योंकि वे अभिधान मात्र को देवता मानते

हैं । विनियुक्त विषय भी देवता होता है अतः विनियोग से भी याज्ञिक प्रकरण में देवता की भिन्नता प्रकरणवश है ।

"नवो नवो भवति जायमानः ।" इस ऋग्वेदीय (१० । ८५ । १६) मंत्र के देवताविचार में भी मतभेद दिखलाई पड़ता है परन्तु पूर्वोक्त प्रकार से उसका भी समाधान बन जाता है । सर्वानुक्रमणी इसका चन्द्रमा देवता बतलाती है । तैत्तिरीय-संहिता बौधायन श्रौतसूत्र और सत्याषाढश्रौतसूत्र के अनुसार आदित्य देवता है । यास्क और वररुचि आदि के मत में चन्द्रमा देवता है । किन्हीं आचार्यों के मत में द्वितीय पाद का आदित्य देवता है। पूर्वोक्त सर्वानुक्रमणी और श्रौतसूत्र के मत का परस्पर भेद तो उन ग्रन्थों के वाक्यों से समाहित हो जाता है । वह इस प्रकार कि विनियोग की दृष्टि से कोई इसे चन्द्रमा देवताक मानता हैं और इस से चान्द्रमसचरु के विधान को दिखलाता है । दूसरे विनियोग की दृष्टि से आदित्यदेवताक मानते हैं और तत्सम्बन्ध से कर्म में विनियुक्त करते हैं । यहां पर परस्पर के भेद का कारण विनियोग है मन्त्रगत देवता-पद नहीं । रही बात यास्क की वह भी नैरुक्त प्रक्रिया से ठीक बन जाती है । चन्द्रमा पद देवतावाचक मंत्र में पड़ा है । मंत्रस्थ पदों का अन्वय उसके साथ घट जाने से वह कहता है कि इसका चन्द्रमा देवता है । जो लोग यह कहते हैं कि यास्क इस मन्त्र का चन्द्रमा और आदित्य दोनों देवता मानता है, यह वे ही जानें । उनका अपना मत भले ही हो, यास्क का तो यह मत नहीं मालूम पड़ता । यास्क तो उसे 'तस्यैषा भवति' कहकर चन्द्रमा के विषय में दिखला रहा है । हां उसने 'एके' कहकर द्वितीय पाद के देवता के विषय में अन्यों का मत दिखलाया है अपना नहीं । अन्यथा 'एके' कहने की आवश्यकता ही क्या थी । उसके इस कथन से ऐसा मालूम होता है, कई आचार्य ऐसा मानते हैं । उनके इस मानने का कारण भी ठीक ही है, क्योंकि इस मन्त्र के पूर्व १८ वें मन्त्र में सूर्य और चन्द्रमा दोनों का वर्णन है, अतः यहां पर भी दोनों का वर्णन हो सकता है । इस प्रकार इन आचार्यों के मत में इस मन्त्र के दोनों ही देवता हो सकते हैं । दोनों देवताओं का वर्णन होने पर भी नैघण्टुक और प्रधान भाव से एक देवता कहा जा सकता है ।

हां, दोनों देवताओं को मानने पर एक विचार यह उठ सकता है कि चन्द्रमा और आदित्य में स्थान का महान् अन्तर है फिर दोनों यहां एक साथ कैसे वर्णन किये गए ? इसका उत्तर यह है कि कर्म के कारण । आदित्य का एक कर्म रसों का धारण करना भी है जो कि चन्द्रमा में भी पाया जाता है । चन्द्रमा, वायु और सम्वत्सर सूर्य के पाठक हैं अतः उसके साथ आदित्य का वर्णन किया गया । वररुचि भी अर्थ चन्द्रमा परक ही करता है परन्तु आचार्यों के मत को दिखलाने के लिए 'आदित्य' के भाव को दिखला देता है । वास्तविक रूप से तो उसे भी चन्द्रमा देवता ही स्वीकृत मालूम पड़ता है । जो कुछ भी हो पूर्व भेदों का कारण विनियोग है । बाद के भेद

मन्त्र की स्थिति के कारण हैं। भेदविशेष का आभास होते हुए भी प्रक्रियावों के विचार से वास्तविक भेद नहीं।

इसी प्रसङ्ग में ऋ० ४।५८।३ मन्त्र भी विचारणीय है अतः यहां पर थोड़ा सा विचार उस पर भी किया जाता है। इस मन्त्र के देवतानिर्णय में पर्याप्त विचार सामने आते हैं। यास्क ने इसमें यज्ञ का वर्णन माना है और गोपथ ब्राह्मण से भी यही मत पुष्ट होता है। महाभाष्यकार ने इससे शब्दशास्त्र का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार इसमें शब्द देव का वर्णन है। सर्वानुक्रमणीकार ने इसका देवता, अग्नि, सूर्य, आपः, गौः अथवा घृतस्तुति स्वीकार किया है। बृहद्देवता भी इसमें कई प्रकार के भाव को व्यक्त करता है। उसके अनुसार मध्यमाग्नि ब्राह्मणों की दृष्टि से इस सूक्त का देवता आदित्य अथवा अग्नि है। कई एक के मतानुसार इसमें आज्य, जल, घृत की स्तुति और सूर्य का वर्णन है। इतने पर ही विश्राम क्यों लिया जावे आगे भी बढ़ना चाहिये, अतः यायावरीय राजशेखर ने काव्य मीमांसा में इस मंत्र में काव्यपुरुष का वर्णन मान कर साहित्य का विषय वर्णित दिखलाया है। भरत नाट्यशास्त्र के सन्दर्भों के अनुसार इसका प्रतिपाद्य विषय नाट्य-पुरुष होगा। ऋषि दयानंद ने उसे परमात्मा और जीवात्मा अर्थ में घटाया है। इस प्रकार यह मंत्र अनेक अर्थों में लाया गया और लाया जा सकता है। जो इस मंत्र पर जिस दृष्टि से विचार करता है वह वैसा ही अर्थ निकालता है। इसका कारण क्या है? प्रकरणभेद और गुणपद की रचना। प्रकरणानुसार इसका अर्थ भिन्न भिन्न लेकर आचार्यों ने इसे संघटित किया। दूसरा इसमें 'महान् देव' पद गुणपद पड़े हुये हैं। गुणपदों का विशेष्य प्रकरणानुसार कोई भी विषय हो सकता है। 'महान् देवः' यज्ञ भी हो सकता है और "महान् देवः" शब्द भी तथा इसके अतिरिक्त आत्मा परमात्मा अग्नि सूर्य आदि भी। यही कारण है कि इससे इतने अर्थ लिये गए। परन्तु भेद इसमें कुछ भी नहीं 'महान् देव' तो वैसे का वैसा ही बना हुआ है और वही सबका कल्पक है। प्रकरणों के अनुसार देवता भेद के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। याज्ञिक और नैरुक्तों में जो देवता का भेद दृष्टिगोचर होता है, वह प्रकरणवश है। ऋ० ७।३२।२६ 'इन्द्र क्रतुं न आभर', मन्त्र में 'इन्द्र' दैवत पद आया है। इन्द्र का अर्थ सूर्य भी है और इन्द्र का अर्थ वायु भी। याज्ञिक लोग इस मन्त्र में सूर्य अर्थ लेते हैं और नैरुक्त लोग अपने सिद्धान्तानुसार वायु अर्थ लेते हैं। यज्ञ में कर्म के सम्पादन की दृष्टि से याज्ञिकों के मत में इसका देवता सूर्य है और नैरुक्त मत में इसका देवता वायु है। आचार्य वररुचि ने यह ४।८३ में स्पष्ट दिखलाया है। यह भेद क्यों दिखलाया जा रहा है प्रकरण की दृष्टि से। इस प्रकार इन्द्र पद के अर्थों का भेद प्रकरण से लेकर देवताभेद दिखलायी पड़ने पर भी शौनक और कात्यायन ने इसका देवता इन्द्र ही माना है।

किसी किसी विद्वान् ने ऋ० १० । ६५ । १३ का सहारा लेकर उसके भाव को न समझते हुए १० । ६० सूक्त के देवता के विषय में अन्यथालाप किया है । वास्तव में यास्क का विचार उनके कथन की पुष्टि करता हुआ नहीं दिखलाई पड़ता । 'पावीरवी' पद १६ । ६५ । १३ में अन्य देवों के साथ आया है । यह मंत्र वैश्वदेव है । इसमें आये देवों के वर्णन और 'विश्वदेवाः' पद के होने से भी ऐसा ही सिद्ध होता है । यास्क ने 'एकपाद्' पद के उदाहरण के लिये यह लिखा है कि वैश्वदेवी ऋचा में इस 'एकपाद्' का निपात पाया जाता है । यह स्पष्ट ही है । यहां मंत्र में 'एकपाद' भी पड़ा ही है । अब मन्त्रगत 'पावीरवी' की व्याख्या यास्क ने करनी थी । वह इसका अर्थ इस प्रकार लेता है--पवि शल्य को कहते हैं, उसके समान पवीर=आयुध को धारण करने वाला इन्द्र ही पवीरवान् कहा जाता है । उस सम्बन्धी देवता वाक् पावीरवी है 'दिव्या वाक्' जो कि सभी वाणियों की विस्तारक है । यहां पर पावीरवी' का अर्थ दिव्यवाक् है और वह 'पवीरवान्' से सम्बन्ध रखती है । 'पवीरवान्' इन्द्र है, यह यास्क को अभिप्रेत है । जब तक पवीरवान् का अर्थ इन्द्र न हो तब तक यास्क की सारी व्याख्या गड़बड़ पड़ती थी । अतः उसने 'पवीरवान्' के अर्थ को दर्शाने के लिये ऋ० १० । ६० वें सूक्त के मंत्र 'अतितस्थौ' 'पवीरवान्' की प्रतीक देते हुए उद्धृत किया । वह 'पवीरवान्' पद की सिद्धि के उदाहरण में पूर्वोक्त सूक्त को दे रहा है न कि 'पावीरवी' उस सूक्त का देवता है यह बतलाने के लिये । अतः जो लोग यह भाव निकालते हैं कि यास्क मत से उस सूक्त का देवता पावीरवी है यह मंत्र के भाव और यास्क के अभिप्राय दोनों के विरुद्ध उनकी अपनी कल्पना मात्र है और उसके आधार पर सर्वानुक्रमणी का भेद दिखलाना भी नितान्त अनुपयुक्त है । रही बात यह कि सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता ऐक्ष्वाकु असमाति राजा की स्तुति देवता क्यों बतलाते हैं, इसका समाधान यह है कि वे आख्यान प्रकरण के आधार पर ऐसा कह रहे हैं । आख्यान कल्पित होता है और उस कल्पना के आधार पर यह दैवत वर्णन उन ग्रन्थों ने किया । यह उनके अलावा अन्य किसी कल्पित व्यक्ति की स्तुति में लगाया जा सकता है । यह तो औपचारिक वर्णन है, इससे दैवत में क्या विघ्न पड़ जाता है । थोड़ी देर के लिये यदि मान लिया जावे कि सूक्त का देवता 'पावीरवी'=दिव्यावाक् ही है तब भी इसका विरोध नहीं पड़ता है । स्तुति भी तो वाक् ही है । पूर्व १० । ६४ । १३ मन्त्र में इसका विशेषण तन्यतु ' पड़ा है । जिसका अर्थ यास्क अन्य वाणियों का विस्तारक मानते हैं । इसी अर्थ के आधार पर यदि इन ग्रन्थों में यज्ञप्रकरण या आख्यानप्रकरण के अनुसार किसी कल्पित द्रव्य की स्तुति मान ली तो क्या अनर्थ हो गया अथवा क्या विशेष भेद हो गया । इसी प्रकार अन्यत्र दिखलाई पड़ने वाले भेदों के विषय में भी समझना चाहिये ।

इस प्रकार संक्षेप में विचार किया गया। विचारानन्तर से यह निष्कर्ष निकलता है कि देवताभेद कहीं प्रकरणानुसार, कहीं पद का अर्थान्तर लेने, कहीं यज्ञकर्मों के सामर्थ्य की कल्पना, गौण प्रधान के भाव लेने, और कहीं विनियोग के कारण प्रतीत होता है, अन्य कोई विप्रतिपत्ति की बात इसमें नहीं देखी जाती। इनमें यज्ञप्रक्रिया और विनियोगों को ध्यान में रखने से अनेकों विस्तार देवता विषय में देखे जाते हैं। यदि यह कहा जावे कि दैवतनिर्णय का सारा पल्लवन और झगड़ा इस प्रक्रिया के कारण ही है तो कोई आपत्ति नहीं होगी। चूँकि इसमें भिन्न भिन्न कार्यों का सम्पादन करना अभिप्रेत होता है अतः तदनुसार ही देवताभेद भी बनाना पड़ जाता है। यह भाव यास्क के इस प्रमाण से और भी स्पष्ट हो जाता है। 'ओमासश्चर्षणीधृत' ऋग्वेदीय (१ । ३ । ७) मंत्र की व्याख्या यास्क ने निरुक्त १२ । ४० पर की है। वहां वह इस मंत्र को 'विश्वेदेव' लोगों के सम्बन्ध में विनियुक्त मानता है। मन्त्र में 'विश्वेदेवासः' पद भी पड़ा हुआ है। इसके अनन्तर विनियोग विषयक चर्चा का प्रारम्भ करते हुए यास्क लिखते हैं कि दाशतयी में सारी शाखावों में विश्वेदेव सम्बन्धी एक गायत्री छन्दोयुक्त तृच मिलती है, परन्तु यज्ञ में गायत्री छन्द से युक्त कई ऋचावों की आवश्यकता है. ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिये ?। समाधान करते हैं कि जो भी बहु देवताओं से युक्त मंत्र समूह है वह विश्वेदेव स्थान में प्रयुक्त हो सकता है। शाकपूणि आचार्य कहते हैं कि उचित यह है कि विश्वशब्दोपेत मन्त्रसमूह या सूक्त विश्वेदेवों के स्थान में प्रयुक्त किये जा सकते हैं न कि बहु देवता मात्र वाले मन्त्र। इस पर यास्क कहते हैं कि यह शाकपूणि का मत अनैकान्तिक है क्योंकि क्रियार्थ गायत्री छन्द से युक्त विश्वेदेव देवता वाला ही मन्त्र प्रयुक्त हो सकता है, उसी प्रकार के मन्त्रों से यज्ञ का प्रयोजन भी है;। परन्तु ऐसे मन्त्र पाये थोड़े ही जाते हैं। कर्म का परित्याग करना उचित नही अतः बहुदेवताक गायत्र मन्त्रों से विश्वेदेव सम्बन्धी कार्यों को चला लेना चाहिये। भूतांशकाश्यप ऋषि ने अश्विनियों के लिङ्ग से युक्त अनेक ऋचावों वाले सूक्त (ऋ० १० । १०६) का साक्षात् किया। जिनमें यह लिङ्ग नहीं हैं उन ऋचावों का भी अश्विनीदेवताकत्व ही उसने माना है। अभितष्टीय सूक्त (ऋ० ३ । ३८) में भी एक ही ऋक् इन्द्र देवता के चिन्ह वाली है परन्तु सारा सूक्त तदर्थ में विनियुक्त किया जाता है। इसी प्रकार की योजना पूर्वोक्त ढंग से वैश्वदेवकर्म में भी करनी चाहिये।

ऐसा करने से विनियोग से देवता की कल्पनामें कितना भेद हो जावेगा, यह विज्ञजन स्वयं विचार सकते हैं। इसी प्रसंग में प्रयाजानुयाजों को भी लीजिये। इन प्रयाजानुयाजों का देवता क्या है ? इस पर यास्क कहता है कि ये अग्नि देवता वाले हैं, ऐसा किन्हीं आचार्यों का मत है। इसकी पुष्टि में यास्क ने ऋ० १०।५१।९ मन्त्र को उपस्थित किया है। ब्राह्मणों के अनुसार कहीं प्रयाज आग्नेय हैं और अनुयाज भी।

कहीं इन का छन्दोदेवता, कहीं ऋतुयें और पशु, कहीं प्राण देवता और कहीं पर इनका आत्मा और परमात्मा देवता है। ऐसा भेद उपस्थित होने पर यास्क कहता है कि अग्नि ही इनका देवता है, अन्य सब भक्तिमात्र हैं। ब्राह्मण बहु-भक्तिवादी होते हैं। वे हवि जिस को दी जावे, या जो सूक्त का देवता हो इत्यादि विचारों से देवताओं का विचार करते हैं, अतः इस से भिन्न भिन्न देवता मन्त्रों के दिखलायी पड़ते हैं,। इस से यहां यह भी स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के बहुभक्तिवादी होने के कारण याज्ञिक प्रक्रियाओं में देवतावों का बड़ा भेद हो जाता है। वास्तव में देवता विचार की गहनता है भी याज्ञिक प्रक्रिया में ही। अन्य प्रक्रियावों में तो आसानी से देवता निर्णय हो जाता है और उस में भेदवाद को बहुत कम स्थान रहता है।

ऋग्वेदीय मंत्र '६। ३७। ३' पर यास्क ने विचार करते हुए देवताभेद प्रधानता और नैघण्टुकता के आधार पर दिखलाया है। वह कहता है कि कई आचार्य इस ऋक् को इन्द्र-प्रधान मानते हैं और वायु के कर्म को नैघण्टुक मानते हैं। कई एक उभय-प्रधान इस मन्त्र को दर्शाते हैं। मन्त्र में 'वायोः' पद पड़ा है परन्तु पूर्वोक्त आधार से यह दैवतभेद यहां पर उपस्थित हो जाता है। 'सोमं मन्ये पपिवान्' इस ऋग्वेदीय (१०। ८५। ३) मन्त्र में सोम पद आया है। अतः सोम इस का देवता निश्चित ही है। परन्तु प्रकरण का आश्रय लेकर सोम का अर्थान्तर करके यास्क कहते हैं—कि सोम भी अधियज्ञ और अधिदैव से दो प्रकार का है। अधियज्ञ में मन्त्र का देवता सोम है अधिदैव में चन्द्रमा देवता है। यहां पर प्रकरण के सहारे से सोम पद का अर्थान्तर गृहीत कर देवताभेद यास्क ने दिखलाया है। इतना ही नहीं, निरुक्त के दैवत प्रकरण में इस प्रकार के अनेक उदाहरण यास्क के मिलते हैं। द्रविणोदाः पद से (नि० ८। २. पर) शाकपूणि ने इन्द्र, क्रौष्टुकि ने अग्नि अर्थ लिया है। नि० ८। ५ पर 'इध्म' से कात्थक्य यज्ञेध्म, और शाकपूणि अग्नि अर्थ लेता है। तनूनपात् शाकपूणि के मत में अग्नि है और कात्थक्य के मत में 'आज्य' है नाराशंस, द्वार और वनस्पति पदों से कात्थक्य यज्ञ, यज्ञ-गृहद्वार, और यूप अर्थ लेता है, जब कि शाकपूणि के मत में इनसे अग्नि ही अर्थ अभिप्रेत है। 'त्वष्टा' को यास्क माध्यमिक मानता है और शाकपूणि अग्नि अर्थ में। देवी जोष्ट्री यास्क की दृष्टि से द्यावापृथिवी अथवा अहोरात्र है और कात्थक्य उनसे सरण्यू और सरमा का ग्रहण करता है ऊर्जाहुती के विषय में भी ऐसा ही वर्णन है। अथर्वा आदि देवगणों को नैरुक्त माध्यमिक देवगण मानते हैं परन्तु आख्यानविद् उन्हें पितर और ऋषि मानते हैं। अनुमति और राका को नैरुक्त दो देवपत्नियां मानते हैं परन्तु याज्ञिक इन्हें दो पौर्णमासियें मानते है। 'कुहू' को नैरुक्त दो देवपत्निये कहते हैं, याज्ञिक दृष्टि से वे दो अमावस्यायें हैं। सरण्यू को नैरुक्त माध्यमिक वाक् कहते हैं परन्तु ऐतिहासिक यम और यमी मानते हैं।

इस प्रकार भेद तो दिखलाई पड़ता है परन्तु यह है प्रकरण और पद के अर्थान्तर की दृष्टि से अन्य कोई विशेष बात इस में नहीं है।

याज्ञिक-प्रक्रिया और दैवतभेद

पूर्व बतलाया जा चुका है कि अध्यात्म प्रकारण मे दैवतनिर्णय में न तो विशेष काठिन्य है और न भेद का कोई स्थान है। अधिदैव में भी भेद नगण्य सा है और कोई विशेष अड़चन दैवतनिर्णय मे नहीं दिखलाई पड़ती है। ऐतिहासिक प्रकरण में भेद होता है, वह भी केवल कल्पना का। रहा याज्ञिक प्रकरण यही प्रधान परीक्षा का विषय है, इसमें विविध प्रकार के भेद और दैवतनिर्णयकी जटिलतायें हैं। यदि निरुक्त सर्वानुक्रमणी, बृहद्देवता, ब्राह्मणों आदि को देखा जावे तो सर्वत्र यज्ञ प्रकरणगत दैवत निर्णय मे ही जटिलता प्रतीत होती है। यास्क ने तो निरुक्त के उद्देश्यों को बतलाते हुए स्पष्ट ही कह दिया कि यज्ञ मे बहुत से दैवत विषय होते हैं जिनका निर्णय करना भी शास्त्र का उद्देश्य है। निरुक्त पर टीका करने वाला दुर्ग लिखता है कि याज्ञिक विधिमात्र प्रधान हैं, अतः वे अभिधानमात्र को देवता मानते हैं। यही कारण है कि उन के मत में नाना देवता बनते हैं। वह पुनः कहता है कि 'वायुर्वेन्द्रोवा' यहां पर एक या तीन देवता मानने वाले अध्यात्मवादी और नैरुक्तों के मत में संगति किस प्रकार लगेगी, यह विचारणीय है। याज्ञिकों के मत में कोई दोष आता ही नहीं, क्योंकि अर्थभेद होने पर भी उन के मतमें जितने शब्द हैं उतने देवता है। 'पृथग्धि स्तुतयो भवन्ति' इसे याज्ञिक पक्ष का सिद्धान्त दर्शाते हुये दुर्ग कहता है कि यज्ञ में स्तुतिनियम होता है और अभिधान नियम भी। इनसे दैवत में नाना भेद खड़े हो जाते हैं। इस भांति याज्ञिक प्रक्रिया में देवताओं के विविध भेद बनने से निर्णय में जटिलता आती है। जब अन्य प्रक्रियाओं को भी इसके साथ जोड़ दिया जावे तो मिली जुली अवस्था में यह कठिनाई और अधिक बढ़ जाती है। मन्त्र तीनों प्रकरणों में विचारे जाते हैं। तीनों प्रकरणों में दैवतचिन्ता भी होती है। ऐसी परिस्थिति में विचारक के सामने बहुत बड़ी कठिनाई आ जाती है। यही कारण है कि उबट, वैंकटमाधव और शौनक आदि को कहना पड़ा कि देवतातत्त्व का ज्ञान बडे तप से होता है अनृषि और अतपस्वी को इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। हम लोग इसके रहस्य को ठीक प्रकार खोल नहीं सकते। गुरुवों की कृपा, तर्क और शतपथ आदि ग्रन्थों के आधार पर हम कुछ इस विषय में कह सकते हैं। ऋ० १। १६४। ३९ मन्त्र बहुत ही प्रसिद्ध है परन्तु प्रकरणचिन्ता से उसमें विविध विचार आचार्यों ने दिखलाये हैं। यास्क मन्त्र को अक्षर की स्तुति में उद्धृत करता है। मन्त्र में भी अक्षर पद पड़ा है। परन्तु वह अक्षर है क्या? इस पर प्रकरणतः कई पक्ष आगए हैं। अधियाज्ञिक पक्ष में अक्षर का अर्थ है 'ओ३म्' वाणी, जो कि शाकपूणि आचार्य मानता है। अक्षर

का अर्थ आदित्य है ऐसा विचार शाकपूणि के पुत्र का है, यह पक्ष अधिदैव प्रकरण में है। अक्षर का अर्थ आत्मा है यह आत्मविदों का मत है; यह ही आध्यात्म प्रक्रिया है। इस विचार को देखते हुये देवता में प्रकरण से भेद आ जाता है। यहां पर यह थोड़ा सा विचार किया गया। विशेष बातें इस सम्बन्ध की लेख के पूर्वोक्त प्रकरणों से ज्ञात हो जावेंगी।

उपसंहार

पूर्वोक्त प्रकरणों में विविध प्रकार से देवता विषय में विचार किया गया। यथास्थान आचार्यों के विविध विचार भी दिखलाए गए। परिश्रम तो किया कि विस्तरशः विचार किया जावे। परन्तु हर एक व्यक्ति पूर्ण सर्वज्ञ नहीं। कई बातें अवश्य ही रह भी गयी होंगी। बहुत से विचारों पर होसकता है ध्यान भी न गया हो, फिर भी मार्ग निर्देश तो अवश्य किया गया। आगे विद्वज्जनों को विचार करना चाहिये। जो कुछ भी लिखा गया वह संक्षेप में है विस्तार से नहीं। लेख से अन्ततोगत्वा का क्या परिणाम निकलता है उसका यहां पर दिग्दर्शन कराया जाता है।

देवता आदिष्ट और अनादिष्ट दोनों प्रकार से मन्त्रों में पाये जाते हैं। मन्त्रों का प्रतिपाद्य और विनियोज्य विषय देवता है। इनका निश्चय प्रकरणचतुष्टय से होता है। अनादिष्टदेवता वाले मन्त्रों में कामाचार से देवता निर्णीत किया जा सकता है परन्तु वह भी प्रकरण के अन्तर्गत ही रहकर। यज्ञ में मंत्र और ईश्वर देवता है" याज्ञिक प्रकरणानुरोधेन अभिधान मात्र देवता होता है। यही संक्षेप से देवता विषय में विचार देखे जाते हैं॥

१२

क्या विनियोग अनादि हैं?

विनियोग के विना वेदमंत्रों के द्वारा कोई यज्ञ-याग संपन्न नहीं होता। वेदमंत्रो का कर्मकाण्ड में प्रयोग करना ही विनियोग है। किस मंत्र से क्या कार्य किस यज्ञ या कर्म में किया जावे— यह ही वस्तुतः विनियोग है। यह विषय विचारणीय है—क्योंकि सारे कर्मकाण्डों की आधारभित्ति इस पर आधारित है। इसके ठीक ठीक समन्वय न होने पर मंत्रों द्वारा किये जाने वाले कर्मों की वही स्थिति होती है जो बढ़ई द्वारा बनाई गयी उस वस्तु की होती है जिसके चूल पर चूल न बैठे हों। यज्ञ के लिये वैदिकसाहित्य में प्रयुक्त "अध्वर" और "मख" शब्द बहुत ही महत्त्व पूर्ण हैं। अध्वर इस का नाम इस लिये है कि इसमें हिंसा नहीं की जाती "ध्वर" का अर्थ हिंसा है। निरुक्त के अनुसार "ध्वरतिर्हिसाकर्मा" हिंसार्थक है। जिस मे "ध्वर"=हिंसा न हो वह अध्वर है। दूसरा शब्द "मख" है। "मख" में 'ख' नाम छिद्रका है। अर्थात् दोष ही छिद्र हैं और उन्हें 'ख" कहा गया है। "म" शब्द का अर्थ प्रतिषेध है। अर्थात् जिसमें कोई छिद्र एवं दोष न हों ऐसे कर्म यज्ञ को मख कहते हैं। गोपथ ब्राह्मण उत्तरार्ध २।५.में लिखा है कि—मख इत्येतद्यज्ञनामधेयं छिद्रप्रतिसेध-सामर्थ्यात्, छिद्रंखमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः॥ अर्थात् मख यज्ञ का नाम है और उसमें ख छिद्र का वाचक है तथा 'मा" उसका प्रतिषेधार्थक है। 'इन्द्र' चूकि यज्ञ का महान् देवता है इसी लिये उसे "मघवान्" कहते हैं। "मघवान्" शब्द पर शतपथ १४।१।१।१३ में लिखा है कि "मख" नाम विष्णु एवं यज्ञ का है। यज्ञ वाला अर्थात् यज्ञ का प्रधान देव होने से इन्द्र "मखवान्" है। इस 'मखवान्" को ही लोग परोक्ष में "मघवान्" कहते हैं। इस से यह बात स्पष्ट हो गयी कि 'मख" जो यज्ञ हैं उस में किसी प्रकार का छिद्र नहीं रहना चाहिए। ये छिद्र देवता, छन्दः, उच्चारण, दक्षिणा, विद्वानों आदि के अभाव तथा कर्म और हवि आदि तथा विनियोग में किसी प्रकार का दोष रहजाने से पैदा होते हैं. इन का सर्वथा निवारण करना ही यज्ञ को ठीक ठीक करना है। यज्ञ के मुख्य देवता का प्रश्न उठाकर गोपथ उ० ३।२३ पर यों कहा गया है—कि तदाहुः किन्देवत्यो यज्ञ इति ऐन्द्र इति ब्रूयात्— अर्थात् किस देवतावाला यज्ञ है— इन्द्र देवता वाला- ऐसा कहना चाहिए। यज्ञ में छिद्र न होने पावे- इसी भाव को लेकर शतपथ ब्राह्मण ९।८।९।२८ में लिखा है कि यज्ञ की रक्षा तब होती है जब विद्वान् वेदज्ञ ब्राह्मण इसे कराते करते हैं। इस पर पुनः शतपथ ९।६।३।२८ में एक आख्यान मिलता है कि- यज्ञने कहा कि मै नग्नता से डरता हूँ। फिर तेरी अनग्नता

क्या है-अर्थात् मुझे चारों तरफ से घेरना चाहिए। इस लिए चारों तरफ से इसे अग्नि से घेरा जाता है। यज्ञने कहा कि मैं तृष्णा से डरता हूं। फिर किस प्रकार की तृप्ति तुम्हारी होगी-अर्थात् विद्वानों की तृप्ति से मेरी तृप्ति होगी। अतः यज्ञ में विद्वान् की तृप्ति होने से यज्ञ की तृप्ति होती है। यह एक उपलक्षणमात्र से उदाहरण है। वस्तुतः यज्ञ के सभी अङ्गों के पूर्ण होने में यज्ञ की पूर्णता है। इस लिये विनियोग ऐसा होना चाहिए कि कोई दोष यज्ञ में न आने पावे। इसी भाव से यजुःसर्वानुक्रम मे कहा गया है कि गायत्री आदि छन्दों और देवता आदिकों के ज्ञान के विना जो यज्ञ आदि इन मन्त्रों से कराता है उसको सफलता इन कार्यों में नहीं प्राप्त होती है। सर्वानुक्रमणी के वचन ये हैं--गायत्र्यादीनि एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति, यजते याजयते--तस्य ब्रह्म निर्वीर्यम्। इस प्रकार भाव यह स्पष्टतया निकला कि विनियोग पर बहुत कुछ आधारित है और वह ठीक ठीक होना चाहिए।

यज्ञ और उसका उद्गम

विनियोग पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के लिये यह उपयोगी है कि यज्ञों के उद्भव पर विचार कर लिया जावे। वेदमंत्रों के अर्थ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधियाज्ञिक भेद से तीन प्रकार के हैं, यह सुधीवर्ग को विदित ही है। इन में प्रथम दो ज्ञान सम्बन्धी हैं और तीसरा प्रयोग सम्बन्धी है। ज्ञान विना प्रयोग के पूरा नहीं होता है। अतः जहां दोनों अर्थों की महत्ता और आवश्यकता है वहां इस तीसरे यज्ञार्थ की महत्ता और आवश्यकता भी है। ऋग्वेद १०। ६९। ५-वाचं शुश्रुवान् अफलामपुष्पाम्" इस मंत्र में इन तीनो पक्षों का बीज मिलता है। यास्कने निरुक्त १।१५ पर लिखा है कि वेदवाणी का पुष्प और फल-यज्ञ और दैवत अथवा दैवत और अध्यात्म हैं। इस वचन से यज्ञार्थ भी वेदमंत्रों का है यह सुतराम् स्पष्ट बात है। फिर यह भी यहां मानना ही पड़ेगा कि यज्ञ भी वेदों से ही निकले। मंत्रों के अर्थ की संगति के लिए आचार्यों ने चार प्रकरण माने हैं-यज्ञ, दैवत, अध्यात्म और नित्येतिहास। उन में भी यज्ञ एक प्रकरण है और उसका भी उद्भव वेदमंत्रों से ही है। इसके अतिरिक्त विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वैदिक-सृष्टि-विज्ञान और सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम यज्ञ पर आधारित हैं। प्रकृति से महत्तत्त्व और उसके तन्मात्राओं तक के कार्य जब उत्पन्न हो जाते हैं तब पीछे देवों के यज्ञ द्वारा सृष्टि का विकास चलता है। यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः। ऋ० २। ३। २३, का यह मंत्र इसी भाव को व्यक्त करता है। देवा यद्यज्ञस्तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्--यजुः ३१। १५ का यह मंत्र भी उसी भाव पर प्रकाश डालता है।

वेदो में विराट् की उत्पत्ति का वर्णन इस महान् यज्ञ के रहस्य का प्रतिपादक है। विश्वमें दैवी शक्तियें का महान् यज्ञ होकर सृष्टि का उत्पादन होता हैं। संसार की कारणभूत सभी दैवी शक्तियां इस यज्ञ का संपादन करती हैं और वह यज्ञ बराबर चल रहा है। वैदिक छन्द भी उसमें वेपनो के रूप में विद्यमान हैं। इस महान् सृष्टियज्ञ को मनुष्य कर नहीं सकता वह तो उसकी प्रतिकृति के रूप में अपने यज्ञों का विस्तार करता है। यज्ञ तो परमेश्वर का संसार में चल रहा है। वह ही यज्ञ का कर्त्ता है। हम मानव यज्ञ करते नहीं अपितु उस यज्ञ को देखकर अपने इन- छोटे यज्ञों को उसमें मिलाने के लिए उनका विस्तार करते हैं। ऋग्वेद १० मंडल का १३० सूक्त इस संसार-यज्ञ का बहुत विशद वर्णन करता है। उसका प्रथम मंत्र इस विस्तृत यज्ञ पर स्पष्टतासे प्रकाश डालता है। मंत्र इस प्रकार है - यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्ततः एकशतं देव-कर्मेभिरागमत्। इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयाप वयेत्यासते तते॥ इस विराट् रूपी महान् यज्ञ को ३४ देवता फैला रहे हैं — इसका वर्णन यजुर्वेद ८। ६१ में मिलता है। मंत्र इस प्रकार है— चतुस्त्रिंशत् तन्तवो ये वितत्निरे य इमं यज्ञं स्वधया ददन्ते॥ अगले ६२ वें मंत्र में बतलाया जाता है कि यज्ञ का ही दोह= रस या शक्ति चारों ओर फैला है। वही अष्टधा दिशावों और तद्गत पदार्थों को विस्तारित करता है। यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सो अष्टधा दिवमन्वाततान-इत्यादि। इस चलते हुए महान् यज्ञ से संसार के सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं। प्रसिद्ध पुरुष सूक्त इस यज्ञ के रहस्य पर विशेष प्रकाश डालता है। यह वैज्ञानिक रहस्य को खोलने वाला है। यास्क ने "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः- इस मन्त्र पर लिखा है द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः—पूर्वं देवयुगमित्याख्यानम्—अर्थात् द्युलोक में रहनेवाले देवगण ही यहां पर निरुक्तकारों को देव शब्द से अभिप्रेत हैं। कल्पित इतिहास की दृष्टि से पूर्व सृष्टि का प्राक्कालिक देवयुग है। इस देवयुग का वैज्ञानिक वर्णन 'देवानां पूर्वे युगे असतः सदजायत्" इस ऋग्वेदीय १०। ७२। मंत्र तथा इस पूरे सूक्त से मिलता है। अदिति=प्रकृति से किस प्रकार देवें= विश्वशक्तियें की उत्पत्ति हुई और पुनः इन्होने इस संसारके महान सत्र को कैसे चालू किया इसका मनोज्ञ वर्णन वेदों में मिलता है।

इस महान् यज्ञ की नक़ल करते हुए हम अपने यज्ञों का विस्तार करते हैं। हम यज्ञ करते नहीं— यज्ञ करता तो परमेश्वर है— हम केवल विस्तार करते हैं। यही कारण है कि यज्ञ के साथ 'कृञ्' का प्रयोग नहीं मिलेगा। सर्वत्र वेदों में "तनु" धातु का ही प्रयोग मिलेगा। येन यज्ञः तायते-यजुर्वेद ३४। ४, देवा यज्ञस्तन्वानाः, यजुः ३१। १५, य एष यज्ञस्तायते; श० ५। २। २ यज्ञमेतत् वितनोति श० १। ९। ९। १२; तस्मै त्वया यज्ञं वितन्वते ऐ० १। १। ४ देवा वै यज्ञमतन्वत-ऐतरेय ६। २। ७-इत्यादि स्थलें में सर्वत्र विस्तृत करने की ही

बात लिखी है, ये यज्ञ मनुष्यों द्वारा विस्तारित किये जाते हैं उस महान् यज्ञ में बैठाने के लिये। यदि इन मे कोई कमी रह जावे तो फिर ये उसमें अच्छी तरह बैठ नहीं सकते। मनुष्य इन यज्ञों का विस्तार किस प्रकार करता है इस की धारणा वेद इस प्रकार देता है। यज्ञे यज्ञे स मर्त्यो देवान् त्सपर्यति। यः सुम्नैर्दीर्घश्रुत्तम आविवासत्येनान् ऋ. १०। ८३। २ अर्थात् जो मनुष्य ज्ञान से श्रोत्रिय हो जाता है वह यज्ञों में इन देवों का संगतिकरण करता है अथवा इन्हें तुष्ट करता है। इस मंत्र से देवों को यज्ञ – देवता बनाकर प्रयोग करने और यज्ञ को करने की भावना मिलती है। विष्णु यज्ञ का महान् देव है और महान् शक्तियों की प्राप्ति के लिये उसके निमित्त यज्ञ का विस्तार किया जाता है, इस उद्देश्य को अथर्ववेद १७। १। १८ में इस प्रकार दिखलाया गया है,। त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः। तुभ्यं यज्ञो वितायते तुभ्यम् जुह्वति जुह्वतस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायाम् मा धेहि परमे व्योमन् ॥ हे विष्णु तूही इन्द्र आदि है। तेरे लिये ही यज्ञों का विस्तार होता है। तुम्हारे निमित्त यज्ञ करने वाले विविध शक्तियों को प्राप्त करते हैं। इस मंत्र से प्रेरणा मिलती है कि विष्णु देवता के निमित्त यज्ञ करना चाहिए कही हुई सफलतावों की प्राप्ति के लिए। यज्ञ में देवतावों को निश्चित कर के यज्ञ करना चाहिए। विना देवता के यज्ञ नहीं हो सकता-यह दृष्टि अथर्ववेद १९। ५७। ६ में लिखे निम्न मंत्र से मिलती है। यो देवानामृत्विजो ये च यज्ञिया येभ्यो हव्यं क्रियते भागधेयम्। इमं यज्ञं सहपत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम् ॥ अथर्ववेद १९। १। १ २ मे पुनः यज्ञ भाव मिलता है कि इस यज्ञ को वाणी को बढाते हुये अर्थात् मंत्रोच्चार के साथ हवि से हम पूर्ण करें। इस से मंत्र बोल कर ही हवि से यज्ञ करने का विधान व्यक्त होता है। मन्त्र इस प्रकार है- यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संश्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ अथर्व १५। ६। १४-१५ में आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान, आदि का वर्णन आया है। वहीं पर नवें मंत्र में ऋचायें, यजुः साम और ब्रह्म का भी वर्णन मिलता है। पुनः अथर्ववेद के उच्छिष्टसूक्त ११। ७। ५-१२ मंत्रों में-यज्ञाङ्ग, राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अर्क. अश्वमेध, अग्न्याधेय, दीक्षा उत्सन्न यज्ञ, सत्र अग्निहोत्र, दक्षिणा, इष्ट, पूर्त, एकसत्र, द्विरात्र, चतूरात्र, पञ्चरात्र, षड्रात्र षोडशी, विश्वजित्, सह्वातिरात्र, प्रतीहार. अभिजित् तथा द्वादशाह आदि यज्ञों, यज्ञाङ्गों का वर्णन मिलता है। इस के बाद फिर अथर्व ७। ५४। १ में ऋक् और साम से कर्मों को करने का वर्णन मिलता है। यहां यह स्पष्ट हो जाता हैं कि मंत्रों से ही यज्ञों को करना चाहिए। मंत्र उदाहरण के लिये इस प्रकार है— ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते। एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥

अथर्ववेद २० । १५ । ४-इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो० ॥ मे यह बतलाया गया है कि हम अपने सभी शुभ कार्यों को परमेश्वर के नाम के साथ प्रारंभ करें । यह ही मंत्र संस्कार आदि शुभ कार्यों में ईश्वरस्तुति आदि करने का ज्ञापक मालूम पड़ता है । ऋग्वेद ८ । १९ । ५ - यः समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्त्तो अग्नये । यो नमसा स्वध्वरः--में बतलाया गया है कि जो मनुष्य समिधा से, आहुती से और वेद से अग्नि मे यज्ञ करता है वह आगे बतलाये ६ ठें मंत्र के अनुसार अश्व, यश आदिको प्राप्त करता हैं और उसके इंद्रियजन्य तथा शरीरजन्य अयश और बुराइयां नही होतीं । इस मंत्रका अर्थ संग्रहात्मक करने से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि वेदमंत्रो, आहुति और समिधा से यज्ञ का संपादन करने से महान् फल होता है । कृष्ण का गीता मे यह कहना भी सार्थक ही है कि यज्ञ के साथ परमेश्वरने प्रजा को सर्जन कर कहा कि इस को वह करके अपने शुभ कामनावों की पूर्त्ति करे । समिधा अग्निं दुवस्यत धृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन अर्थात् समिधा से अग्नि को जलावो, घृत से प्रतिबोधित करो और पुनः इसमें सामग्री डालो । यह मंत्र भी यज्ञ करने के प्रकार को बतलाता है । ऋग्वेद १० । १२८ । ७ में लिखा है कि इस यज्ञ की आश्विनी; बृहस्पति आदि देवगण रक्षा करें तथा यजमान की भी रक्षा करें। मंत्र निम्न प्रकार है— इमं यज्ञमश्विनोभा बृहस्पतिर्देवाः पान्तु यजमानं न्यर्थात्० । ऋग्वेद २ । ११ । २१ मे बृहद्वदेम विदथे सुवीराः" वाक्य आया है । इस का अर्थ यह है कि हे इन्द्र यज्ञ में उत्तम सन्तानवाले हम तेरा गुणगान करें । इस प्रकार इन पूर्वोक्त प्रमाणों के साथ विचार करने पर विषय का परिणाम यह निकलता है कि यज्ञों का उद्‌भव वेदों से हुआ । हम संसारी यज्ञ का ही विस्तार करते हैं और वह हमारा वेदो-द्‌भूत यज्ञ वेदमंत्रों द्वारा ही होता है ।

विनियोग का प्रारंभ कैसे हुआ ?

वेदों में यज्ञ का विधान है और उन्हें वेदमंत्रों से करना चाहिए तथा उनमें देवतावों का ठीक ठीक सन्निवेश होना चाहिए तभी वे करने वाले के चाहे फलों को सफल कर सकेंगे इत्यादि बातों का परिज्ञान हो जाने पर इन यज्ञों, यज्ञाङ्गों और कर्मो में किस प्रकार मंत्रों का सम्बन्ध जोड़ा जावे-यह विचारधारा उठी । वेदज्ञ ऋषियों ने मंत्रो का सम्बन्ध उनकी भिन्न भिन्न क्रियावों के साथ जोड़ा । वेही आज विनियोग कहे जाते हैं । यज्ञ की प्रक्रिया को सिद्ध करने के लिये याज्ञिक विद्वानों ने तीन प्रकार के यज्ञ-विज्ञानो का वेदों से अनुसंधान किया । वे हैं - मंत्र, कल्प और ब्राह्मण । इन में से कल्प वेद के षडङ्गा-विज्ञानों मे भी आता है । जैसे ज्योतिष आदि विज्ञान हैं वैसे ही ये कल्प भी विज्ञान है । इस विज्ञान का कार्य मन्त्र और उसके अर्थ का सम्बन्ध देखकर कर्म में उसके

उद्देश्यानुसार विनियुक्त करना। मंत्र से तात्पर्य संहितामंत्रों से है। वे जब तक संहितारूपमें हैं तब तक पद, वाक्य-छन्द आदि का स्पष्टीकरण न होने से यज्ञ में प्रयुक्त नहीं हो सकते। छन्दः आदि की दृष्टि से मंत्रों का वह विभाग मंत्र है जो यज्ञ मे अपने तात्पर्य को बतलाने में समर्थ हो। अर्थात् वेदमंत्र। कल्प वह विज्ञान है जिससे मंत्रों का कर्मों मे विनियोग किया जाता है। ब्राह्मण वह विज्ञान है जिससे यज्ञ के रूप की समृद्धि उसके उद्देश्य की सिद्धि और उसकी प्रशंसा द्वारा उसके प्रति लोगों मे श्रद्धा उत्पादन का कार्य होता है। प्रायः अर्थवाद इसी उद्देश्य को पूरा करते हैं। चतुर्थी व्यावहारिकी वाणी को इनके साथ मिला कर याज्ञिक लोग "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि- का अर्थ इन्ही को लेते थे। निरुक्त दैवत काण्ड में दस वें मंत्र पर याज्ञिक मत को देखने पर यही धारणा बनती है—मंत्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः—ये यास्क के शब्द हैं। यहां यह सन्देह होगा कि ब्राह्मण आदि का भी वेद में होना इससे सिद्ध होगा। इसका समाधान यह है कि ये विद्यायें हैं—प्रसिद्ध ब्राह्मण और कल्प आदि ग्रन्थ नहीं। जैसे ज्योतिष का अर्थ ज्योतिष का पुस्तक नहीं ज्योतिषविज्ञान है और उसका वर्णन वेदों में मिलने से ज्योतिषग्रन्थों का वर्णन नहीं माना जाता, वैसे ही कल्प का वर्णन होने से कल्पविज्ञान का वर्णन होगा न कि कल्पसूत्रों का। यह वह विज्ञान है जिसके आधार पर कल्पशास्त्र की रचना हुई है।

यदि ऐसा न होता तो ब्राह्मण आदि शब्दों का वर्णन वेद में नहीं आना चाहिये था, परन्तु अथर्व १५। ६। ११ में इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी आदिका वर्णन मिलता है। तथापि इससे इन प्रचलित इतिहासों ग्रहण नहीं। इतिहास से तात्पर्य देवों से सृष्टि किस प्रकार पैदा होती है इसका विज्ञान। पुराण के अर्थ सृष्टिविज्ञान के हैं। गाथा वे ऋचायें हैं जो संवाद के रूप में मालूम पड़ती हैं और व्यक्तिविशेष से सम्बन्ध नहीं रखतीं। नाराशंसी वे मंत्र हैं जिनमें मानव-सम्बन्धी बातें कही गयी हैं। ये भी व्यक्तिविशेष से सम्बन्ध रखने वाले नहीं। नाराशंस नाम यज्ञ का भी है। ऐसे सभी मंत्र नाराशंसी कहलावेंगे। ऐसे ही पूर्वोक्त कल्प और ब्राह्मण के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इस विषय में संशय न रहे इस लिये पुराण का अर्थ उदाहरणतः मै अथर्ववेद से दे देता हूं। अथर्व ११। ८ का ७ मंत्र इस प्रकार है-येत आसीद्भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद्विदुः। यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्। पुनः अथर्ववेद ११। ७। २४ में "पुराणं यजुषा सह, पाठ आया है। कहनेका तात्पर्य यह है कि पुराण से सृष्टिविद्या अभिप्रेत है। यजुर्वेद का ३१, ३२ वां अध्याय पुराण विज्ञान है, इससे यह समझना चाहिए कि पूर्वोक्त ये कल्प, और ब्राह्मण एक प्रकार के विज्ञान हैं। यज्ञ में इन विज्ञानो का तात्पर्य है।

कल्प और ब्राह्मण विज्ञानो को जानने वाले ऋषियों ने कल्पशास्त्र और ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनमें यज्ञ के समृद्ध करने के सभी प्रकारों को उन्होने बताया।

साथ ही साथ मंत्रों का विनियोग निर्धारित किया। यास्क कहता है कि "पुरुषविद्या-नित्यत्वात् कर्मसंपत्तिर्मंत्रो वेदे—अर्थात् पुरुष की विद्या अनित्य होने से कर्म की सिद्धि करने वाले मंत्र वेद में हैं। अतः इन मंत्रों से कर्मसिद्धि कल्पकारोंने की। उवट कहीं का प्रमाण उद्धृत करता है कि "तत एतं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यत् यद्दर्शपौर्णमासौ -अर्थात् परमेष्टी प्राजापत्य ने जो यज्ञ देखे वे ही दर्शपौर्णमास हैं। पुनः वह दूसरा प्रमाण देता है 'प्रजापतिः प्रथमां चितिमपश्यत्—प्रजापति ने प्रथम चिति को साक्षात् किया। इस से यह ज्ञात होता है कि ऋषियों ने मंत्रों में यज्ञों का अनुसंधान कर मंत्रों के विनियोग निर्धारित किये। यजुर्वेद के प्रथम द्वितीयाध्याय दर्शपौर्णस के हैं। यह विनियोग से भी मिलता है। मुण्डकोपनिषद् में ठीक ही लिखा है कि "मंत्रेषु यानि कर्माणि कवयोऽपश्यन् तानि त्रेतायाम् वहुधा सन्ततानि--अर्थात् वेदमंत्रो में क्रान्तदर्शियों ने जिन कर्मों का साक्षात् किया वे त्रेता में विस्तारित किये गये। इस प्रकार विनियोग मंत्रो में देखे गये कर्मों के साथ किये गये। इन मंत्रो की भी संज्ञा चार प्रकार की याज्ञिकों ने बांधी है जो श्रौतकर्म में बोले जाते हैं।- करण मंत्र, क्रियमाणानुवादि-मंत्र अनुमंत्रण और जपमंत्र,। कल्पकारों के द्वारा इस प्रकार की मर्यादा खड़ी की जाने पर याज्ञिक विनियोगों का अत्यधिक प्रचार हुआ। प्रातिशाख्य, व्याकरण और मीमांसा आदि को याज्ञिकों के इस नियम को स्वीकार करना पड़ा है। प्रकृतिस्वर, तान अथवा भाषिकस्वरों का भेद करना कल्पकारों की यज्ञप्रक्रिया के महत्व स्वीकार कर के ही हुआ है। अष्टाध्यायी का " यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु " यजुःप्रतिशाख्यका का " तान ऐकस्वर्यम् " कात्यायन के श्रौतसूत्र से इस विषय में समता खाते हैं। कात्यायन ने भी अष्टाध्यायी के एक श्रुतिको अपने श्रौतसूत्र के परिभाषा प्रकरण में दिखलाया है। दोनो वेदाङ्ग यहां पर एक दूसरे के समर्थक हैं। मीमांसा मे भी एकश्रुति स्वर का यज्ञमें विधान माना गया है। यास्कने विनियोगों का वर्णन नहीं किया। कारण यह है कि यह उसके शास्त्र के विषय नहीं। अर्थ से विनियोग की निर्धारणा में सहायता मिलती है परन्तु विनियोग अर्थ करने मे परम सहायक हो यह ठीक नहीं। विनियोग को लेकर वेदमंत्रों के अर्थ लगाने वाले आचार्यों को इसी लिये धोखा भी खाना पड़ा है। यहां पर यह स्मरण रखने की बात है कि " ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्॥ इस ऋग्वेदीय १०।१।११ पर यास्क का इति ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे " वाक्य विनियोग का वर्णन नहीं करता। यहां विनियोग का अर्थ ऋत्विजों का कार्य है। जो कार्य ऋत्विजों का है उसका यहां वर्णन है। विनियोग तो तव होता जव इस मंत्र से ऋत्विजों की नियुक्ति की जाती। " कर्मणां विनियोगम् " यहां इसी अभिप्रायसे यास्क ने षष्ठी का प्रयोग किया है अन्यथा कर्माणि विनियोगम्--ऐसा लिखना चाहिए था। यह मंत्र जिस सूक्त का है वह सूक्त भी विनियोगरहित है। फिर यहां विनियोग का प्रसंग ही क्या है। कल्पसूत्रकारोंने भी कर्मों के भेद से मंत्रों के विनियोग में भेद किये हैं। गृह्यकर्मों का गृह्यसूत्रों में वर्णन है और श्रौतकर्मों का श्रौतसूत्रों मे। जो मंत्र

गृह्यसूत्रों में एक कार्य में विनियुक्त हैं वही श्रौतों में उनसे भिन्न कर्मों में विनियुक्त हैं। एक ही वेद या शाखा से ये दोनो कर्म उन्ही मंत्रों के भिन्न भिन्न विनियोगों के आधार पर संपन्न किये गये हैं। शाखावों के भेद से इन गृह्यसूत्रों और श्रौतों के विनियोगों मे भी भेद है। इसी प्रकार ऋग्वेदीय और यजुर्वेदीय आदि भेदों से भी इन कल्प ग्रन्थों के विनियोगों में भेद है। वानप्रस्थ सन्यास, आदि न श्रौत औरन गृह्य हैं ये स्मार्त हैं-अतः इन की क्रियावों का विनियोग इन दोनो प्रकार के सूत्रों से अतिरिक्त धर्मसूत्रों के नियम को स्वीकार कर किया गया है। यहां अन्त में परिणाम यह समझना चाहिए कि ऋषियों ने वैदिक यज्ञों को अर्थानुरोधेन देखकर उनके साधक कर्मों में मंत्रों का विनियोग किया है जो कल्पसूत्रों और ब्राह्मणों में मिलते हैं।

देवतावों के भेद से विनियोग का भेद एवं विनियोगों से देवताभेद

देवता क्या हैं इसका लक्षण करने वाले जो बचन प्राप्त हैं वे निम्न हैं:-

१. यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति- निरुक्त दैवतकाण्ड की भूमिका।
२. अर्थमिच्छन् ऋषिर्देवं यमाहायमस्त्विति प्राधान्येन स्तुवन् भक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव सः। बृहद्देवता १। ५
३. या तेनोच्यते सा देवता-कात्यायन सर्वानुक्रमणी २। ४
४. यत्काम ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा वा भवति—यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छता स्तुतिः प्रयुज्यते- अथर्ववेदीया सर्वानुक्रमणी
५. अपि वा शब्दपूर्वकत्वात् याज्ञकर्म प्रधानं स्याद्गुणत्वे देवताश्रुतिः। मीमांसा ९। १। ४
६. यस्यै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यते-२१०९। ४। २। १४
७. यां वै देवतामृगभ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता सर्क् सा देवता तद्यजुः। शतपथ ६। ५। १। २
८. यस्य हि शब्दो हविषा तादर्थ्येन सम्बध्यते सा देवता। शबरभाष्य १०। ४। ३

इन सभी लक्षणो को विचारने पर ४ पर्यन्त आये लक्षणो से यह भाव निकलता है कि वेदमंत्र का प्रतिपाद्य विषय देवता है और विनियोज्य विषय भी। ५, ६, ८वें का तात्पर्य हैं कि विधि शब्दमात्र, जिसके साथ हविः का सम्बन्ध है देवता हैं। ७ का भावार्थ है कि मंत्र का अर्थ देवता है मंत्र भी स्वयं देवता हैं। यास्क के लक्षण में उस के दैवतकाण्ड मे कहे गये सभी वाद-अर्थात् मंत्रका विषय देवता, विनियोज्य विषय देवता, यज्ञ, यज्ञाङ्ग देवता, प्रजापति, यथाकाम, नाराशंस, विश्वेदेव प्रायोवाद आ जाते हैं। अथर्ववेदीय सर्वानुक्रमणी के प्रमाण से केवल विनियोज्य विषय ही देवता ठहरता है। मीमांसा आदि भी शब्दमात्र को देवता मानते हैं। इस प्रकार

देवतावों में भेद होना स्वाभाविक है। देवतावों से मंत्र के विनियोग मे भेद हो सकता है और विनियोग से देवता मे भी भेद हो सकता है। यह देवतावों का सारा भेद यज्ञप्रक्रिया में ही है क्योंकि वहां शब्दमात्र देवता है। ऋषि दयानन्द इन सबको मानते हुये भी यह मानते हैं कि परन्तु यज्ञ में तो मन्त्र और ईश्वर ही देवता हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इसका प्रतिपादन है। इस परस्पर परिवर्तन से यह पूर्णतया ध्वनित होता है कि विनियोग भी परिवर्तित होने वाले हैं। वे निश्चित नहीं। शब्दमात्र ही जहां देवता है वहां उसका विनियोग भी वैसा ही अस्थिर होगा।

विनियोग नियत, अनादि और अपरिवर्तनीय नहीं

पूर्वोक्त पंक्तियों में देवताभेद और विनियोग का भेद बतलाया गया अब विनियोग की परिवर्तनीयता पर विचार करना अपेक्षित है। विनियोग वस्तुतः परिवर्तनीय हैं निश्चित नहीं। वे अनादि तो कहे नहीं जा सकते क्यों कि एक मंत्र भिन्न भिन्न कार्यों में विनियुक्त हैं। यहां यह ध्यान रखने की बात है कि यदि सब यज्ञ उतने ही हैं जितने इन श्रौत और गृह्यसूत्रों में लिखे हैं तब तो नये विनियोगों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु यदि इनके अतिरिक्त उत्तम और युक्तियुक्त कर्म हैं तो फिर उनके लिये भी वेदमंत्रो का विनियोग युक्तियुक्त ढंग पर किया जा सकता है। ऐसा करने में यह सुतराम् सिद्ध होगा कि विनियोग नित्य नहीं। श्रौतसूत्रों में गृह्यकर्मों का विनियोग नहीं और गृह्यसूत्रों मे श्रौत का विनियोग नहीं, दोनो कर्म पृथक् पृथक् हैं परन्तु एक ही मंत्र का श्रौत में अन्य कर्म में विनियोग है और गृह्य में अन्य कर्म मे। यदि विनियोग नित्य होता तो ऐसा कैसे संभव हो सकता। कर्णवेध संस्कार का वर्णन श्रौत का तो विषय ही नहीं परन्तु गृह्यसूत्रों में नहीं है और न इस मे किसी मंत्र का विनियोग ही है। आयुर्वेदादि ग्रन्थों में कानो को वींधना लिखा है। कहीं कान और कहीं नाक का वींधना इस में होता है। आचार्य दयान्नदने इस संस्कार की आवश्यकता को देखते हुए इस का विधान किया और "इसमें भद्रं कर्णभिः" ऋग्वेद १। ८। ९ सूक्त का मंत्र तथा ६। ७५ सूक्त के "वक्ष्यन्ती वेदा:— मंत्र का विनियोग किया है और है भी युक्तियुक्त। इन दोनो मंत्रो के देवता क्रमशः यज्ञ और ज्या हैं। इस दृष्टि से कर्णवेध का इन से बनना नहीं देखा जाता परन्तु विनियोग इन का है। पुत्रेष्टि को ही लीजिए-इसका वर्णन यजुर्वेद के अध्यायानुसार जो यज्ञ आदि विनियुक्त किये गये हैं उनमे नहीं आता परन्तु पुत्रेष्टि यज्ञ का प्रकरण उठाकर न्यायदर्शन में वेदों की प्रमाणिकता सिद्ध की गई है। कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्— इस सूत्र का वात्सायनभाष्य देखा जा सकता है। विनियोग की नित्यता स्वयं विनियोगकार श्रौत सूत्रकारों और गृह्यसूत्रकारों को भी स्वीकार्य नहीं मालूम पड़ती है। श्रौतसूत्रों में जिन मंत्रों का विनियोग श्रौतकर्मो में है— इन्हीं मंत्रों का गृह्यसूत्रों में गृह्यकर्मो में विनियोग है। यदि विनियोग नित्य

है तो श्रौतकर्म में विनियुक्त मंत्रों का गृह्यकर्मों मे विनियोग होना ही नहीं चाहिए और नित्यता के इस पक्ष को मान लेने पर पुनः गृह्यकर्मा के लिए मंत्र ही नहीं रह जावेंगे। क्योंकि लगभग अधिकाधिक मंत्रों का विनियोग श्रौतसूत्रों मे पाया ही जाता है। "इषे त्वोर्जे त्वा" यजुः १ का प्रथम मंत्र कात्यायन श्रौतसूत्र ४।२।१—३ के अनुसार शाखोच्छेदन में विनियुक्त है। परन्तु ऋषि दयानन्द ने इसका विनियोग स्वस्ति पाठ में किया है। दूसरी तरफ सायण काण्वसंहिता पृष्ठ ११५ पर लिखता है कि यहां पर बौधायन ने दोनों वाक्यों को एक मंत्र मानकर शाखाछेदन में विनियुक्त किया है। तामाच्छिनत्ति इषे त्वोर्जे त्वेति। आपस्तम्ब ने इन को दो भिन्नभिन्न मंत्र मान कर "इषे त्वा" से शखाछेदन करे और "ऊर्जे त्वा" से झुकाना चाहिए-लिखा है। काण्वशिष्यलोग मन्त्र भेद और विनियोग भेद को आश्रय करके इस प्रकार कहते हैं कि तामाच्छिनत्तीषे त्वेति—अथवा वृष्टि के लिए कहा गया है कि "इषे त्वोर्जे त्वा-क्यों कि वृष्टि से ही ऊर्क् रस पैदा होता है। वस्तुतः यह मंत्र अनादिष्टदेवताक होने से इन्द्र अथवा माहेन्द्र देवता वाला होगा। ऋषि दयानन्द ने इसका सविता देवता माना है। 'विश्वानि देव सवितः" और तत्सवितुर्वरेण्यम्— ये दोनो मंत्र कात्यायन श्रौतसूत्र ११।७ पुरुषमेध आह्वनीय में विनियुक्त हैं। परन्तु इनका विनियोग स्वामी दयानन्दजी महाराज ने प्रार्थना और सन्ध्या जैसे उपासनाकर्म में किया है। साथ ही इन का इस प्रकार की आहुति देने में विनियोग न होते हुए भी उन्होने अपने सत्यार्थ-प्रकाश और संस्कारविधि ग्रन्थों में सायं प्रातःकाल की आहुतियों के साथ इन मंत्रों से आहुतियां देना लिखा है। सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास मे लिखा है—यदि अधिक आहुतियां देनी हों तो इन दोनो मंत्रों से देवें। गायत्री मंत्र बौधायन में यज्ञोपवीत संस्कार में ब्रह्मचारी को गायत्री के उपदेश देने में विनियुक्त है। पृ० ४४ पुनः पृ० २३७ पर लिखा है कि। अग्नि के दूसरे भाग में जायापती को इस "तत्सवितुर्वरेण्यम्" मंत्र को बोल कर खाना चाहिए। पुनः पृ० २७८ पर इसी का पात्र को लेकर ब्रह्मपात्र से जोड़ने में विनियोग किया है। कौषीतकी १।३ में तत्सवितुर्वरेण्यम् "इत्येतां सप्रणवां अर्धर्चशोऽनवानम्" ऐसा लिखा है। तथा आगे उसी स्थल पर विवाह प्रकरणमें प्राशनमें विनियुक्त है। तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र ८।१ में लिखा है कि वैश्वदेवशस्त्र में प्रतिपत्तृच के ये प्रथम और द्वितीय हैं। "देवसवितः" यह मंत्र यजुर्वेद में तीनवार आया है। यजुः ९।१ मे यह मंत्र कात्यायनश्रौतसूत्र १४।११ के अनुसार वाजपेय मे विनियुक्त है। पुनः यजुः ३१।१ में पुरुषमेध में विनियुक्त है। फिर यजुः ११।७ में अग्निचयन में विनियुक्त है। यहां एक ही मंत्र का स्वयं एक ही श्रौतसूत्रकारने भिन्न भिन्न कार्यों में विनियोग किया है। इस के अतिरिक्त ऋषि दयानंदने वेदी के चारों ओर जल छिड़कने में इसका विनियोग किया है। द्राह्यायण गृह्यसूत्र २।१।१९ और बौधायन १।३।२५ तथा अन्य गृह्यसूत्रों मे भी ऐसा ही लिखा है। इसी भांति ऋग्वेदीय ८१।२४।११ मंत्र "तत्त्वा यामि" आश्वलायन श्रौतसूत्र २।१७ के अनुसार वरुणप्रघासों

चातुर्मास्यों में वरुणसम्बन्धी हविर्याज्य है । इसी का आचार्य दयानन्दने सामान्य-प्रकरण मे विनियोग किया है । गृह्यसूत्रों में भी ऐसा है और लगभग सभी बड़े संस्कारों चूडाकर्म, विवाह आदि में इससे विशेष आहुतियां देनी लिखी हैं । ऐसे ही "नवो नवो भवति जायमानः" यह ऋग्वेद १० । ८ । ९ का मंत्र है। इसका विनियोग दूणाश में चन्द्रमा सम्बन्धी चरु मे है। परन्तु मानव श्रौतसूत्र में यह मंत्र राजायक्ष्मगृहीतेष्टि में विनियुक्त है। शांख्यायन १४ । ३२ । ९ में भी दूणाशक्रतु मे चान्द्रमसचरु मे ही इसका विनियोग है परन्तु पापयक्ष्मगृहीत के लिये अमावस्या मे आदित्यचरु के निर्वाप में यह उपयुक्त है । यदि विनियोग निश्चित और नित्य होता तो यह भिन्न भिन्न विनियोग क्यों ? । "परं मृत्यो" ऋ १० । १८ । १—यह मंत्र मानवगृह्यसूत्र २ । १८ । २ में पुत्रकामेष्टि मे विनियुक्त है । यजुर्वेद ३५ । ७ में यही मंत्र कात्यायन २१ । ४ । ७ के अनुसार पितृमेध में विनियुक्त है । यही पारस्करगृह्यसूत्र १ । ५ के अनुसार विवाह सम्बन्धी अभ्यातन होम में विनियुक्त है । मृत्यु देवता का यह मंत्र विनियोग में कितने भेद के साथ प्रयुक्त है । यहां तक कि जो मंत्र गृह्यसूत्रों में अन्त्येष्ठि, आदि संस्कारों में विनियुक्त हैं वही श्रौतों मे अन्य कर्मों मे विनियुक्त हैं । यजुर्वेद का ४० वां अध्याय ज्ञानकाण्ड है । कुछ लोग कहते हैं कि इसका कर्म में विनियोग नहीं होना चाहिए परन्तु ऋषिने 'अग्ने नय सुपथा राये' यजुः ४० । १६ मंत्र को दैनिक अग्निहोत्र में आहुति देने मे लगाया है । "शन्नो देवी" इस मंत्र का तै० ब्राह्मण १ । २ । १ । मे विचार करते हुये भट्टभास्कर लिखते हैं अद्भिरवोक्षति शन्नो देवीरिति गायत्र्या । तैतिरीय ब्रा० २ । ५ । ८ । ५ पर इसे प्रवर्ग के अभिषव प्रकरणमें लगाया है । तैत्तिरीयारण्यक ४ । ४२ । ४ मे यह उपासनाप्रकरण मे विनियुक्त है । कौशिक गृह्यसूत्र ९ । ७ टिप्पणमें शान्त्युदकारंभ में प्रयुक्त करने का विचार दिया गया है । आपस्तम्बश्रौतसूत्र ५ । ४ । १ मे लिखा है इससे जलसे अवोक्षणकर उदीचीन वंश को शरण करना चाहिए । लाट्यायन श्रौतसूत्र ५ । ४ । १ पर अप स्पर्श मे यह विनियुक्त है । शांख्यायन ४ । २७ । १९ मे इस मंत्र से छाती पर जल प्रोक्षण का विनियोग है और हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र मे ब्रह्मचारी के उपनयन मे मार्जन कर्म मे यह विनियुक्त है । ऐसे ही ऋग्वेद ४ । ३८ । ६ के "दधिक्राव्णो अकारिषम्" मंत्र के विनियोग की हालत है । यह मंत्र ऋग्वेद सायण भाष्य मे लैङ्गिक विनियोग वाला कहकर छोड़ दिया गया है । अथर्ववेद सायण भाष्यमें सोमयाग में इससे आग्नीध्रीय में दधिभक्षण के लिये कहा गया है । यजुर्वेद में महीधर भाष्य में महिषी को उठाकर पुरुष इसे पढ़ें ऐसा लिखा है । आश्वलायन श्रौतसूत्र ६ । १० । १२ में आग्नीध्रीय में दधिद्रप्सों को खाने मे इसका विनियोग है । तैत्तिरीयसंहिता १ । ५ । ११ । ४ और ६ । ४ । १ । ९४ पर भट्ट भास्कर ने भिन्न ही विनियोग दिखलाये हैं । इस मंत्र के पुनः—ऐतरेय ब्राह्मण

७ । ३३ । १, ६ । ३६ । ८: शतपथ १३ । २ । ९ । ९; तैतिरीय ब्राह्मण ३ । ९ । ७; गोपथ ब्रा० २ । ६ । १८; पंचविंश ब्राह्मण १ । ६ । १७, लाट्यायन श्रौतसूत्र २ । ७ । १० २ । ११ । २३; शांख्यायनश्रौतभाष्य १२ । २५ । १ कात्यायन श्रौतसूत्र १० । ८ । ९; गोभिलीय गृह्यसूत्र २ । ६ । १६; शांख्यायनगृह्यसूत्र १ । १७ । १: तथा पारस्कर गृह्यसूत्र १ । १० । १६ में भिन्न विनियोग मिलते हैं । यहां यह बात विशेष ध्यान देने की है कि "दधिक्राव्णः" शब्द घोड़े का वाचक है । निरुक्तकार ने २ । ७ । २१ पर ऐसा ही लिखा है और निघण्टु में यह अश्वनाम में पढ़ा भी गया है । परन्तु विनियोग दधि खाने अर्थ मे किया गया हैं । इसी प्रकार अधिकाधिक मंत्रों के विनियोग भिन्न भिन्न देखे जाते हैं । इन सब प्रमाणो से यह सारतः मालूम पड़ता है कि विनियोग अनादि नहीं हैं । वे सदा परिवर्तित हुये और होते रहेंगे । विनियोग बदलते हैं परन्तु किसी भी मंत्र को विनियुक्त करते समय उस की औचिती का ध्यान रखना चाहिए । सनातनियों की तरह शनि, बुध आदि के लिए 'शन्नो देवी" "उद्बुध्यस्वाग्ने" आदि मंत्रों का अनर्गल विनियोग नहीं कर लेना चाहिए । विनियोग युक्तियुक्त और अच्छे कर्म में ही होना चाहिए । यास्क मुनि के प्रमाण से जो कि मेरे देवतावाद लेख में वर्णित हैं और जो पुस्तकरूप मे प्रकाशित भी हो चुका है-इस विषय को और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ । "ओमासश्चर्षणीधृतः" इस ऋग्वेदीय (१ । ३ । ७) मंत्र की व्याख्या यास्क ने निरुक्त १० । ४० पर की है । वहाँ वह इस मंत्र का देवता "विश्वेदेव" मानता है । मन्त्र में "विश्वेदेवासः" पद भी पड़ा है । इस के अनन्तर विनियोग विषय की चर्चा का प्रारंभ करते हुये यास्क लिखते हैं कि दाशतयी में सारी शाखावों में विश्वेदेव सम्बन्धी एक गायत्री छन्दोयुक्त तृच मिलती है । परन्तु यज्ञ में गायत्री छन्दोयुक्त कई ऋचावों की आवश्यकता है । ऐसी अवस्था मे क्या करना चहिए ? । समाधान करते हैं कि जो भी बहुदेवतावों से युक्त गायत्र मन्त्र समूह हैं वह विश्वेदेवों के स्थान में प्रयुक्त हो सकता है । शाकपूणि आचार्य कहते हैं कि उचित यह है कि विश्वशब्दोपेत मन्त्रसमूह या सूक्त विश्वेदेवों के स्थान में प्रयुक्त किये जा सकते हैं । न कि बहु देवतामात्र वाले मंत्र । इस पर यास्क कहते हैं कि यह कथन अनैकान्तिक है क्यों कि क्रियार्थ गायत्री छन्द से युक्त विश्वेदेव-देवतावाला ही मंत्र प्रयुक्त हो सकता है, उसी प्रकार के मंत्रों से यज्ञ का प्रयोजन भी है । परन्तु ऐसे मंत्र पाये थोड़े जाते हैं । कर्म का परित्याग करना उचित नहीं, अतः बहुदेवताक गायत्र मंत्रों से विश्वेदेव—सम्बन्धी कार्यों को चला लेना चाहिए" । भूतांश काश्यप ऋषि ने अश्विनियों के लिङ्ग से युक्त अनेक ऋचावों वाले सूक्त (ऋ० १० । १०६ सूक्त) का साक्षात् किया । जिनमें यह लिङ्ग नहीं है उन ऋचावों का भी अश्विदेवताकत्व ही उसने माना है । अभितष्ठीय सूक्त (ऋ० ३ । ३८ सूक्त) में भी एक ही ऋच् इन्द्र-देवता के चिन्ह वाली है परन्तु सारा सूक्त तदर्थ मे विनियुक्त किया जाता है । इसी प्रकार की योजना पूर्वोक्त ढंग से

वैश्वदेव कर्म में भी करनी चाहिए। निरुक्त ७। २० में लिखा है कि गायत्री छन्दसे युक्त एक ही " जातवेदस् " तृच दाशतयी में देखी जाती है। इस लिए जो कोई अग्नि देवता वाला सूक्त है, वही जातवेदा के स्थान मे लगा दिया जाता है। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि विनियोग अनादि नहीं। यहां पर ऋषिदयानन्द की इस विषय में सम्मति उद्धृत करते हुए लेखको समाप्त करता हूँ—अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्यैव वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते,परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यम् तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथ-ब्राह्मणपूर्वमीमांसा-श्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् ।...तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतः युक्तो विनियोगो ग्रहीतुं युक्तोऽस्ति ॥

१३

क्या वेदपारायण यज्ञ हो सकता है?

कुछ दिन हुए कि सार्वदेशिक में इस विषय पर कुछ विचार विमर्श चला था कि ब्रह्मपारायण यज्ञ हो सकता है या नहीं। दोनों पक्षों के विचार संक्षेप में लोगों के समक्ष आये थे। परन्तु कोई निर्णय जनता के समक्ष नहीं आया। इधर अभी हालमे ही श्रीमान् पं० सातवलेकरजीने "ब्रह्म पारायण यज्ञ की शास्त्रीयता" शीर्षक से एक वक्तव्य निकालकर विद्वानों की इस विषय में सम्मति जाननी चाही है। अच्छा होता कि धर्मार्य सभा इस विषय में लोगों का मार्गदर्शन करती परन्तु अभी तक इस विषय म किसी कक्ष से कोई और चर्चा नहीं सुनी गयी। मुझे भी दो व्यक्तियोंने यह विज्ञापन भेजा और प्रेरणाकी कि मैं इस सम्बन्ध मे कुछ अपने विचार प्रस्तुत करू। उनकी इस प्रेरणा के अनुसार ही मैं अपने विचार को आर्यजनता के समक्ष इन पंक्तियों में उपस्थित करता हूँ।

श्री पं० सातवलेकरजीने अपने विचार अपने वक्तव्य में ब्रह्मपारायण यज्ञ के प्रतिकूल प्रकट किये हैं। उन्होंने ब्रह्मपारायण यज्ञ का खण्डन करने की चेष्टा तो की परन्तु उनकी इस प्रतिज्ञा से इस बात का स्पष्टीकरण नहीं होता कि वे चारों वेदों के मंत्रों को बोलकर किये जाने वाले यज्ञ को अशास्त्रीय और असम्मत कहते हैं। ब्रह्मपारायण नाम न रखकर और कोई भी नाम ऐसे यज्ञ का हो सकता है. उसको भी वे ठीक नहीं समझते-यह उनके वाक्यों से स्पष्ट नहीं होता। वें केवल ब्रह्मपारायण को ही असम्मत बतलाते हैं। वस्तुतः विचारणीय विषय यह नहीं है कि 'ब्रह्मपारायण यज्ञ हो सकता है या नहीं। अपितु प्रस्तुत विचारणीय विषय यह है कि चारों वेदों के मंत्रों को बोल कर उनसे आहुति देकर कोई यज्ञ किया जा सकता है या नहीं। नाम उसका चाहे भले ही कुछ हो, वह ब्रह्मपारायण हो' वेदपारायण हो अथवा अन्य नामवाला हो। चारों वेदों के मंत्रों से यज्ञ किया जा सकता है और इसमें कोई आपत्ति नहीं, ऐसा सनातनधर्मी वैदिक पंडित मानते हैं। ऋग्वेद के मंत्रों से स्वाहाकारान्त होने में तो स्यात् आपत्ति किसीको नहीं। हां यह हो सकता है कि तत्सम्बन्धी विधि के विशेष विस्तार में उनकी कुछ भिन्नतायें हों। उक्त पण्डितजी ने शातातप स्मृति में लिखे गए कुष्ठनिवारणार्थ चारों वेदों से किये जाने वाले यज्ञ का संकेत लोगों के विचारार्थ किया है। इस स्मृति की प्रामाणिकतापर उन्होंने अपना सन्देह भी प्रकट कर दिया है और यह बहुधा सभीको मान्य होगा। परन्तु इस स्मृति को अप्रामाणिक स्वीकार कर लेने

पर भी यह प्रश्न उठता ही है कि स्मृतिकार ने चारों वेदों के मंत्रों का कुष्ठनिवारणार्थ किये जाने वाले यज्ञ में विनियोग क्यों किया ? और किया तो यह क्या उन यज्ञों के अतिरिक्त नहीं हैं, जो श्रौतसूत्रों, और ब्राह्मणग्रन्थों आदि में वर्णित हैं । यदि अतिरिक्त है तो फिर वेदमंत्रों के कर्म इन ग्रन्थों में निश्चित हो जाने के अनन्तर-फिर यह नया विनियोग क्यों किया गया । पाठक कह सकते हैं कि शातातप का यह विनियोग अप्रामाणिक है । परन्तु यदि ऐसा ही विनियोग प्रामाणिक ग्रन्थों में पाया जावे और विशेषतः श्रौतसूत्रों में ही तो फिर वहां पर क्या उत्तर होगा ? क्या ऐसी परिस्थिति में यह माननीय नहीं होगा कि मंत्रों के विनियोग पहले कहे गये विषयों के अतिरिक्त अन्य युक्तियुक्त उपयोगी विषयों में भी किये जा सकते है । यदि श्रौतसूत्रों में दिखलाये गये कर्मों के अतिरिक्त भी उपयोगी कर्म हैं और उनमें मंत्रों का नूतन विनियोग हो सकता है तो फिर चारों वेदों के मंत्रों के द्वारा किये जाने वाले यज्ञ में क्या अनौचित्य आ गिरेगा ।

यज्ञों के आकरग्रन्थ और यज्ञविषयक विचार

मुख्य तर्कों में चारों वेदों से किये जाने वाले यज्ञ के विपक्ष में एक तर्क यह दिया जाता है कि इसका वर्णन किसी श्रौतसूत्र में नहीं पाया जाता । ब्राह्मणग्रन्थों में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता । यज्ञ का वर्णन श्रौतसूत्रों, ब्राह्मणग्रन्थों तथा पूर्वमीमांसा में मिळता है । उनमे चारों वेदों के मंत्रों से यज्ञ कराने का विधान नहीं, ऐसा प्रतिपक्षी लोग कहते हैं । परन्तु थोड़ासा यहां पर विचार करने से इस पक्ष की सारासारता का सहज निर्णय मिल सकता है । यह भी प्रश्न यहां पर उठ सकता है कि क्या आजतक जितने कर्म और यज्ञ आदि होते हैं सबका ही वर्णन इन ग्रन्थों में है और दूसरा विचार यह कि क्या इनमें वर्णित कर्मों और यज्ञों के अतिरिक्त और प्रक्रिया बनाकर योजना नहीं की जा सकती है । तीसरी बात यह खड़ी होगी कि इनमें प्रतिपादित यज्ञों या कर्मो में जिन वेदमंत्रों का विनियोग है उन वेदमंत्रों से सदा वही कर्म किया जा सकता है अथवा दूसरे उपयोगी कार्य में भी उस मंत्रका विनियोग किया जा सकता है । इन बातोंका विचार करना परम आवश्यक है । यदि किये हुए विनियोग नित्य हैं और उनके अतिरिक उन मंत्रोंका अन्यत्र उपयोगी कर्म में विनियोग नहीं हो सकता है तो चारों वेदोंसे किये जाने वाले यज्ञकी, चाहे वह ब्रह्मपारायण हो अथवा अन्य कोई, स्थिति अत्यन्त विचारणीय हो जावेगी । यदि अन्यत्र भी उन मंत्रोंका विनियोग हो सकता है तो चारों वेदों से होने वाले यज्ञमें भी कोई बाधा नहीं हो सकती । सर्व प्रथम यहां पर यही देख लेना चाहिए कि इन यज्ञ के प्रतिपादक-ग्रंथोंमे किन यज्ञोंका वर्णन है । श्रौतसूत्र हमें कुछ प्राप्त हैं जो चारों वेदों में किसी एक के

अथवा किसी एक शाखा के आधार पर यज्ञों का निर्देश करते हैं। यज्ञों मे मन्त्रों के विनियोग का विज्ञान इन कल्पसूत्रों में पायाजाता है और कल्पशब्दका अर्थ भी लगभग ऐसा ही है। भिन्न भिन्न शाखाओं को अवलम्बनकर भिन्न भिन्न सूत्र हैं। ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र मिलते हैं-आश्वलायन और शाङ्खयायन। इनमें आश्वलायन श्रौतसूत्र के १२ अध्याय हैं। जिनमें प्रथम अध्याय में परिभाषा; दर्शपूर्णमासेष्टि; द्वितीयाध्याय मे अग्न्याधेय, अग्निहोत्रहोम, उपस्थान, पिण्डपितृयज्ञ, अनारम्भणीय, आग्रयण, काम्य इष्टियें वैमृधेष्टिः; लोकेष्टि, मित्रविन्दा पवित्रेष्टि, कारीरीष्टि, वैश्वानरीष्टि, सांवत्सरिक, तुरायण, दाक्षायण यज्ञ याज्या-पुरोऽनुवाक्यालक्षण चातुर्मास्य; तृतीयाध्याय में पशुयाज्यापुरोऽनुवाक्या, निरूढपशु सौत्रामणि प्रायश्चित; चतुर्थाध्याय में और पंचमाध्याय में अग्निष्टोम; छठें अध्याय मे उचथ्य, षोडशी, अतिरात्र-नैमित्तिक, सोमप्रायश्चित्त, दीक्षित के मरणका प्रायश्चित्त आदि, सोमयागशेष, अनूबन्ध्या अवभृथ, उदयनीयादि; सप्तम अध्याय में-सत्र के धर्म और न्यूङ्ख आदि, आठवें अध्याय में शस्त्र प्रतिगर आदि तथा पृष्ठ्यादि; नवमें अध्याय में-राजसूय, एकाह, वाजपेय, दशवें अध्याय मे-अहीन द्वादशाह अहीन और सत्र के समानधर्म, अश्वमेध; एकादशवें अध्याय में रात्रिसत्र गवामयन; द्वादशवें अध्याय में आदित्यानामयन, अङ्गिरसामयन, दृतिवातवतोरयनम्, कुण्डपायिनामयन, तापश्चितामयन, प्रजापति का द्वादशसम्वत्सर, सारस्वतसत्र, मित्रावरुणयोरयनम्, सत्रोत्थान, सवनीयपशुः सत्रिधर्म व्रत्य, ऋत्विजों का सवनीयपशु विभाग, प्रवर, सत्र, पृष्ठ्यशामनीय-आदि विषयों का वर्णन हैं। शांख्यायन में १८ अध्याय है और उनमें निम्न विषयों का वर्णन है, प्रथमाध्याय में-परिभाषा, दर्श और पूर्णमास, द्वितीयाध्याय में-अग्न्याधेय, अन्वारम्भणीय, पुनराधेय, अग्निहोत्र, उपस्थान, अग्निसमारोप, तृतीयाध्याय में-वैमृधेष्टि, अभ्युदितेष्टि, प्रायश्चित्तेष्टियां, मित्र विन्दा दाक्षायणयज्ञ, सार्वसेनयज्ञ, वसिष्ठयज्ञ, आग्रयण, चातुर्मास्य, अग्निहोत्रप्राय, चतुर्थ में-यजमान सम्बन्धी पिण्डपितृयज्ञ, ब्रह्मत्व, मधुपर्क आदि, पंचमाध्यायसे अष्टमाध्याय तक में-अग्निष्टोम, नवमाध्याय में च न, दशम में-द्वादशाह ग्यारहवें और बारहवें में २४ अहीनो के हौत्रः १३ वें अध्याय में सौमिक प्रायश्चित्त, गवामयन, सत्राधिकारी, उत्सर्गिणामयन आदित्यानामयन, अङ्गिरसामयन, दृतिवातवतोरयनादि, १४ अध्याय में-एकाह, चातुर्मास्य, सौत्रामणी, १५ वें अध्याय में वाजपेय, अप्तोर्याम, सर्वस्वार, राजसूय, सोलहवें अध्याय में-अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, वाजपेयशेष राजसूयशेष, अश्वमेधशेष, अहीन; सप्तदशम अध्याय में महाव्रत, और अष्टादश में-महाव्रतीयकर्म, गवामयनशेष, सारस्वतसत्र, दार्शद्वत्सत्र।

इसी प्रकार कृष्णयजुर्वेद पर बौधायनीय, आपस्तम्वीय, सत्याषाढीय मानवीय, भारद्वाजीय, वैखानसीय सूत्र मिलते हैं। ये बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, भारद्वाज और वैखानस तैत्तिरीय शाखा को लेकर चलते हैं। मानवसूत्र मैत्रायणी शाखा के अनुसार चलता है। आपस्तम्ब में २४ अध्याय हैं। जिनमें १ से ३ अध्यायतक-दर्श

पौर्णमास, वैमृधेष्टि, दाक्षायणयज्ञ, ब्रह्मत्व, चतुर्थाध्याय में यजमानसम्बन्धी; ५-वें अध्यायमें अग्न्याधेय और पुनराधेय, छठें अध्याय में-अग्निहोत्रों, उपस्थान आग्रयण; सातवें में-पशुबन्ध और आठवें में चातुर्मास्य; नवमाध्याय में प्रायश्चित्त, १० से १३ अध्यायमें सोम, १४ वें अध्याय में सोमसंस्था, क्रतुपशु, एकादशिन्, सोमब्रह्मत्व, सोमप्रायश्चित्त; पञ्चदश अध्याय में प्रवर्ग्य और उसका प्रायश्चित्त; १६-१७ में चयन; अष्टादश में वाजपेय और राजसूय; १९ वें अध्याय में सौत्रामणि; कौकिलसौत्रामणी, नचिकेतादिचयन, काम्यपशु काम्य इष्टियें, २० वें अध्याय में-अश्वमेध, सर्वमेध, दशरात्र; २१ वें अध्याय में द्वादशाह, गवामयन, उत्सार्गिणामयन; २२ वें अध्याय में एकाह; २३ में सत्र और और २४ वें अध्याय में यज्ञपरिभाषा आदि विषयों का उल्लेख है।

सामवेद पर लाटयायन, द्राह्यायण और मशकसूत्र मिलते हैं। परिशिष्ट अनेक मिलते हैं। अथर्ववेद पर कौशिकसूत्र प्राप्त है। इसमें श्रौत विषय का वर्णन पाया जाता है परन्तु गृह्य विषयों का बहुधा वर्णन मिलता है। वितानसूत्र नामका भी एक सूत्र ग्रंथ इस पर है। परिशिष्ट २६ हैं परन्तु इनमें श्रौत विषय थोड़े और स्मार्त विषय अधिक हैं। शुक्लयजुर्वेद पर कात्यायनश्रौतसूत्र उपलब्ध है। इसमें भी २६ अध्याय हैं। यह काण्व और माध्यन्दिन दोनों शाखाओंका अवलंबन करता है। दोनों शाखाओं में जो क्रम वर्णित हैं, प्रायः वही क्रम इसमें भी है। प्रथम से द्वितीयाध्याय के आदि तक यज्ञपरिभाषा का वर्णन है। द्वितीय और तृतीयाध्याय मे दर्शपौर्णमास के धर्मोंका अतिदेश, दाक्षायण यज्ञ, आग्रयणेष्टि, अनारम्भणीयेष्टि," अग्न्याधान पुनराधेय, और अग्निहोत्र का निरूपण है। पांचवें अध्याय में चातुर्मास्य और मित्रविन्देष्टि तथा छठें अध्याय में अनुष्ठेय, निरूढपशु का वर्णन है। सप्तम से लेकर एकादश अध्याय पर्यन्त सोमयाग है। द्वादशाध्याय में द्वादशाह, द्वादश सुत्याक सत्रविशेष और त्रयोदश अध्यायमें गवामयन बतलाये गये हैं। १४ वें अध्याय में वाजपेय १५ वें में राजसूय और १६, १७ तथा १८ वें अध्याय में महाग्निचयन का निरूपित किया गया है। १९ वां अध्याय-सौत्रामणी; २० वां अश्वमेध, और २१ वां अध्याय पुरुषमेध, सर्वमेध और पितृमेध का है। २२, २३, २४, २५, २६ वें अध्यायों मे क्रमशः एकाह, अहीन, सत्रान्तर, प्रायश्चित्त और प्रवर्ग्य का वर्णन है। यह श्रौतसूत्रों में प्रतिपादित यज्ञ यागों अथवा उनके अन्य अंगों का क्रम है। यजुर्वेद के अध्यायों का निम्न प्रकारसे विभाजित किया जाता है। १, २ अध्याय दर्शपौर्णमास, तीसरा आधान-अग्न्युपस्थापन, चातुर्मास्येष्टि से संबद्ध है। ४ से ८ अध्याय में अग्निष्टोम और सोमयाग तथा नवें अध्याय में वाजपेय और राजसूय के मंत्र हैं। १० वां अध्याय अभिषेक और राजसूय में चरकसौत्रामणी के विषय में विनियुक्त हैं। ११, १२ क्रमशः अग्निचयन और उखाभरण के विनियोग वाले मंत्रों से युक्त अध्याय हैं। १३-१५ चितियें, १६ रुद्र और शतरुद्रिय हैं। १७ वां अध्याय चित्यपरिषेकसे, १८ वां वसोर्धारा, राष्ट्रभृत

से और १९-२० वां सौत्रामणी से संबन्ध रखते हैं । २१ वें अध्याय में याज्यादि प्रैषण मंत्र और २२-२९ वें पर्यंत अश्वमेध है । ३० एवं ३१ वें अध्याय पुरुषमेध एवं पुरुषसूक्त के हैं । ३२ तथा ३३ में सर्वमेध, ३४ में शिवसंकल्प, ३५ में पितृमेध है । ३६-३८ तक प्रवर्ग्य, शांतिपाठ महावीरसंभरण, और घर्म के विषय हैं । ३९ वां अध्याय प्रायश्चित्त और ४० वां ज्ञानकाण्ड का है । इतना वर्णन यहां श्रौतसूत्रों के आधार पर किया गया है । परंतु यहां एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि सारे श्रौतसूत्र भी एकान्ततः प्रामाणिक नहीं । इनमें वर्णित कई कर्म ऐसे भी हैं जो संगत और समुचित नहीं । श्रौतसूत्रोंका ही क्रम लगभग ब्राह्मणग्रन्थों में भी दिखलाई पड़ता है । यही यज्ञ, याग वहां भी वर्णित मिलते हैं ।

इन कल्पसूत्रों में तीन प्रस्थान हैं-श्रौत, गृह्य, और धर्म । श्रौतसूत्र श्रौत कर्मोंका प्रतिपादन करते हैं । गृह्यसूत्र घरमें होनेवाले गृह्यकर्म अर्थात् संस्कारों आदिका विधान करते हैं । धर्मसूत्र में उन कर्तव्यों का वर्णन है जो वर्णाश्रम से सम्बन्ध रखते हैं । इसी प्रकार श्रौतकर्मों में बोले जाने वाले मंत्रोंकी संज्ञा भी चार प्रकारकी है । वह है-करणमंत्र क्रियमाणानुवादि मंत्र, अनुमंत्रण मंत्र और जप मंत्र । इन मंत्रोंकी ये संज्ञायें इन के प्रयोगों के आधार पर मिली हैं । यह संक्षेप में श्रौतसूत्रों के आधार पर वर्णन किया गया ।

श्रौतसूत्रों के द्वारा वर्णित यज्ञों का दिग्दर्शन हो जाने के बाद अब मूल प्रश्नोंका जो पूर्व उठाये गये हैं समाधान होना चाहिए । पहला प्रश्न यह है कि क्या जितने यज्ञ आज किये जाते हैं उन सबका वर्णन इन श्रौतग्रन्थों में है ? विचार करने से उत्तर होगा कि इन में श्रौतयज्ञों का वर्णन तो है परंतु गृह्ययज्ञों अथवा संस्कारों का वर्णन नहीं । फिर इन गृह्य कर्मों को क्यों किया जाता हैं, इस लिये कि इन का वर्णन गृह्यसूत्रों में हैं । इस प्रकार यज्ञविषयक कर्मों के गृह्य और श्रौत दो भेद हो गये । दोनों के प्रतिपादक दोनों के अपने २ विषय के ग्रन्थ हैं । ऐसी परिस्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि जिनका केवल श्रौतसूत्रों में प्रतिपादन हैं उन के अतिरिक्त यज्ञ नहीं और जो उनमें प्रतिपादित हैं उसके अतिरिक्त कर्म किये नहीं जाने चाहिये । उदाहरण के लिए कर्णवेध को लिया जा सकता है । इसमें यज्ञ भाग तो सामान्य है परन्तु विधि भागमें ऋग्वेद १ सूक्त ८९ का "भद्रं कर्णेभिः" मंत्र और ६ सूक्त ७५ का "वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति कर्णं" मंत्रोंसे कर्णका वेधन करना लिखा है । इन मंत्रों से यह कार्य किया जावे, ऐसा किसी श्रौत या गृह्य सूत्रमें देखा नहीं जाता परन्तु आयुर्वेदादिग्रन्थों में कानका बींधना बतलाया गया है अतः आचार्य दयानंदने इन मंत्रोंसे कान बींधने की विधि करनेका आदेश दिया है । कुछ लोग कह सकते हैं कि यह आचार्य दयानंदकी बात है । हम नहीं मानते ।

परन्तु वे माने या न माने हम आर्य लोग तो इसे मानते हैं और वैसे ही मानते हैं जैसे अन्य विनियोग-कर्ताओंकी बात को। 'वक्ष्यन्ती वेदाः इस मंत्र तथा 'भद्रं कर्णेभिः के देवता भी क्रमशः 'ज्या' और यज्ञ हैं। इस दृष्टि से भी कर्णवेध वनता नहीं परन्तु इनका विनियोग है और वह भी युक्तियुक्त। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि सूत्रों मे जिनका वर्णन नहीं वे कर्म एवं यज्ञ किये जा नहीं सकते। वस्तुतः युक्तियुक्त, समुचित सत्कर्म यदि इन सूत्रों मे न वर्णित हों तब भी मंत्रोकी संगति से किये जा सकते हैं। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या इनमें वर्णित कर्मों और यज्ञों के अतिरिक्त की भी प्रक्रिया बनाकर योजना नहीं की जा सकती है? पहले प्रश्न के समाधान से यह भली प्रकार विदित हो जाता है कि ऐसा किया जा सकता है। यदि कर्णवेध का आयोजन किया जा सकता है तो दूसरे यज्ञ के विषय में भी कोई आपत्ति नहीं आती। प्रश्न केवल समुचित ढंग के आयोजनका रहता है जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है। इष्टियां भी श्रौतसूत्रों और ब्राह्मणों में वर्णित हैं परंतु उनमें भी कुछ अन्तर सबमे है। पुत्रेष्टि कोही लीजिए, इसमे यजुर्वेद के किन मंत्रोका विनियोग है, यह यजुर्वेद के अध्यायों के अनुसार दी गयी यज्ञकी तालिका से नहीं ज्ञात होता है, कभी कभी तो इस पर अधिक विवाद भी चल चुके है। परन्तु इसकी विधि अन्ततः इन वेद मंत्रो के ही आधार पर करनी पड़ेगी। यह इष्टि होती भी रही। न्यायदर्शन में वेदकी प्रमाणता मे इसी विषय को लेकर पूर्वपक्ष उठाया गया है और समाधान किया गया है। तात्पर्य यह है कि अन्य कर्मकाण्ड के अंगो एवं यज्ञों का विनियोग वेदमंत्रों के आधार पर कल्पित किया जा सकता है। तीसरी बात, जिसका विचार आवश्यक है यह है कि श्रौतग्रन्थों और ब्राह्मणों मे जिन मन्त्रोंका जिन कर्मो मे विनियोग किया गया है उससे अतिरिक्त कर्म मे उनका विनियोग हो सकता है या वे उसीमें सदा के लिए विनियुक्त समझे जावें। उहापोह करने पर पता चलता है कि विनियोग नित्य नहीं और जिन मन्त्रों का विनियोग जिन कर्मो मे हो चुका उनसे अतिरिक्त मे नवीन विनियोग हो सकता है। स्वयं विनियोग करने वालोंने ही ऐसा किया है। इन्ही मंत्रो का गृह्यसूत्रों में गृह्यकर्ममे विनियोग है। यदि विनियोग नित्य है तो श्रौतकर्ममे विनियुक्त मंत्रोका गृह्य कर्मो मे विनियोग होना ही नहीं चाहिए, और ऐसा करने पर गृहकर्मो के लिए मंत्र ही नहीं रहजाते। उदाहरण के लिए यजुर्वेदका 'इषे त्वोर्जे त्वा।" मंत्र ही ले लीजिए। यह मंत्र श्रौत्रसूत्र के अनुसार कात्यायन श्रौतसूत्र (४२। १। ३) से शाखाछेदन में विनियुक्त है और ऋषि दयानंदने इसका विनियोग स्वस्तिपाठ मे किया है। जब कि सर्वानुक्रमणी के अनुसार इसका शाखा देवता है; और पंडित सातवलेकरजी भी ऐसा ही मानते हैं। ऋषि दयानंदने इसका सविता देवता माना है। वस्तुतः शाखाछेदन का मंत्र मे कोई भाव भी नहीं निकलता। यह मंत्र अनादिष्टदेवतावाला होने की स्थिति मे इन्द्र अथवा महेन्द्र देवतावाला होगा, क्यों कि हविके प्रधान देवता इन्द्र अथवा महेन्द्र हैं। विश्वानि देव सवितः" और "तत्सवितुर्वरेण्यम"

ये दोनों मन्त्र कात्यायन १ । १७ के अनुसार पुरुषमेध आहवनीय में विनियुक्त हैं, परंतु इनका विनियोग श्री स्वामी दयानंदजी महाराजने प्रार्थना और सन्ध्या जैसे उपासना कर्ममें किया है। साथ ही इनका इस प्रकारकी आहुति देनेमे विनियोग न होते हुए भी अपने सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, आदि ग्रन्थोंमें सायंप्रातःकालिक आहुतियों के साथ इन मन्त्रों से आहुतियां देनेको लिखा है। सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास मे लिखा है कि यदि अधिक आहुतियां देनी हों तो " विश्वानि देव सवितः " और " तत्सवितुर्वरेण्यम् " इस गायत्री मंत्र से आहुतियां देवें "। " देवसवितः प्रसुव यज्ञम् " यह मंत्र यजुर्वेदमे तीन बार आया है। यजु ९ । १ में यह मंत्र कात्यायनश्रौतसूत्र १४ । १ । ११ के अनुसार वाजपेय में विनियुक्त है पुनः यजुः ३० । १ में पुरुषमेध में विनियुक्त है। यहां पर एकही मंत्रका स्वयं सूत्रकारने भिन्न भिन्न कार्योमे विनियोग किया। इसके अतिरिक्त ऋषि दयानन्दने वेदीके चारों ओर जल छिड़कने में विनियुक्त किया। ऋषि ने अपनी कल्पना से ही ऐसा नहीं किया बल्कि द्राह्यायण गृह्यसूत्र २ । २ । १९ और बौधायन १ । ३ । २५ तथा अन्य गृह्यसूत्रोंमें भी ऐसा ही लिखा है। इस प्रकार जब सूत्रकार स्वयं एक ही मंत्रका भिन्न भिन्न विनियोग करते है और सदा मंत्रोंका विनियोग भिन्न भिन्न अर्थोंमें होता रहा तो फिर यदि चारों वेदोंके मंत्रोंका विनियोग युक्तियुक्त ढंग पर करके कोई ब्रह्मपारायण या अन्य यज्ञ करता है तो क्या आपत्ति हो जावेगी ? श्रौत सूत्रों में मंत्रोंका श्रौत कर्म में विनियोग हो जाने पर पुनः ब्रह्म कर्म में उन्हीं मंत्रोंका विनियोग करना ही इस बातका पर्याप्त प्रमाण है कि मंत्र को अन्यत्र उपयोगी कर्म में प्रयुक्त किया जा सकता है। ऋग्वेदीय १ । २४ । ११. मंत्र " तत्त्वा यामि ब्रह्मणा " आश्वलायन श्रौतसूत्र २ । १७ के अनुसार वरुणप्रघासों, चातुर्मास्यों में वरुण सम्बन्धी हविर्याज्य है। इससे आचार्य दयानंदने घृतकी आहुति देनेका विधान किया है और सामान्य प्रकरणमें इसका विनियोग किया है। लगभग सभी बड़े संस्कारों-चूडाकर्म, विवाह आदिमें इसकी विशेष आहुतियां लिखी हैं। ऐसेही " नवो नवो भवति जायमानः " यह ऋग्वेद १० । ८ । ९ का मंत्र है। इसका विनियोग दूणाश में चन्द्रमा सम्बन्धी चरु में है। परंतु मानवश्रौतसूत्रमें यह मंत्र राजयक्ष्मगृहीतेष्टि में विनियुक्त है। मैत्रायणी संहिता २ । २ । ७ तथा ४ । १२ । २ में यह समान हवि में लगाया गया है। शांख्यायन १४।३२।९में भी दूणाशक्रतु में चान्द्रमसचरु में ही इसका विनियोग हैं परंतु पापयक्ष्मगृहीत के लिए अमावास्यामें आदित्यचरुके निर्वाप में यह उपयुक्त है। यदि मंत्रका विनियोग निश्चित ही है तो यह भिन्न भिन्न विनियोग क्यों ? श्रीमान् पण्डितजीने शातातप स्मृति के हवालेसे लिखा है कि चारों वेदों के मत्र से यज्ञ वह कर सकता है जिस को कुष्ठ रोग है। परंतु यहां पर एक ही मंत्रसे यक्ष्मगृहीत आदित्यचरुसे अमावास्यामें कर्म कर रहा है और दूसरे चान्द्रम- सचरुसे अन्यत्र तो क्या चारों वेदोंके मंत्रों का प्रयोग इसी आधार पर कुष्टरोगीके अतिरिक्त

लोगोंके लिए नहीं हो सकता ? "परं मृत्यो अनुपरेहि पंथाम्" यह ऋ० १० । १८ । १ मंत्र मानवगृह्यसूत्र में २ । १८ । । २ में पुत्रकामेष्टि में विनियुक्त है । यजुर्वेद ३५ । ७ में यही मंत्र कात्यायन २१ । ४ । ७ के द्वारा पितृमेध मे विनियुक्त है और पारस्कर गृह्यसूत्र १ । ५ के अनुसार विवाह सम्बन्धी अभ्यातन होम में विनियुक्त है । यहां कितना अंतर है कि मृत्युदेवताक मंत्र विवाह और पुत्रकामेष्टिमें विनियुक्त है । इस प्रकार के विनियोगों को देखकर चारों वेदों के मंत्रों से यज्ञ करना दोषपूर्ण नहीं परिज्ञात होता ।

क्या अन्त्येष्टि में पढ़े गये मन्त्रों से भी यज्ञ हो सकता है ?

श्री पंडित सातवलेकरजीका एक बड़ा प्रश्न यह है कि क्या अन्त्येष्टि प्रेतदाहके लिए ही जो मंत्र हैं वे मंगल कामनाकी सिद्धिके लिए किये जा सकते हैं । लेखक के विचार में किये जा सकते हैं और किये गयें भी हैं । मृतदाहके लिये ही कोई मंत्र निश्चित नहीं उनसे और कर्म भी हो सकते हैं, ऊपरके वर्णनसे यह भली प्रकार सिद्ध है । अमुक मन्त्र केवल अन्त्येष्टि के लिये ही हैं ऐसा कहीं पर निश्चित लिखा नहीं मालूम पड़ता । बल्कि उल्टे उन मन्त्रोंका अन्य कर्मोंमें विनियोग मिलता है । अन्त्येष्टि संस्कार गृह्य कर्म है और गृह्यसूत्रोंका विषय है । इसमें प्रयुक्त मंत्र श्रौत सूत्रों में श्रौत कर्म में और अन्य कार्योंमें प्रयुक्त हैं । यदि वे अन्त्येष्टि के लिए ही निश्चित थे तो सूत्रकारोंने ही इनका अन्य कर्मो में प्रयोग क्यों किया ?। यह कल्पना लोगोंके हृदयमें इस लिए उठती है कि वे मृत शरीरको लक्ष्यीकृत्य करके ही मंत्रोंका अर्थ निकालते हैं । 'मज्जभ्यः स्वाहा' से और 'सूर्यम् चक्षुषा गच्छतु" से मृतकके मज्जा और नेत्रको ही समझते हैं । वस्तुतः यह साधारण उपदेश है और सब पर घटित है । स्वाहा शब्दका अर्थ जलना समझ लेना भी बुरा है । 'प्राणाय स्वाहा' अस्थभ्यः स्वाहा' से जब जलना अर्थ निकाला जावें तभी ऐसा भ्रम होता है अन्यथा नहीं । अन्त्येष्टिमें यजुर्वेदके ३९ वें अध्यायके मंत्र बोले जाते हैं अतः उसे भद्र कार्योमें नहीं पढ़ा जाना चाहिए ऐसा उक्त पंडितजीका संकेत मालूम पड़ता है । उन्होंने आचार्य दयानंदका हवाला भी दे दिया है । परंतु आचार्यने वहां पर गृह्य विषयकी दृष्टिसे अर्थ किया है । उनका अभिप्राय वह नहीं जो लेनेका प्रयत्न किया गया है । ३९ वें अध्यायमें सब १३ मंत्र हैं । जिनमें केवल १० वें से लेकर १३ वें मंत्रका अन्त्येष्टि कर्ममें संस्कार-विधिमें प्रयोग है । शेष मंत्रोंका नहीं । पंडितजी कहते हैं कि यजुर्वेदका ३९ वां अध्याय अन्त्येष्टिकर्म में विनियुक्त है । परंतु कात्यायनश्रौतसूत्र २६ । ७ । ४९ के अनुसार प्रथमसे लेकर ४ थे मंत्रका विनियोग प्रवर्ग्य के भेदनमें प्रायश्चित्त में नियुक्त है ।

और यह ४ था मंत्र पूर्णाहुति है । ५ वां मंत्र कात्यायन २६ । ७ । ५० के अनुसार महावीर-संज्ञक यज्ञपात्रके संभरणके लिये प्रायश्चित् आहुतिमें विनियुक्त है । ६ ठाँ मंत्र भी इसी विषयमें विनियुक्त है । ७ वां मंत्र चयनप्रकरणमें अरण्यमें छः मारुत पुरोडशोंको हवन करे ऐसा विनियुक्त है । ८ वें से अध्याय समाप्तिपर्यन्त सारे मंत्र अश्वमेधिक हैं यदि इनका अन्त्येष्टिमे ही होना निश्चित था तो फिर ये मंत्र श्रौतसूत्रमें इस प्रकार क्यों दूसरे अर्थमें विनियुक्त किये गये । अथर्ववेदीय अन्त्येष्ठि सूक्तका उद्धरण देते हुए अपने लेखमें श्री पंडितजी कहते हैं कि अथर्ववेदका १८ वां अध्याय सबका सब अन्त्येष्टि मृतक-दाह तथा पितृयज्ञका वर्णन करनेवाला है । क्या ये मंत्र गृहशांति आदिमें बोले जानेके योग्य हैं ? इत्यादि । परंतु इसी १८ वें काण्डके, जिसको पूरा का पूरा पंडितजी अन्त्येष्टि आदि में ही मानते हैं, मंत्रोंको शुभ कार्योंमें भी लगाया गया है । अथर्ववेद १८ । ३ अनु०।६१ वें मंत्रसे जातकर्म मे, जो उत्पन्न बालकका संस्कार है आशीर्वाद देना लिखा गया है । आचार्य दयानंदने भी इसका ऐसा ही विनियोग किया है । आप अथर्व १८ । ३ । १ के "इयं नारी पतिलोकं वृणाना" मत्रको अन्त्येष्टि में देते हैं । इसीको स्वामीजीने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में नियोग विषयमे लगाया है । "उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकम् "यह मंत्र ऋ. १० । १८ । ८ में भी है । इसका विनियोग ऋग्विधान नामक ग्रन्थमें नियोगमें किया गया है । अथर्व १८ सूक्त २ का मंत्र 'स्योना पृथिवि " यजुर्वेद ३५ । २१ में आया है जिसका विनियोग पारस्कर गृ० ३।२ मे प्रस्तरारोहण में किया गया है । यही ३६ वें अध्याय में शांतिपाठ एवं प्रवर्ग्य में पठित है । अथर्व काण्ड १८ सूक्त २ का " अपागूहन्नमृताम् ' मंत्र अन्त्येष्टिमे पढ़ा गया है संस्कार विधिमे । परंतु वही ऋग्वेद १० । १७ । २ मे आया है और वहां अन्य ही तात्पर्य है । ऋ० १० । सू० ३० । १३ 'अपेत वीत ' मंत्र संस्कारविधिमे पढ़ा गया है परंतु यजुः १२ । ४५ मे वही मंत्र आया है और वह पलाशकी शाखा से गार्हपत्याग्नि के व्यूहनमे विनियुक्त है । यह ११ वां अध्याय अग्निचयनका है इस विज्ञप्ति मे आपने जो ' ये निखाता ' आदि मंत्रोंको पितृमेध मे विनियुक्त समझकर लगाया है वह भी आर्य समाज के सिद्धांतों से संगति नहीं खाता क्योंकि आप मुर्दों को पितर मानते हैं । ऋषि दयानन्द जीवितों को पितर मानते हैं । जीवितों को पितर स्वीकार करलेने पर आपकी सारी पितृमेधकी प्रक्रिया ही उल्टी हो जाती है । फिर अन्त्येष्टि और मुर्दे पितरों के कर्म की कोई बात ही नहीं रह जाती और ये मंत्र मंगल कार्यों मे न बोले जावें, यह असंगतता तो तब आपकी दृष्टि मे है जब कि इनका विनियोग मृत पितरोंके कर्म मे माना जावे । स्वामीजी महाराजने सारे यजुर्वेद के पितृविषयक मंत्रों को जीवित पितरोंकी सेवा आदि कार्यों में लगाया है । इसके अतिरिक्त स्वस्ति और शांति मंत्रोंका पाठ मंगल कार्यों की पूर्ति मे किया जाता है । ऐसा ही विनियोग भी है परंतु स्वामीजीने अन्त्येष्टि के पश्चात् गृहशुद्धि

के समय स्वस्ति और शांति के मंत्रों के अन्त में स्वाहा' शब्द लगाकर आहुति देनेको लिखा है ! श्री पंडितजीका कहना है कि सब मंत्रोंमे 'स्वाहा' कहकर आहुति देना कहां तक संगत हैं । परन्तु ऋषि दयानंद स्वय ही बतला रहे हैं कि स्वाहा' शब्द स्वस्ति शांतिके मंत्रों के अन्त मे लगाकर आहुति दी जावे । फिर दूसरे मन्त्रों मे बिना देवता का उच्चारण किये आर्यसमाजी विद्वान् यदि आहुति मंत्रों में स्वाहा लगाकर देते हैं तो क्या बुरी बात हो गयी ? । श्रौत में विनियुक्त मंत्रोंका गृह्यकर्म मे विनियोग होता है और मंत्रों के अंत में हवन मे 'स्वाहा' लगाना चाहिए इसको स्वयं सूत्रग्रन्थ प्रतिपादित करते हैं । खदिर गृह्यसूत्र १।१।१९ में यह स्पष्ट ही लिखा हैं 'स्वाहान्ता मंत्रा होमेषु" । इन पूर्वोक्त प्रमाणों से यह सिद्ध है कि अंत्येष्टिके मंत्र कोई ऐसे मंत्र नहीं हैं कि वे सदा अन्त्येष्टि में ही विनियुक्त हों । उनका अन्य कार्यों मे विनियोग भी होता है और वेदोंके मंत्रों से यज्ञ करते समय बिना किसी भय और संदेह के बोले जा सकते हैं ।

यज्ञ में देवताकी समस्या

देवता विषयपर मैं एक निबंध लिख चुका हूँ जो 'स्वाध्याय' मे विस्तार से श्री स्वामी वेदानन्दजी महाराज द्वारा दिल्ली से छापा गया है । पाठक उसमें इस विषय को देख सकते हैं । यहां पर केवल संक्षेप में विचार किया जाता है । देवता भी विनियोग से बदल जाते हैं । यज्ञ में देवता के विषय में तो 'यथेच्छा' का प्रयोग किया गया है । अथवा प्रजापति ही यज्ञ मंत्रोंका देवता हो जाता है । निरुक्त में इस धारणाको पल्लवित किया गया है । दैवतकाण्ड में लोग देख सकते हैं । ऋषि दयानन्दने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ३३६ (दयानन्दग्रन्थमाला) पर लिखा है कि "यज्ञमे तो वेदोंके मंत्र और ईश्वर को ही देवता माना है । अर्थात् "परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञ-दैवते भवत इति निश्चयः" । इस प्रकार जब मन्त्र और ईश्वर ही यज्ञ मे देवता हैं तो चारों वेदों के मंत्रोंसे यज्ञ मे कोई आपत्ति नहीं रहती । सारे मंत्रोंसे होनेवाले यज्ञ के देवता वे मंत्र और ईश्वर होंगे, उसी उद्देश्य से यह यज्ञ भी होगा । मीमांसक भी शब्द मात्र को देवतामानते हैं । आत्मविद परमेश्वर को देवता मानते हैं । अतः ब्रह्मपारायण यज्ञ का देवता स्वयं वेदमंत्र और एक महान् देव परमेश्वर है । मैं पहले दिखला चुका हूँ कि 'इषे त्वोर्जे'का देवता किस प्रकार भिन्न भिन्न है । इस मंत्रका देवता शाखा है ऐसा सर्वानुक्रमणीने माना है परन्तु जब यह मंत्र स्वस्तिप्रकरणमे बोला जाता है तो 'शाखा' से क्या तात्पर्य निकल सकता है । वहां पर तो परमेश्वर ही देवता होना चाहिए । ऋषि-दयानन्दने तो यजुर्वेदके ९ अध्यायों तकके मंत्रो का देवता सर्वानुक्रमणी के विरुद्ध लिखा

हैं । क्या इसे कोई ग़लत कह सकता है ? नहीं तो फिर मानना पड़ेगा कि देवता बदल सकते हैं ।

ऋषि दयानन्द पूर्व के आचार्योंने भी ऐसा ही किया है । कभी कभी तो ऐसा हुआ है कि उस देवतावाले मंत्र के यज्ञ मे पर्याप्त न मिलने से दूसरे देवतावाले मंत्रोंको उसमे संमिलित कर लिया गया । निरुक्त १२ । ४० इसका प्रमाण है । ऋग्वेदीय 'ओमासश्चर्षणी धृतः" इस ऋग्वेदीय १ । ३ । ७ मंत्र की व्याख्या पूर्वोक्त निरुक्तके स्थलपर की गई है । वहां पर यह मंत्र 'विश्वेदेव' लोगोंके संबन्ध मे विनियुक्त है । इस विनियोग विषयक चर्चाका प्रारंभ करते हुए यास्क लिखते हैं कि दाशतयी (ऋग्वेद में) सारी शाखाओ में एक गायत्री छन्द से युक्त तृच मिलती है परंतु यज्ञ मे गायत्री छन्द से युक्त कई ऋचाओं की आवश्यकता है ऐसी अवस्था मे क्या करना चाहिए ? इसका समाधान करते हैं कि जो भी बहु देवताओं से युक्त गायत्री छन्दसे युक्त मंत्र समूह है वह विश्वदेवके स्थान में प्रयुक्त हो सकता है । शाकपूणि आचार्य कहते हैं कि उचित यह है कि विश्वदेव शब्दोपेत मंत्रसमूह या सूक्त विश्वदेवों के स्थान पर प्रयुक्त कियें जा सकते हैं न कि बहुदेवताओं वाले मंत्र मात्र । इस पर यास्क कहते हैं कि यह शाकपूणिका मत अनैकान्तिक है । क्योंकि क्रियार्थ गायत्री छन्दवाला विश्वदेव देवतावाला ही मंत्र प्रयुक्त हो सकता है । उसी प्रकार के मंत्रों से यज्ञका प्रयोजन है परंतु ऐसे मंत्र पाये थोड़े जाते हैं । कर्मका परित्याग करना उचित नहीं अतः बहु देवता वाले गायत्री मंत्रों से विश्वदेव सम्बन्धी कार्योंको चला लेना चाहिये । भूतांश काश्यप ऋषिने अश्विनियों के लिङ्गसे युक्त अनेक ऋचाओंवाले सूक्त (ऋ० १० । १०६) का साक्षात् किया जिनमें लिङ्ग नहीं हैं उन ऋचावोंका भी अश्विनीदेवताकत्व ही उसने माना है । अभितष्टीय सूक्त ऋ० ३ । ८ । में भी एक ऋक् इन्द्र देवता के चिन्हवाली है परन्तु सारा सूक्त तदर्थ ही विनियुक्त किया जाता है । इसी प्रकारकी योजना पूर्वोक्त ढंग से वैश्वदेव कर्म में भी करनी चाहिए । जब इस प्रकार मंत्रोंका विनियोग अन्य देवता वाले यज्ञमें उसके स्थानमें किया जा सकता है और सारे मंत्रोंका परमात्मा एवं वे मंत्र स्वयं देवता हैं तो फिर ब्रह्म-पारायण अथवा वेदोंके मंत्रों से अन्य उपयोगी यज्ञ करने में क्या दोष ? । लोग कहते हैं कि इसका विधान कहीं लिखा नहीं परंतु उन्हें समझना चाहिए कि 'विश्वदेव' के स्थानमे बहुदेवतावाले मंत्र लेकर यज्ञ कर दिया जावे, इसका विधान किस जगह पर है जिसे देखकर यास्कने ऐसा कर दिया ? इसी प्रकार युक्तियुक्त, संगत और सत्यभूत कल्याणकारी बातों को विचार करनेमें कहीं न लिखा रहते भी कोई आपत्ति नहीं । देवता की प्रक्रिया इस मार्ग में बाधक नहीं । चूंकि मंत्र अनेक देवताओं और अर्थों वाले हैं, यज्ञ में ईश्वर या मंत्र को देवता माना जाता है, साथ ही श्रौत मंत्रों का विनियोग उनसे अतिरिक्त कर्मों में भी किया जाता है अतः राजसूय

विश्वजिति आदि के मंत्रों को भी बोल कर वेदपारायण यज्ञ करने में कोई हानि नहीं दीखती। प्रतिज्ञाभंग भी नहीं होता।

यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के मंत्रोंका विनियोग यज्ञ में नहीं किया जा सकता यह भी कोई सिद्धान्तभूत बात नहीं। आचार्य दयानंदने दैनिक अग्निहोत्र में "अग्ने नय सुपथा राये" इस मंत्र से आहुति देने को लिखा है। उन्होंने इस मंत्र का हवाला भी यजुः ४०। १६ दिया है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उन मंत्रों का विनियोग कर्मकाण्ड में करना उचित नहीं।

एक विचित्र समस्या

श्रीमान् पं० जीने एक सूचना शीर्षक से अपने लेखमें कुछ सुझाव उपस्थित किये हैं। उसमें वे यह कहते हैं "चारों वेदों के कुल २०,६०० मंत्र हैं। इनमें से पुनरुक्त मंत्र पृथक् किये जावें तो १६००० मंत्र रहेंगे। इन मंत्रोंको विषयवार छांटा जावे। धनप्राप्ति, गृहसौख्य, पुत्रलाभ, राज्यलाभ, वैभव-संवर्धन, यश-प्राप्ति, वर्चः-साधन, विश्वशांति, समाजशांति, दुष्टों के उपद्रव का शमन, स्त्रीसौख्य, व्यापारसंवर्धन, राष्ट्र-वैभव-वृद्धि, आदि अनेक विषयों के शीर्षकों के नीचे ये मंत्र अर्थानुसार रखे जायँ। इस तरह विषयवार वर्गीकृत मंत्रों की पुस्तक शीघ्र प्रकाशित की जाय, जो जिसकी इच्छा हो वह अपने योग्य प्रकरण के मंत्र चुने और उनसे हवन करे और लाभ उठावें"

पं० जी के ये सुझाव उनके पूर्वोक्त वक्तव्य की बातों के अनुकुल नहीं पड़ते यद्यपि इनकी विषयकी दृष्टिसे उपयोगिता ठीक ही है। प्रथम बात यह है कि पण्डितजी वेद मंत्रों में पुनरुक्ति मानते हैं। ऐसा न पूर्वकालिक सिद्धांत ग्रंथों में ही कोई प्रमाण मिलता है और न इस बात को कोई आर्य विद्वान् मानता ही है। जब आर्यसमाज के विद्वान् वेदमंत्रों की पुनरुक्ति स्वीकार ही नहीं करते तो फिर पंडितजी का उनके साथ समन्वय कैसे बैठेगा? दूसरी आपत्ति पं० जी की योजना के मानने में यह पड़ेगी कि वह उनकी ही प्रक्रिया के प्रतिकूल बात है। एक ओर तो वे यह कहते हैं कि चारों वेदों के मंत्रों से यज्ञ किया जावे इस विषय में श्रौतसूत्रों, ब्राह्मणग्रन्थों और मीमांसा आदि का कोई प्रमाण नहीं मिलता, विना प्रमाण के ऐसा कैसे किया जावे? और दूसरी ओर नये शीर्षकों से मंत्र रखकर नये यज्ञों की रचना भी करने का विचार उपस्थित करते हैं। दोनों की संगति किस प्रकार है! यदि ब्रह्म-पारायण इस लियें अमान्य है और अकरणीय है कि उसका किसी श्रौतसूत्र और ब्राह्मणमें करने का विधान

नहीं तो फिर आप के ये मंत्र छांट कर बनाये गये यज्ञ कैसे प्रामाणिक और करने योग्य होंगे ? यह भी बहुत ही विचारणीय है । यदि इनकी प्रामाणिकता है तो ब्रह्मपारायणने क्या अपराध किया है ?

चारों वेदों के मंत्रों से यज्ञ के विषय में प्रमाण

ऊपर जैसा बतलाया गया उस के अनुसार चारों वेदों के मंत्रों से यज्ञ हो सकता है । अब थोड़े से इस विषय में प्रमाण दिये जाते हैं श्री पं० धर्मदेवजी विद्यावाचस्पतिने भी बहुत से प्रमाण इस विषय में एकत्र किये हैं । परंतु मुझे वे देखने को नहीं मिले । सार्वदेशिक के वे अंक भी अपने पास नहीं । ऋग्वेद ४ । ५८ । ३ का मंत्र " चत्वारि शृङ्गा । " निरुक्त १३ । ७ में और गोपथ ब्राह्मण में यज्ञ परक लगाया गया है । वहां चारों वेदों को यज्ञ का सींग कहा गया है । ऋग्वेद ८ । १९ । ५ य समिधा य आहुती यो वेदेन ददाश मर्तो अग्नये । यो नमसा स्वध्वरः " मंत्र मे वेदेन पद पड़ा है । जिससे यह, अर्थ समूचे मंत्र का होता है कि जो मनुष्य समिधाओं और वेदमंत्रों से अग्नि का परिचरण करता है उसे ऋग्, ८ । १९ । ६ में कथित शीघ्रगामी अश्व आदि, प्रकाशमान कीर्ति, प्राप्त होती है । अपने द्वारा किये जाने वाले अथवा अन्य के कुगंगों से प्राप्त होने वाले दोष नहीं छूते । मंत्र इस प्रकार है " तस्येदर्वन्तो रहयन्त अश्वस्तस्य द्युम्नितमं यशः । न तमंहो देवकृतं कुतश्चन न मृत्युकृतं नशत् । इसपर ऋग्वेदीय कल्पद्रुम कर्त्ताने ऐसा भाव व्यक्त किया है । अतः पापक्षय कामेनापि संहिता होमो विधेय इति यावत् । सांख्यायन गृह्यसूत्र ४ । ५ । ६५ में दर्शाया गया है कि अक्षतसक्तूनां धानानां च दधिघृतमिश्राणां प्रत्यृचं वेदेन जहुयात् ॥ अर्थात् वेदकी प्रत्येक ऋचा से सक्तु, धान आदि की आहुति देवें, ऐसे थोड़ेसे प्रमाण भी मिलते हैं । ग्रन्थों को देखने से और भी प्रमाण इस विषय मे मिल सकेंगे । विद्वानों को इस पर अवश्य विचार करना चाहिये । श्री. पं. सातवलेकर जीने लोगोंके ध्यान को जो इस ओर आकृष्ट किया है, यह बहुत अच्छा कार्य किया है । यदि विद्वान् विचार करेंगे तो इससे अच्छा ही परिणाम निकलेगा । मैंने संक्षेप में ये विचार रखे हैं । समया-भाव के कारण अधिक लिखना संभव नहीं । श्री धर्मनिष्ठ लब्धप्रतिष्ठ आर्य स्वर्गीय शेठ श्री शूरजी वल्लभदास के ज्येष्ठ पुत्र श्री प्रतापसिंहजीने कई बार पत्रोंद्वारा इस विषयपर लिखने को कहा अतः थोड़ासा यह विचार प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१४

वर्तमान संस्कृत-शिक्षा और वेदों का अध्ययनाध्यापन

हमारा संस्कृत साहित्य अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है । संस्कृत भाषाकी भी महत्ता सर्वथा इस दृष्टि से स्वीकार्य ही है कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता का सारा उदात्तपन इसके साथ सम्बद्ध है । दर्शन, धर्मविज्ञान, विज्ञानकला और ललितकलायें आदि भारत की प्रसिद्ध देन इसी भाषामें सुरक्षित हैं । वर्तमान समाज के विकास को देखते हुए यदि इस विषय की कोई प्रेरणा हमें सामाजिक निर्माण के स्वरूप को बताने की मिल सकती है तो वह भी संस्कृत और संस्कृत साहित्य से ही मिलेगी । ऐसी परिस्थिति में संस्कृत का अध्ययनाध्यापन भारतीयों के लिए एक अनिवार्य सी वस्तु है। उत्तरप्रदेशीय सरकार सदा धन्यवाद की पात्र रहेगी कि उसने संस्कृत के अध्ययन को प्रगति पर ले जाने का सर्वप्रथम प्रयास किया और अब भी वह सतत प्रयत्न कर रही है । संस्कृत शिक्षा के विषय में सारे भारत के शिक्षणसूत्र में एकतानता होनी चाहिये । आशा है यह प्रयत्न सदा चलता रहेगा ।

संस्कृत भाषा सदा लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार की रही है । इस तथ्य को वेद से लेकर अर्वाचीन काल के संस्कृत वाङ्मय ने समानरूप से स्वीकार किया है । वैदिक साहित्य में कर्मकाण्डी लोगों को दोनों वाणियों का बोलने वाला कहा गया है—वैदिक वाणी और लौकिक वाणी । कर्मकाण्ड-काल में वैदिक वाणी का प्रयोग करते हैं और व्यवहार-काल में लौकिक वाणी का । इसलिए संस्कृत भाषा के सदा से दो रूप चले आ रहे हैं—लौकिक और वैदिक । इसी आधार पर हमारा संस्कृत वाङ्मय भी सदा वैदिक और लौकिक दो प्रकार का रहा है । ब्राह्मणों और उपनिषदों में दोनों वाणियों की संकीर्णता का थोड़ा सा भास मिलता है परन्तु वह प्रयोग सफल नहीं हुआ। दोनों भाषाओं के व्याकरण-नियम भी सदा पृथक् रहे । वेदों के व्याकरण-नियम लौकिक

व्याकरण नियम से भिन्नता पहले भी रखते थे और अब भी रखते है। इनके इन नियमो का संग्रह प्रातिशाख्यों में पाया जाता है—जो आज स्यात् ही कहीं पढ़ाई जाती हों और कहीं उनकी पढ़ाई है भी तो बहुत नगण्यरूप में। वर्तमान पाणिनीय व्याकरण लौकिक ओर वैदिक दोनों व्याकरण-नियमो का संग्रह है। इसके आधार पर बने हुए प्रक्रिया के ग्रन्थों में "वैदिक-प्रक्रिया' नाम से एक अलग प्रकरण ही बना दिया है—जबकी अष्टाध्यायी में दोनों प्रकार के नियम प्रकरणशः साथ ही हैं। वैदिक-प्रक्रिया को वेद में लागू होने के कारण छोड़ दिया जाता है। जिससे लौकिक संस्कृत के निष्णात होने पर भी वैदिक-संस्कृत का परिज्ञान नहीं हो पाता। यद्यपि दोनों का परिज्ञान विद्यार्थी को होना चाहिये। व्याकरण-महाभाष्य के कर्ता पतंजलि यह प्रतिज्ञा करते हैं कि उनके भाष्य में मूल अष्टाध्यायी की भाँति लौकिक और वैदिक दोनों प्रक्रियाओं और दोनों प्रकार के शब्दों का प्रतिपादन किया गया है। भाष्यकार यह भी कहता है कि व्याकरण पढ़ने का उद्देश्य षडङ्ग सहित वेद के अध्ययनाध्यापन और रक्षा के लिये है। उसके इस कथन का महत्व कितना अधिक हो जाता है जब यह विचार सामने आता है कि वेद सभ्यता और ज्ञान की वह निधि हैं— जो विश्व के पुस्तकालय में अपना सर्व प्रथम स्थान रखतें हैं। अतः उनका अध्ययनाध्यापन तो होना ही चाहिए। वर्तमान समय में संस्कृतशिक्षा के मुख्य केन्द्र संस्कृत कालेज बनारस में अष्टाध्यायी को प्राचीन व्याकरण के शिक्षा पटल में रख देने से लौकिक और वैदिक दोनों व्याकरणों का ज्ञान विद्यार्थी को हो सकता है परंतु इसकी ओर प्रोत्साहन अभी न्यून है। बहुत थोड़े विद्यार्थी इस विषय को लेते हैं। इस ओर अधिक प्रोत्साहन विद्यार्थियों को दिया जाना चाहिये। साथ ही इस अध्ययनाध्यापन के प्रकार में भी परिवर्तन होना चाहिये। इसके पढ़ाने का दृष्टिकोण वही नहीं होना चाहिए जो पक्रिया के ग्रन्थों के पढ़ाने का है। अष्टाध्यायी की पढ़ाई सूत्रों और प्रयोगों के आधार पर अच्छी तरह चलायी जा सकती है।

वेदों के अध्ययनाध्यापन के दो क्रम आजकल देखे जाते हैं। पहला क्रम वह है जो विश्वविद्यालयों और कालेजों में कुछ चुने हुए सूक्तों के रूप में वेद पढ़ाये जाते हैं। सूक्तों का संग्रह बहुधा विदेशी विद्वानों के भाष्यों क साथ होता है जिसका भारतीय विद्यार्थी पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ वेदों के प्रति एक बुरी धारणा अवश्य बन जाती है जो एक प्रेजुडिस का रूप धारण कर लेती है। इस क्रम में वेद के मूल अर्थ तक पहुँचने का कोई साधन नहीं पाया जाता है। विद्यार्थी के लिए केवल इतना कहने का अवसर अवश्य हो जाता है कि उसने वेद भी पढ़ा है। "स जनास इन्द्रः" और अस्य वामीय सूक्त एक बहुत उदात्त भावना के पोषक और वैज्ञानिक तथ्य से

युक्त है परन्तु पढ़ने वाले टीकाओं तक रहकर उस भावना तक नहीं पहुँच पाते। वस्तुतः इन बातों में पड़ना ही नहीं चाहिए कि वेदों का काल क्या है? उनमें व्यक्तियों के इतिहास हैं—या नहीं। उनमें क्या है? यह देखना चाहिए, इससे पहली समस्यायें सुलझ सकती हैं। यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने की है कि वेद को पाठ्यक्रम में यदि इस क्रम के अनुसार रखा जाता है तो उसके मूलार्थ तक पहुँचने के लिए वैदिक-व्याकरण और निरुक्त का भी कुछ परिज्ञान सहायक रूप में कराया जाना चाहिए। ऐसा करने से विद्यार्थी अपने आप भी वेद के सूक्तों के अर्थ समझने में कुछ समर्थ हो सकेंगे। साथ ही वेद के अर्थ को समझने के लिए पाश्चात्य विद्वानों के सूक्त संग्रहों को हटाकर नवीन भारतीय विद्वानों के ऐसे ग्रन्थ रखने चाहिए। अब तो एसे भी भाष्यकार वेदों के निकल रहे हैं जिनका विचार यह है कि सभी वेदमंत्र आध्यात्मिक धारणाओं के पोषक हैं। अरविन्दाश्रम से निकलने वाले भाष्य लगभग इसी धारणा को पुष्ट करते हैं। महाभारत काल तक उसके बाद भी बहुधा वैदिकों का यही विचार रहा है कि वेदमंत्रों के आधियाज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों ही अर्थ होते हैं। इसको कसौटी पर कसने के लिये पूर्वोक्त क्रम में कोई साधन नहीं प्रस्तुत किया जाता। अतः यह पहला वेद पढ़ाने का क्रम अत्यन्त ही त्रुटिपूर्ण और अधूरा है। इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है।

•

वेदाध्ययन का दूसरा क्रम संस्कृत की शिक्षा देने वाले कालेजों का है जिनमें गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारस सबसे बड़ा और अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वैसे तो कई प्रान्तीय विश्वविद्यालयों, संस्कृत समितियों के द्वारा भी संस्कृत की शास्त्री तीर्थ, आचार्य, आदि की परीक्षाओं का पाठ्यक्रम चलाया जाता है और इनमें वेदविषय की शिक्षायें भी दी जाती हैं परन्तु अखिल-भारतीय रूप इस दिशा में गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज बनारस को ही प्राप्त है। अब तो उत्तर प्रदेशीय शासन उसे संस्कृत विश्वविद्यालय का रूप दे रहा है। यह कालेज और दूसरी समितियाँ आदि जो वेद का अध्यायन कराती हैं वह पहले कहे गये क्रम से पृथक् हैं। यहाँ वैदिक और साधारण परीक्षाओं के ढंग से परीक्षाओं का क्रम रख दिया गया है जो मध्यमा से प्रारम्भ होता है। प्रथमा में कुछ अध्यायों का कण्ठस्थ करना और सामान्य पाठ्यक्रम है। द वेविषय में केवल वेद सम्बन्धी विषयों की ही परीक्षायें चलती हैं और साधारण विभाग का क्रम वेदातिरिक्त सामान्य संस्कृत साहित्य से सम्बन्ध रखता है। इसमें व्याकरण, दर्शन, साहित्य आदि विषय समाविष्ट है। जब कि वेदविभाग में केवल वेदसम्बन्धी विषय ही हैं। यहाँ पर केवल वेदसम्बन्धी शिक्षा की ही चर्चा करनी है। प्राचीन समय में लोग वेदों के रक्षार्थ मंत्रों को काण्ठस्थ रखते थे। अब भी थोड़ी संख्या में ऐसे वैदिक पाये जाते है जिन्हें अपनी अपनी शाखा के अनुसार वेद कण्ठस्थ हैं। ऐसे दो एक

वैदिक मिले हैं जो ऋग्वेद को उलटे सीधे कहीं से पूछने पर ज्यों का त्यों सुना सकते हैं। ये सभी धन्यवादार्ह हैं। परन्तु वेदों के अर्थ को बिना जाने केवल रटलेने से कर्मकाण्ड का ही कार्य चलता है और मंत्रों की रक्षा होती है, अर्थ बिना जाने उनमें निहित तत्वों का परिज्ञान नहीं होता और इससे दैनिक जीवन के विकास में वे सहायक नहीं हो पाते। वेदमंत्रों की एक प्रक्रिया यज्ञ की सिद्धि के लिये है और कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने में उसका प्रयोग है--यह ठीक है परन्तु वेदमंत्रों के अर्थ नहीं, वे केवल यज्ञ में बिना अर्थ बोले जाने के लिये ही हैं—यह धारणा प्रशस्त नहीं है। यास्क और जैमिनि आचार्यों ने इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और यह प्रकट किया है कि अधियज्ञ, अधिदेव और अध्यात्म सम्बन्धी तीन प्रकार के अर्थ वेदमंत्रों के पाये जाते हैं। इन अर्थों का जानना मानवकल्याणार्थ उपयोगी होगा। वर्तमान वेद-सम्बन्धी पाठ्यक्रम में कई आचार्यों के भाष्य भी रखे गये हैं परन्तु उनका उपयोग विद्यार्थियों की इच्छा और आर्थिक सुविधा पर है। पहले तो वेद-विभाग में विद्यार्थी ही बहुत थोड़े होते हैं और हुये भी तो इन भाष्यों को कौन पढ़ता है। कर्मकाण्ड की ही दृष्टि से, जो पहले से चली आ रही है, वेदों की शिक्षा थोड़ी सी दी जा रही है। वेदार्थ को विद्यार्थी समझे इसके लिये एक 'नैरुक्त-प्रक्रिया' इस विभाग में और प्रारम्भ की गई परन्तु इसमें विद्यार्थी बहुत ही न्यून अथवा न के बराबर ही रहते हैं। शास्त्री तक थोड़े दो चार विद्यार्थी भले ही पढ़ते हों, आचार्य तक स्यात् कोई ही पहुँचता हो। अतः वेदार्थ के दृष्टिकोणों को देखने का अवसर ही उसे नहीं मिलता है। शेष वेद सम्बन्धी पाठ्यक्रम में अब निरुक्त, ब्राह्मण, गृह्यसूत्र और थोड़े से भाष्य आदि भी रख दिये गये हैं परन्तु पढ़ाने का स्तर लगभग कर्मकाण्ड के उपयोग से आगे नहीं बढ़ता। वेदों की ओर, न पढ़ने वालों की ही अधिक रुचि है और न स्यात् पढ़ाने वालों की ही। पढ़ाने वाले भी स्यात् भारत में इने गिने ही हों। यद्यपि अब वेद-सम्बन्धी पाठ्यक्रम के बनाने में पर्याप्त सतर्कता रखी गई है परन्तु पढ़ाते वे हैं जो या तो कर्मकांड के अनुसार वेदों को पढ़कर आये हैं अथवा व्याकरण आदि विषयों को पढ़ा है और निरुक्त आदि बिना पढ़े ही वेद सम्बन्धी निरुक्त आदि शास्त्रों की शिक्षा देते हैं। कुछ गुरुकुलों में भी वेद की शिक्षा दी जाती है जो अर्थ को दृष्टि में रखकर दी जाती है। परिणाम में सफलता संस्कृत पाठ्यक्रम के वेदशिक्षाविषय के क्रम से इसमें अधिक पायी जाती है। फिर भी अभी वेदानुसंधान का यहाँ पर भी कोई रूप नहीं है।

वेदों की शिक्षा प्रशस्त रूप से दी जावे—इसके लिए वेदांगों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों का अध्ययन आवश्यक है। उपवेद तो बहुधा लुप्त ही हैं। केवल आयुर्वेद मिलता है। उपाङ्ग दर्शन हैं अतः वे सब यदि बढ़ा दिये जावें तो वेद का पाठ्यक्रम बहुत बड़ा हो जावेगा। फिर भी साधारण ज्ञान आवश्यक है। अङ्गों में

छः में से शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द और व्याकरण तो वेद के अध्ययन के लिए आवश्यक हैं । यद्यपि ज्योतिष वेदार्थ के जानने के लिए विषय रूप में बड़ा ही उपयोगी है परन्तु वह एक स्वतन्त्र ही विषय रह सकता है । कल्प में श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्रों का समावेश है । ये वेद को समझने में सहायक हैं । निरुक्तशास्त्र तो परम ही सहायक है । इनमे श्रौत और गृह्य कर्मकांडों से सम्बन्ध रखते हैं जो पौरोहित्य और याज्ञिक उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए हैं । ब्राह्मणग्रन्थों में भी कर्मकांड का प्रतिपादन है परन्तु उनके अध्ययन से वेदों के समझने में सहायता अत्यधिक मिलती है जबकि उनको कर्मकांड की दृष्टियों से ऊपर उठकर पढ़ा पढ़ाया जावे । यौगिक प्रक्रिया के आधार पर ब्राह्मणों में वेदों के बहुत से वैज्ञानिक अर्थ खोले गये हैं । वैसे यदि विचारा जावे तो निरुक्त और ब्राह्मणग्रन्थों का वेद के परिज्ञान के साथ अधिक सम्बन्ध है । आरण्यक भी ब्राह्मणों के ही भाग हैं । निरुक्त में वेदार्थ के लिये जिन निरुक्तियों का प्रदर्शन मिलता है वे भी ब्राह्मणग्रन्थों से आधारित हैं । इसलिए इन्हें एकान्ततः कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करने वाला नहीं समझना चाहिए । आज तक वेद की दिशा में अध्ययन कराने वाले लोग मीमांसा, श्रौत्रसूत्र और ब्राह्मणों का सम्बन्ध जोड़कर वेद के अध्ययन का सम्पादन विशुद्ध कर्मकाण्ड के ही आधार पर करते थे । उवट, महीधर और सायण के भाष्य भी विनियोगपरक ही हैं । हां किन्हीं स्थलों पर विनियोग नहीं मिला तो दूसरा अर्थ कर दिया है । कहने का तात्पर्य यह है कि वेदाध्ययनाध्यापन का बहुधा स्वरूप कर्मकाण्ड-परक ही वर्ता जा रहा है । वेदों को अमुक वर्ण या व्यक्ति लोग पढ़ें, अमुक न पढ़ें-यह भी भेदभित्ति कर्मकाण्ड को ही लेकर खड़ी हुई थी ।

वेदों के अध्यापन करते समय संहिताओं के सार्थक अध्ययन पर अधिक बल दिया जाना चाहिए । संहिताओं में अनेक ज्ञान के रत्न मिलते हैं । समाज के निर्माण का मूल सूत्र और सिद्धान्त पुरुषसूक्त के विराट् सम्बन्धी विचार से मिलता है । ऋग्वेद का १० वें मंडल का १२६ सूक्त, ७२ सूक्त और १६० वें सूक्त से सृष्टिविद्या का दार्शनिक और वैज्ञानिक स्तर का ऊँचे दरजे का विचार मिलता है । ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६४ वें सूक्त में विज्ञान सम्बन्धी बातें मिलती हैं । अथर्व का स्कम्भ सूक्त, उच्छिष्ट और ब्रह्मौदन सूक्त सृष्टि और अध्यात्म विद्या के रहस्य को बतलाते हैं । इसी प्रकार "केन पार्ष्णी आभृते" इस सूक्त में शरीरविज्ञान का और अथर्व काण्ड ८ । ५ सूक्त में कृषिविज्ञान का वर्णन है । इस प्रकार वेदों के मूल सूक्तों पर यदि विचार किया जावे और विद्यार्थी को उनके अर्थ को जनाने का प्रयत्न किया जावे तो समाजविज्ञान, विज्ञान, सृष्टिविज्ञान, आयुर्वेदविज्ञान, दर्शन आदि अनेक धारणायें मिल सकती हैं । वेदों के पढ़ने पढ़ाने में मुख्य बात देवताओं की परिभाषाओं को

समझने की है। इन्हीं में वैज्ञानिक, आध्यात्मिक आदि सभी धारणायें छिपी हैं। ऋग्वेद १। ४०। ५ में इस बात का प्रतिपादन है कि वेदमन्त्र देवताओं का घर है। अर्थात् ये देवता वेदमन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय हैं अन्य कुछ नहीं। यास्क का निरुक्त देवताओं के अर्थों पर अच्छा प्रकाश डालता है और उसके अनुसार ये देवता वैज्ञानिक तत्व के अतिरिक्त कुछ नहीं ठहरते। वह अग्नि के पृथिवी स्थान, इन्द्र अर्थात् वायु को अन्तरिक्षस्थान और सूर्य को द्युस्थान मानता है। इन्हीं तीन स्थानों में मुख्य वैज्ञानिक तत्वों का सन्निवेश उसके अनुसार है। विष्णु का अर्थ भी यास्क सूर्य मानता है। इस प्रकार देवताओं का अर्थ समझ लेने पर विद्यार्थी को वेदों के मन्त्र वैज्ञानिक अर्थ को देते हुये दिखलाई पड़ेंगे। जब इन देवताओं का उसे आध्यात्मिक दृष्टिकोण मालूम हो जावेगा तो मन्त्र अध्यात्म का प्रतिपादन करते हुए मिलेंगे। अर्थ जानने के लिए ये देवता कुंजी हैं। इन्द्र, रुद्र, अग्नि, आदित्य, आदि देवता वेदमन्त्रों में मिलते हैं। इनको यदि ब्राह्मण ग्रन्थों को उठाकर देखा जावे और उनके आधार पर पढ़ाया जाये तो वेद का बहुत कुछ ज्ञान विद्यार्थी को मिल सकता हैं। उदाहरणार्थ संक्षेप में इन देवताओं का ब्राह्मण ग्रन्थों से अर्थ दिखलाया जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।१०।४ में बतलाया गया है कि इन्द्र वह है जिसमें इन्द्रियाँ सार्थक होती हैं—अर्थात् आत्मा-पाणिनीय व्याकरण ५।२।६ सूत्र से "इन्द्रिय" शब्द की सिद्धि भी इसी धारणा पर आधारित है। शतपथ ब्राह्मण ४।६।७। ११ और ४।१।३।१६ के अनुसार क्रमशः इन्द्र का अर्थ सूर्य और वायु है। शतपथ ११।६।३।६ के अनुसार विद्युत् का नाम इन्द्र है। पुनः शतपथ २।३।१।७ में परमेश्वर को इन्द्र कहा गया है। इसी प्रकार इन्द्र देवता के विविध अर्थ ब्राह्मणों में प्राप्त हैं। 'रुद्र' के विषय में शतपथ ५।३।१।१० में कहा गया है कि वह अग्नि है। पुनः शतपथ ६।१।३।३८ मे इसे अग्नि मान कर इसके आठ रूप गिनाये गये हैं—जो बहुधा साधारण रूप से रुद्र के नामों में प्रयुक्त किये जाते हैं। वे ८ रूप हैं— रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महान्देव और ईशान। नवाँ रूप कुमार है। शतपथ १।७।३।८ में पुनः इसे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि यह रुद्रदेव अग्नि ही है और इसके ये सर्व आदि नाम हैं। शर्व ऐसे नाम से इसे पूर्व के लोग और 'भव' नाम से वाहीक लोग पुकारते हैं। वस्तुतः रुद्र पशुपति है और वह अग्नि है। जब इसे बहुवचन में प्रयोग किया जाता है तो इससे दश प्राण और ११ वाँ आत्मा गृहीत होता है। शतपथ ब्राह्मण ११।६।३।७ में यह वर्णन समुपलब्ध होता है। रुद्र नाम से महान् देव परमात्मशक्ति का भी ब्राह्मण ग्रन्थों में उल्लेख है। अग्नि का अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थ में देते हुए लिखते हैं कि यह सृष्टि की रचना में सर्व प्रथम उत्पन्न की गयी अतः "अग्रि' होने से इसे अग्नि कहा जाता है। शतपथ ६।१।१।११ इसके लिए प्रमाणरूप मे देखा जा सकता है। शतपथ ६।४।२।२५ में- घर्म, अर्क, शुक्र ज्योति और सूर्य से अग्नि का बोध होता है। यजुर्वेद १८।५० मे ये सारे नाम

एक ही मंत्र मे आये हैं। शतपथ ६। ७। १। २० और १। ३। ३। १६ मे क्रमशः आत्मा और ब्रह्म को अग्नि कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों मे शतशः स्थलों पर अग्नि के भिन्न भिन्न अर्थ और उसके कार्य तथा गुण बताये गये हैं, जिनके पढ़ने से ज्ञान की अच्छी अभिवृद्धि हो सकती है। ब्राह्मणों में (गोपथ उ० ६। १४) आदित्य सूर्य को कहा गया है, ये १२ हैं। बहुवचन में इनसे १२ मासों का ग्रहण होता है। अदिति के पुत्र आदित्य आठ हैं-इसका वर्णन ऋग्वेद १०। ७२ सूक्त में मिलता है और शतपथ ३। १। ३। ३ में मिलता है। इस दृष्टि से अदिति प्रकृति है और उसकी सात प्रकृति विकृतियें और आठवाँ जगत् का पिण्डभूत सूर्य है। मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र और विवस्वान् और अर्यमा ये सप्त अदिति के पुत्र विकार हैं और आठवां विकार "मार्तण्ड" है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में देवों का वर्णन मिलता है। यदि इनके आधार पर वेदों के देवों का निर्णय करके वेद की शिक्षा दी जावे तो इस दिशा में अच्छी सफलता मिल सकती है।

इसी प्रकार दूसरी जो वस्तु निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों से मिलती है—यौगिक प्रक्रिया की है। इनके अनुसार वेद के सभी शब्द यौगिक हैं। इस यौगिकता का परिज्ञान हो जाने पर मन्त्रों का अर्थ समझने में अत्यन्त सरलता हो जाती है और अर्थ भी अच्छे से अच्छा भासित होने लगता है। वेद के शब्द यौगिक हैं इसका वेद के ही शब्दों का विचार करने पर स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। वेदों में एक ही शब्द विशेषण और विशेष्य दोनों रूप में प्रयुक्त है। एक ही शब्द का प्रयोग बिना ऐसा माने संभव नहीं. नीचे की तालिका से यह बात स्पष्ट हो जावेगी।—

महीमवनिम्—	ऋ० ४। १६। ६
उर्वी पृथ्वी—	ऋ० १। १८५। ७
उर्वी पृथ्वी—	ऋ० ६। ७। १
अत्ति भूमिं पृथ्वीम्—	ऋ० ५। ८५। ४
भूमि पृथिवीम्—	ऋ० १२। १। ७
यथेयं पृथिवी मही दाधार—	ऋ० १०। ६०। ६
शुक्राय भानवे—	ऋ० ७। ४। १
सूर्यस्य हरितः—	ऋ० ५। २६। ५
इन्द्रं मघवानम् –	ऋ० ७। २८। ५
तोकाय तनयाय—	ऋ० ६। १। १२
आ मही रोदसी—	ऋ० ६। ४१। ५
मही अपारे रजसी—	ऋ० ६। ६८। ३
अश्वं न वाजिनम्—	ऋ० ७। ७। १

अत्यं न सप्तिम्-- ऋ० ३ । २२ । १
तरसे वलाय-- ऋ० ३ । १८ । ३
अत्यं न वाजिनम्-- ऋ० १ । १२६ । २

निरुक्त में लिए गये वैदिक शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों में वैसे ही समानार्थक देखे जाते हैं । निरुक्त का आधार ब्राह्मणग्रन्थ मालूम पड़ते हैं । नीचे की शब्दसूची इस पर प्रकाश डालेगी—

पता	निघण्टु		ब्राह्मण	पता
१ । १४	अत्यः	अश्व	अत्योऽसि (अश्व)	तैत्तिरीय ३ । ८ । ६ । १
३ । १७	अध्वरः	यज्ञ	अध्वरो वै यज्ञः	शतपथ १ । ४ । १ । ३८
१ । १२	अन्नम्	उदक	अन्नं वाऽऽपः	शतपथ ५ । ३ । ५ । १७
२ । ७	अर्क	अन्न	अन्नमर्कः	,, १ । १ । १ । ४
३ । ४	अन्तम्	गृह	गृहा वाऽस्तम्	,, २५ । २ । २६
२ । ११	अदितिः	गौ	अदितिर्हि गौः	,, २ । ३ । ४ । ३४
१ । १	अदितिः	पृथिवी	इयं वा पृथिव्यदितिः	,, १ । १ । ४ । ५
१ । ११	अदितिः	वाक्	वाग्वा अदितिः	,, ६ । ५ । २ । २०
१ । १०	अद्रिः	मेघ	गिरिर्वाऽद्रिः	,, ७ । ५ । २ । १८
१ । ३	अमृतम्	हिरण्य	अमृतं वै हिरण्यम्	,, ६ । ४ । ४ । ५
२ । ७	आयुः	अन्न	अन्नमु वाऽआयुः	,, ६ । २ । ३ । १६
२ । ७	इषम्	अन्न	अन्नं वा इषम्	कौषीतकी २८ । ५
२ । ७	इडा	अन्न	अन्नं वा इडा	ऐतरेय ८ । २६
१ । १	इडा	पृथिवी	इयं (पृथिवी) इडा	कौषीतकी ६ । २
२ । ११	इडा	गौ	गौर्वा इडा	शतपथ ३ । ३ । १ । ४
२ । ७	ऊर्क्	अन्न	अन्नं वा ऊर्क	,, ३ । २ । १ । ३३
३ । ६	कम्	सुख	सुखं वै कम्	गोपथ उ० ६ । ३
१ । २	चन्द्रम्	हिरण्यम्	चन्द्रँ हिरण्यम्	तैत्तिरीय १ । ७ । ६ । ३
२ । ३	जन्तवः	मनुष्य	मनुष्या वै जन्तवः	शतपथ ७ । ३ । १ । ३२
३ । ४	दुर्याः	गृह	गृहा वै दुर्याः	,, १ । १ । २ । २२
१ । ११	धेनुः	वाक्	वाग्वै धेनुः	ताण्ड्य १८ । ६ । २१
२ । ७	नमः	अन्न	अन्नं नमः	शतपथ ६ । ३ । १ । १७
२ । १०	नृम्णम्	धन	नृम्णानि धनानि	,, १४ । २ । २ । ३०
३ । १७	प्रजापतिः	यज्ञ	यज्ञः प्रजापतिः	,, ११ । ६ । ३ । ६
१ । १२	रेतः	उदक	आपो हि रेत	ताण्ड्य ८ । ७ । ६
३ । १७	विष्णुः	यज्ञ	विष्णुर्वै यज्ञः	ऐतरेय १ । २५
२ । ६	शवः	बल	बलं वै शवः	शतपथ ७ । ३ । १ । २६

इस तालिका में दिखलाये गये शब्द निघण्टु में, जो निरुक्त का संग्रह भाग है और ब्राह्मणग्रन्थों में ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। यदि इस प्रकार की प्रक्रिया विद्यार्थी को मालूम हो जावे तो वह दृढ़ता और सन्तोष के साथ वेदों के अध्ययन में अग्रसर हो सके। इसके अभाव में वेदमंत्रों को पढ़ते समय जब उसकी दृष्टि असंघटनीय अर्थों की ओर जा पड़ती है तो उसे इनके पढ़ने की इच्छा ही नहीं होती। इस अरुचि से उसका उत्साह मारा जाता है यद्यपि इस दिशा में अब जो पाठ्यक्रम बनाया गया है वह प्रशस्त है परन्तु उसके पढ़ने और पढाने की दृष्टि भी वैसी ही होनी चाहिए। निरुक्त और ब्राह्मणग्रन्थों का अध्ययन पूर्व लिखी दृष्टियों से वेदाध्ययन के लिये अत्यन्तावश्यक है। व्याकरण का परिज्ञान प्रकृतिप्रत्यय आदि को समझने भर का तो अवश्य ही होना चाहिए। साथ ही प्रातिशाख्य का ज्ञान ज़रुरी है। यजुर्वेद १३। ५७मे 'विश्वामित्र'' पद आया है। पाणिनीय अष्टाध्यायी ६। ३। १३० से यह शब्द पाणिनीय व्याकरणानुसार वर्तमान टीकाकारों की दृष्टि से तब सिद्ध होता है जब इसे विश्वामित्र के रूढ अर्थ मे लिया जावे। विश्व का मित्र विश्वामित्र है- इस अर्थ में यह व्याकरणसूत्र सहायक नहीं है। परन्तु वेद में विश्वामित्र इसी सर्वमित्र के अर्थ में ही आया है। ऐ० ६। २० में कहा गया है कि विश्व का मित्र विश्वामित्र और इसका भाव विश्वमित्र है। इस अर्थ को देने के लिए यजुः प्रातिशाख्य में ''नरहामित्रेषु च'' सूत्र पढ़ा गया। इसका अर्थ है कि 'नर, हा, और मित्र' शब्द बाद में हों तो विश्व शब्द को दीर्घ आदेश होता है। अष्टाध्यायी के पूर्वोक्त सूत्र से जो भाव नहीं सिद्ध होता था वह प्रातिशाख्य ने सिद्ध किया। इस लिये प्रातिशाख्यों का अध्ययन भी ऐसी दृष्टियों से उपयोगी है। स्वरों के ज्ञान के विषय में भी प्रातिशाख्यों का ज्ञान उपयोगी है।

इन सब बातों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य के विषय में छात्रों की अनुसंधान की प्रवृत्ति बढ़ानी चाहिए। इस प्रवृत्ति का अध्यापक और अध्ययनार्थी दोनों में अभाव सा ही देखा गया है। यह कार्य केवल ग्रन्थों के अर्थ विद्यार्थियों के सामने कर देने से नहीं संपन्न होगा। इसमें घोर अध्ययन और खोज की आवश्यकता है। जिन ब्राह्मण ग्रन्थों से वेदार्थ खुलता है उनकी संख्या का भी पता कुछ थोड़े ही लोग रखते हैं। लुप्त ब्राह्मणग्रन्थों की तो बात ही क्या? अब काण्वशाखीय शतपथ ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण प्रकाशित हो चुके हैं। चरक ब्राह्मण, अग्निष्टोमीय ब्राह्मण, श्वेताश्वतर ब्राह्मण, काठक ब्राह्मण, मैत्रायणी ब्राह्मण, भाल्लवि ब्राह्मण, जाबाल ब्राह्मण, पैङ्गी ब्राह्मण, शाट्यायन ब्राह्मण, कंकति ब्राह्मण, सौलभ ब्राह्मण, कालववि ब्राह्मण, शैलालि ब्राह्मण, रौरुकि ब्राह्मण, खाण्डिकेय ब्राह्मण, औखेय, हारिद्राविक, तुम्बरू और आरुणेय ब्राह्मणों का ग्रन्थों में वर्णन मिलता है परन्तु हैं ये अप्राप्य। ऐसे ही बहुत सा वैदिक साहित्य अप्राप्य है। यदि इधर अनुसंधान की प्रवृत्ति हो जावे तो सन्देह नहीं कि कितने ग्रन्थ-रत्न प्राप्त हो जावेंगे। इस लिये अनुसंधानीय वृत्ति पैदा करना भी परमावश्यक कार्य है।

१५

गणित-विज्ञान और भारतीय दृष्टिकोण

यद्यपि सत्य में प्राची, प्रतीची और इँगलेंड तथा भारत का भेद नहीं, वह तो देशकाल की सीमा से परे, सार्वभौम, सर्वत्र एक समान है; परन्तु फिर भी किस अवस्था में किसने उसे समझा, यह बतलाना देश, जाति और संस्कृति के स्तर का परिचायक है। अतः इन पंक्तियों में उपरिकथित शीर्षक से इस विज्ञान को भारतीयों ने किस प्रकार समझा था, उनका इस विषय में क्या दृष्टिकोण था, आदि का एक संक्षिप्त सा परिचय दिया जाता है। भारतीय साहित्य में सबसे अधिक प्राचीनता वेदों को दी जाती है। आर्य लोग इन्हें ईश्वरीय मानते हैं। ऋग्वेद इनमें से संसार के पुस्तकालय में सर्वप्राचीन पुस्तक है, यह तो लगभग सभी विचारवान् विद्वानों की सम्मति है। वेद इस विज्ञान के विषय में क्या विचार रखते हैं, यह पहले देखना है। विचारपूर्वक देखा जाय तो कई वैदिक संहिताओं में गणित के बीज पाये जाते हैं,। अंकगणित, रेखागणित आदि के विचार वेदों में देखे जाते हैं, यही कारण है कि उनके आधार पर रचे गये ज्योतिष आदि वेदांगों में उच्च श्रेणी का गणित पाया जाता है। जितने भी गणित के ग्रन्थ लिखे गये वेद को आधार मान कर लिखे गये।

अंक-गणित विशुद्ध काल का विज्ञान हैं और रेखागणित विशुद्ध देश का। इनका प्रारंभिक व्यवहार आकाशस्थ ग्रहों की गतियों से सम्बद्ध है अतः पृथक् पृथक् इस प्रकार का वर्णन वैदिक साहित्य मे नहीं दिया गया। परन्तु इतना अवश्य है कि इस महत्त्वपूर्ण विषय की उपेक्षा भी नहीं की गयी है। ऋग्वेदसंहिता में एक मंत्र जो कि यजुः आदि में भी मिलता है, इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। यह मंत्र, रेखागणितविज्ञान विशुद्ध देशका विज्ञान है इसकी और निर्देश करते हुए तत्सम्बन्धी गणित-विज्ञान का वर्णन करता है। मंत्र भी इतना प्रसिद्ध है कि वेदाध्यायियों में प्रत्येक की जिह्वा पर रहता है। वेद के सभी भाष्यकारों ने इसके भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं। कोई इसे परमेश्वर के अवतार के विषय में लगाता है तो कोई वैज्ञानिक ढंग पर सूर्य के अर्थ में। नैरुक्त लोग इसे सूर्यपरक ही मानते थे, ऐसा यास्कीय निरुक्त के देखने से स्पष्ट पता चलता है। नैरुक्तों का यह अर्थ बहुत ही विज्ञानपूर्ण है। ठीक हैं, मंत्र के ये अर्थ भी हैं और इनसे दूसरे भी अर्थ हो सकते है। सत्य जिस प्रकार प्राची, प्रतीची के भेद से रहित है, वैसे ही वह वैयक्तिक दृष्टिकोणों की परिधि में

भी बँधा हुआ नहीं है। सत्य व्यक्ति पर नहीं अवलंबित है वल्कि व्यक्ति उसके प्रकारों को अनेक तरह से समझ सकता है। मेरे विचार में इस मंत्र में जो विष्णु को वामन' मानकर उसके द्वारा सारे ब्रह्माण्ड को मापने की कल्पना की गयी है, वह गणितपरक है। वामनावतार सम्बन्धी जो गाथा है, वह वास्तव में, वामनावतार भले ही न सिद्ध कर सके परन्तु रेखागणित के विज्ञान की ओर निर्देश अवश्य करती है। संसार में वामन के द्वारा ब्रह्माण्ड को मापना न तो देखा गया और न कल्पना में ही आ सकता है। फिर 'वामन' क्या है ? इसका समाधान मेरे विचार में यह है कि विष्णु जिसे 'वामन' कहा जाता है वह माप (Measurement) का प्रतिरूप (Symbol) है। ब्रह्माण्ड क्या है ? इसको हम देश (Space), जो हमारे सामने है, उसके विस्तार से कल्पित कर सकते हैं। कितना बड़ा यह देश है इसकी कल्पना करना भी कठिन कार्य है। फिर भी विष्णु जो स्वयं वामन है, इसे तीन कदमों मे माप लेता है, यह एक आश्चर्य की बात है। जब हम वामन को माप मान लेते हैं तब सारा देश तीन कदमों में उससे भली प्रकार मापा जा सकता है। सपाट को वर्ग आदि से मापा जा सकता है परन्तु देश सपाट तो है नहीं अतः उसे विशेष प्रकार से मापना पड़ेगा। इस विशेष प्रकार के माप को ही यह विष्णुवाली गाथा बतलाती है। सारा देश तीन परिमाणोंवाला (Tridimensional) है। वह सारा त्रिकोण (Triangle) में आता है और उसी से उसकी माप हो सकती है। काल के विषय में भी ऐसी ही व्यवस्था है। इसी बात को मंत्र और गाथा में बतलाया गया है। संपूर्ण देश की माप तो इस प्रकार बतलायी गयी परन्तु पृष्ठ की मापका पैमाना भी बतला गया है, वह है 'वेदि' जिससे समतल आतत आदि की माप की जाती है। वेदि (Square) और विष्णु का सम्बन्ध भी वैदिक साहित्य में बहुत घनिष्ठ दिखलाया गया है। पृथ्वी को वेदि से और देश को विष्णु के तीन कदमों से मापा जाता है, यह वैदिक साहित्य के अध्ययन से समुपलब्ध होता है। ऋग्वेद में एक अन्य स्थल पर वर्णन करते हुए दिखलाया गया है। कि 'विभेद परिधींरिव त्रितः'। अर्थात् जिस प्रकार परिधि (Circle) को त्रित (Triangle) काटता है उसी प्रकार इन्द्र ने वृत्र की मण्डलाकार स्थित सेना को काट दिया। कई लोग 'त्रित' का अर्थ व्यक्तिविशेष करते हैं परन्तु यहाँ पर उसका सम्बन्ध तो कोई घटता नहीं। यहाँ पर उसका अर्थान्तर ही लेना पड़ेगा। कई अन्य आचार्यो ने भी इसका अर्थान्तर माना ही है। यास्क और उसके भाष्यकार स्कन्द आदि ने इसका अर्थ तीन स्थानों में रहनेवाला इन्द्र किया है। उन के इस पथ-प्रदर्शन से हमें भी समुचित अर्थान्तर निकालने का अवसर मिलता है और इसका पूरा लाभ उठाने में कोई बाधा भी मालूम नहीं पड़ती। 'त्रित' का अर्थ यहाँ पर लेना चाहिए त्रिकोण (Triangle) जो कि युक्तिसंगत है और उपमा भी ऐसा करने में सार्थक हो जाती है। अर्थ स्पष्टतया यह भासित होने लगेगा कि जिस प्रकार त्रिभुज परिधि को काटता है उसी प्रकार इन्द्र ने वृत्र की सेना के मंडलाकार व्यूह को काट दिया। त्रित के कूप पतन की गाथा भी इसी

प्रकार रेखागणित के इस तथ्य पर प्रकाश डालती है। त्रिभुज की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए पुनः एक स्थल पर लिखा गया है "योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।" अर्थात् त्रिभुजाकार स्थान को बनाकर शयन करता हुआ। अन्यत्र भी बहुत से मंत्रो में रेखागणित का वर्णन मिलता है, जिसका विशद वर्णन समयान्तर से मैं पुनः पुस्तक के रूप में उपस्थित करने की इच्छा रखता हूँ। इसी प्रकार गणित के दूसरे विज्ञान अंकगणित का भी स्पष्ट वर्णन अनेक स्थलों पर वेदों में देखा जाता हैं। यजुर्वेद में इकाई दहाई से लेकर परार्ध्य पर्यन्त अंकन (Notation) का प्रकार दिखलाया गया है। जब की दूसरे देशो में दश करोड़ से आगे यह प्रकार नहीं बढ़ता, यजुर्वेद में इसे पूरे परार्ध्य अर्थात् २० अंक तक इसके मान को दिखलाया गया है। जब अंकन का प्रकार इतना है तो आगे इसका विस्तार तो अवश्य ही अधिक होगा। अथर्ववेद में एक मंत्रांश शतं च ते ऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः" में सृष्टि की आयु के वर्षो का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि सात अदद तक शून्यों के बाद क्रमशः दो तीन चार करने अर्थात् ४,३२ ००,०० ००० से सृष्टि के वर्षों की संख्या आती है। यह ब्रह्मा का एक दिन वर्णन किया है और ब्रह्मरात्रि का परिणाम भी इतना ही है। इस लम्बे समय में सूर्य के उन विन्दुओं का जहाँ पर कि किसी ग्रह-गति की परिधि का कटाव होता है शीर्षतल (नोड्ज) तथा पदतल (एम्पायजर) का एक पूर्ण चक्कर हो जाता है। इस ज्योतिष की घटना के अनुसार ही यह समयसीमा ब्रह्म-दिन की या सृष्टि के आयु की नियत की गयी। इसे ही आधार मानकर हमारे ज्योतिष ग्रन्थों में युगों की गणना, तथा अन्य प्रकार की कालगणनाओं का विस्तार किया गया। यजुर्वेद में एक मंत्र में १, ३, ५, ७ और ९ आदि कहकर दो दो के अन्तर से विषम संख्याओं का युग्म वर्णन किया गया है। इससे सब के सब पहाड़े बन जाते हैं और अंकगणित के अन्य बहुत से नियम निकलते हैं। इस मंत्र में दी गयी संख्याओं के परस्पर योग, गुणन, शेषकरण तथा भाग से विस्तृत अंकगणित का विकास हो सकता है। मंत्र में स्पष्ट ही वर्ग [Sqare] और वर्गमूल [Square-root]का वर्णन दृष्टिगोचर हो रहा है। जिस छोटी संख्या का वर्ग निकालना हो क्रमशः उतने नम्बर तक मंत्रक्रम में पठित अंकों का योग कर देनेसे तत्काल वर्ग निकल आवेगा। उदाहरणार्थ ३ अथवा चारका वर्ग निकालना हैं तो क्रमशः मंत्र में पठित संख्याक्रम १+३+५ तथा १+३+५+७ को जोड़ने से ९ और १६ उनके फल वर्ग के रूप में निकल आवेंगे। वैसे ही और भी अन्य प्रकार इन मंत्रों से निकल सकते हैं। उस से अगले मंत्र मे चार के पहाड़े के साथ साथ समसंख्याओं का वर्णन मिलता है। इससे भी अंकगणित के कई प्रकार निकल सकते हैं। बीजगणित रेखा और अंको के विज्ञान से निकला है अतः इससे मालूम पड़ता है कि उसका वर्णन इनके अन्तर्गत ही है।

वेद मे मूलरूप में आयी इस गणितविद्या को ही अन्य ज्योतिष तथा गणित के संस्कृत ग्रंथों में पल्लवित किया गया है। सूर्य सिद्धान्त आदि ज्योतिष ग्रंथोंकी उत्पत्ति वेद के मूल को लेकर ही हुई है, यह आचार्यजन स्वयं स्वीकार करते हैं। इन ग्रंथों के रचनाकाल में भारतने गणित विज्ञान के सभी अङ्गों मे उन्नति की थी. इनके देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है। आचार्यों ने ऐसे ऐसे गणित के प्रस्तावों और प्रयोगों को प्रयोगात्मक रूप दिया कि आज समस्त गणितज्ञसंसार उनकी प्रशंसा करता है। भारत में जहाँ ज्योतिष-विज्ञान अत्यन्त उच्च स्थान पर था वहाँ उसके सहकारी गणित ने भी अच्छी सीमा तक उन्नति प्राप्त की थी। ज्योतिष और गणित विद्या के १८ प्राचीन आचार्य हो चुके हैं जो भास्कर से भी बहुत पूर्व के हैं। यद्यपि इन सबके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं फिर भी उनके नाम ग्रन्थों में मिलते हैं। वे १८ आचार्य सूर्य, ब्रह्मा, व्यास, वसिष्ठ, अत्रि, पराशर, काश्यप. नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अंगिरा, लोमश, पुलिश च्यवन, यवन भृगु और शौनक हैं। इन सभी आचार्यों के ग्रन्थ यदि समुपलब्ध हो जावें तो संसार का बड़ा ही उपकार हो सकता है। नारद भी इन आचार्यों में से एक है। इनको लोक में जितनी बुरी तरह याद किया जाता है. वह सभी को विदित है। नारद नाम लेते ही लोग भेद लगानेवाले का अर्थ निकाल लेते हैं, । भारत में नारद, दुर्वासा, मन्थरा और माहिल अपने वास्तविकता से भिन्न अर्थो में ही प्रचलित हैं। परन्तु जो कुछ भी हो, नारद के विषय में यह बात वास्तविक नहीं जान पड़ती। नारद को प्राचीन संस्कृत साहित्य में महर्षि सम्बोधित किया गया है। चन्द्रमा में भी कलंक होता ही है, अतः हो सकता है कि उनमें भी लोक प्रसिद्धिवाले गुणों की विद्यमानता रही हो, परन्तु वे निःसन्देह गानविद्या, वाद्यविद्या और गणित आदि अनेक विद्याओं में पारंगत, महान् विद्याविशारद ऋषि थे। सनत्कुमार के समीप जाने पर अपने हृदयंगत बोध का जो परिचय उन्होंने दिया है उससे इस कथन में सन्देह को कोई स्थान नहीं रहता। नारद ने वहाँ अपने मुख से बतलाया है कि वह अमुक अमुक विद्याएँ जानते थे। वे विद्याएँ हैं:—ऋग्वेद, यजुर्वेद. सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण (History) ; वेदानांवेदः (Grammar and Philosophy etc) ; पित्र्यं (Anthropology), राशि (Mathematics) ; दैव-उत्पात आदि विद्या (Physical Geography), निधि (Minerology) ; वाकोवाक्य (Logic) ; एकायन (Ethics) देवविद्या (Physical Science); ब्रह्मविद्या (Metaphysics) ; भूतविद्या (Zoology and Anatomy etc) क्षत्रविद्या (Military Science and Art of Govermment) ; नक्षत्रविद्या (Astronomy); सर्पविद्या (Science treating Venomous reptiles) और देवजन विद्या (Art of singing and playing on instruments)। ये विद्याएं हैं, इनमें

गणित का भी परिगणन है, जो स्पष्टतया प्रमाणित करता है कि नारद एक महान् गणितज्ञ भी थे। इस विषय पर इनका कोई ग्रन्थ भी था, यह अभी अन्धकार के गर्भ मे है। गणितसम्बन्धी वाल्मीकि गणित नामी एक और भी प्राचीन ग्रन्थ का पता चलता है। हो सकता है कि खोजसे भविष्य में वह उपलब्ध भी हो सके यद्यपि इस नाम का एक छोटासा ग्रन्थ उपलब्ध भी है परन्तु यह वही है कहा नहीं जा सकता। बड़ौदा के राजकीय पुस्तकालय में एक हस्तलेख है जो कि महर्षि भरद्वाज के 'यन्त्रसर्वस्व' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का बोधानन्दवृत्ति सहित 'वैमानिक प्रकरण' अपूर्ण भाग मात्र है। यह भी वृत्तिकार के हाथ का नहीं बल्कि प्रतिलिपि है। इस हस्तलिखित वैमानिक प्रकरण ग्रन्थ में २५ भिन्न भिन्न विद्याविषयक आर्षग्रन्थों की सूची दी गयी है। इस सूची में वाल्मीकिकृत वाल्मीकिगणित का भी उल्लेख आया है। ग्रन्थों की सूची भी वहाँ से जिज्ञासुओं के लाभार्थ दी जाती है जो कि इस प्रकार है:—

(१) शक्तिसूत्रम्—अगस्त्यकृतम्।
(२) सौदामिनीकला—ईश्वरकृता
(३) शुद्धिविद्याकलापम्—आश्वलायनकृतम्
(४) ब्रह्माण्डसारः—व्यासप्रणीतः
(५) अंशुज्ञानम्
अंशुमत्तंत्रम् } —भरद्वाजकृतम्
(६) छन्दः कौस्तुभः—पराशरप्रणीतः
(७) कौमुदी—सिंहकोठकृता
(८) रूपशक्तिप्रकरणम्—अंगिरसकृतम्
(९) करकप्रकरणम् ,, ,,
(१०) अकाशशास्त्रम भरद्वाजकृतम्
(११) लोकसंग्रहः—विसरणकृतः
(१२) अगतत्त्वलहरी—आश्वलायनकृता
(१३) प्रपंचलहरी—वशिष्ठकृता
(१४) यन्त्रसर्वस्वम्—भरद्वाज कृतम्।
(१५) लोहशास्त्रम्—शाकटायनकृतम्।
(१६) जीवसर्वस्वम्—जैमिनिकृतम्
(१७) कर्माब्धिपारः—आपस्तम्बकृतः
(१८) धातुसर्वस्वम्—बौधायनकृतम्
(१९) रुकहृदयम्—अत्रिकृतम्
(२०) नामार्थकल्पः—अत्रिकृतः
(२१) वायुतत्त्वप्रकरणम्—शाकटायनकृतम्
(२२) वैश्वानरतन्त्रम्—नारदकृतम्

(२३) धूमप्रकरणम्—नारदकृतम्
(२४) औषधिकल्पः—अत्रिकृतः
(२५) वाल्मीकिगणितम्--वाल्मीकिकृतम्

इस सूची में महार्ह ग्रन्थ हैं। यदि ये सब के सब प्राप्त हो जावें तो, इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य-जाति का एक महान् उपकार हो। पहले ऐसे ग्रन्थरत्न उपस्थित थे परन्तु विकराल काल ने उन्हें अवशिष्ट नहीं रखा। इनके विषय में वास्तव में महान् खोज की आवश्यकता है। अस्तु कुछ भी हो, इन उद्धरणों से यह भली प्रकार सिद्ध है कि भारत ने अन्य विद्याओं के साथ साथ गणित में भी प्राचीन काल में बहुत उन्नति की थी।

ब्राह्मणग्रन्थों और शुल्वसूत्रों को देखने से पता चलता है कि यज्ञ के कार्यों के संपादनार्थ आर्य लोग ज्योतिष, गणित और रेखागणित आदि अनेक विषयों से काम लेते थे। यज्ञार्थ उपयुक्त समय निश्चित करने के कुछ नियमों की आवश्यकता ने आर्यों में ज्योतिषविद्या के अन्वेषणों की भावना पैदा की और इसी आवश्यकता की पूर्त्ति में रात रात ग्रहों तारों आदि का निरीक्षण कर ज्योतिष विज्ञान का विस्तार किया। मंत्रों के अशुद्ध उच्चारण करने से अनर्थ होगा, इस भावना ने उन्हें अर्थविज्ञान (Phoenitics) के अन्वेषण को प्रेरित किया और उन्होंने एक चरम सीमा का ध्वनिविज्ञान संसार के सामने उपस्थित किया। यज्ञकुण्डों के निर्माण करने की आवश्यकता से भारत में रेखागणित की खोज हुई। ब्राह्मण और कल्प ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के यज्ञकुण्डों के निर्माण करने का निर्देश किया गया है। उनकी रचना रेखागणित के ज्ञान के विना नहीं हो सकती। अतः आर्यों ने—ऐसे वर्ग (Squares) निकालना जो कि दो या अधिक दिये वर्गों के समान हों; या दो दिये वर्गों के अन्तर के समान हों; आयतों (Oblongs) को वर्गों (Sqare) और वर्गों को आयतों में परिवर्तित करना; और त्रिभुज (Tringle) को ऐसा बनाना कि वह दिये गए वर्गों और आयतों के बराबर हो जावे इत्यादि बातों की खोज की। उन्होंने यह भी जानने का प्रयत्न किया कि एक ऐसे वृत्त (circle) को निकाला जावे जिसका क्षेत्रफल संभवतः अधिकांश निकटतम रूप से दिये गये वर्ग के समान हो सके। इन नियमों को प्रयोगात्मक रूप देने से रेखागणित के नियमों की एक माला बन गयी, जो शुल्वसूत्रों में हमें भली प्रकार मिलते हैं। ये शुल्वसूत्र कल्पसूत्रों के एक अंश हैं। यूनानी लोग और शुल्वसूत्रों को न देखे हुए केवल पाश्चात्य लोगों के चरण-चिन्हों पर चलनेवाले लोगों का कहना है कि "रेखागणित का यह सूत्र कि कर्ण-त्रिभुज के समकोण के सामने की रेखा (Hypotenuse) का वर्ग समकोण-चतुर्भुजात्मक त्रिकोण Rectangular triangle के दूसरे दो भुजों के वर्गों के बराबर होता है", पैथागोरस नामी यूनानी विद्वान् का है। परन्तु यह पैथागोरस

से दो शताब्दी पूर्व और ईसा से ८ शताब्दी पूर्व भारत में जाना जा चुका था। पैथागोरस ने भी इसे भारतीयों से ही सीखा था जो कि आगे के पृष्ठों में व्यक्त हो जावेगा। यह प्रस्ताव वास्तव में दो नियमों में प्रचलित कात्यायनशुल्वसूत्र में ज्यों का त्यों विद्यमान् है। यह यूक्लिड का ४७ वाँ साध्य है जिसे लोग अभारतीय विद्वानों की देन समझते थे परन्तु शुल्वसूत्र में इसे देखकर लोगों को आश्चर्यचकित होना पड़ता है, तदनुसार ये दोनों साध्य इस प्रकार बनेंगे--

१--किसी (Sqare) वर्ग के कर्ण (Diagonal) पर जो वर्ग बनाया जाता है वह उस वर्ग से द्विगुण होता है।

२--एक आयत (Oblong) के कर्ण (diagonal) पर का वर्ग उस आयत के दो असमान बाहुओं (Sides) पर के वर्ग के बराबर होता है।

इसके अतिरिक्त इन शुल्वसूत्रों में किसी वर्ग के त्रिगुणित, चतुर्गुणित, पंचगुणित अथवा अनेकबारगुणित क्षेत्र का वर्ग बनाने; भिन्न भिन्न आकारों के दो वर्गों को मिलाने; किसी वर्ग को किसी से पृथक् करने; किसी आयत को वर्ग अथवा वर्ग को आयत में परिवर्त्तित करने; किसी वर्ग को वृत्त और वृत्त को वर्ग में परिवर्तित करने आदि के नियम देखे जाते हैं। इस प्रकार भारतीय वाङ्मय के अध्ययन और विवेचन से पता चलता है कि भारत में गणित का पूरा विस्तार था। इसी प्रकार भारतीयों के अंक-विज्ञान की भी तुलना कहीं नहीं प्राप्त है। भारत के अंकगणितज्ञ धरा के अन्य देशों से कहीं आगे बढ़े हुए थे। दशमलव के अंकन (Decimal Notation) के प्रकार को भी संसार ने भारतीयों से सीखा। बिना इस दशमलव अंकन के अंकगणित का एक प्रयोगात्मक विज्ञान (Pratical Science) के रूप में आना असंभव था। शून्य को भी भारतने समस्त संसार को दिया। बिना इसके बड़ी संख्यावों के लिखने में कितनी कठिनाई होती। अरब के लोगों ने इस विधि को भारतीयों से सीखा और योरप में प्रचारित किया। पुराने समय में रोम के लोग इससे पूर्णतया अनभिज्ञ थे और इसमें किसी विशेष प्रकार की उन्नति इसीलिए नहीं कर सके। अस्तु। इसके इतिहास की बात तो बाद में बीजगणित के इतिहास शीर्षक में लिखी जावेगी। यहाँ पर तो इतना ही कहना आवश्यक है कि भारतीय इस विज्ञान में पूर्वकाल से ही बड़े समुन्नत थे। वेद से लेकर इस विज्ञान-सम्बन्धी भारतीय संस्कृत साहित्य में समुन्नत गणित का प्रकार मिलता है। ब्रह्मसिद्धान्त, भास्कर के सिद्धान्त-शिरोमणि और लीलावती आदि ग्रंथ इस विषय में एक उच्च स्थान रखते हैं। पाश्चात्य गणितज्ञ भी इनकी प्रशंसा करते हैं इनमें प्रदर्शित बीजगणित के प्रकार पर भी विद्वज्जन बहुत ही मुग्ध हैं।

१६

वेद पर दार्शनिक दृष्टि

साधारण धारणा है कि वेदों में केवल कर्मकाण्ड का ही वर्णन है, इसी में वे पूर्णतया चरितार्थ हैं; परन्तु यह धारणा विचार करने पर एकान्तिक नहीं सिद्ध होती। वेद मंत्रों का उपयोग कर्मकाण्ड में होता है; परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनमें इसके अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान विज्ञान और दर्शन सम्बन्धी भाव नहीं है।

यदि वेद में दार्शनिक और वैज्ञानिक ज्ञान का निदर्शन न होता, तो दर्शन और उपनिषदों की सत्ता ही हमारे समक्ष न आती। जिन दर्शनों पर विदेशी विद्वान् भारत की भूरिभूरि प्रशंसा करते हैं, वे भी तो वेदों के सामने घुटने टेकते हैं। उपनिषदें भी चिल्ला-चिल्लाकर वेदों की ही महिमा गाती हैं। इन सबका मूल वेदों से ही पल्लवित होकर इस रूप में आया है। कई पाश्चात्य विद्वान् और विशेषतः म० ड्यूसन महोदय ने अपनी पुस्तक 'आउट लाईन आफ इण्डियन फिलोसोफी' में यह लिखा है कि "वेदों में परमात्मा के विषय का दार्शनिक वर्णन नहीं, ऐसा उपनिषत्काल में ही पाया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि परमात्माविद्या का प्रादुर्भाव भारत में उपनिषत्काल में हुआ। इसके पूर्व यह विचारधारा आर्यों में नहीं थी।" ड्यूसन के इस विचार का मूल मुण्डकोपनिषद् के ३।१।१ का "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते'—यह मंत्र है। परन्तु उसे यह नहीं मालूम था कि यह मंत्र उपनिषद् का नहीं, अपितु ऋग्वेद का है। ऋग्वेद १। १६४। २० में यह मंत्र विद्यमान है और वहीं से इस उपनिषद् में आया होगा। गीता के समय मे यह तो सभी जानते थे कि वेदों में दार्शनिक ज्ञान का मूल है परन्तु यह धारणा भी लोगों की थी कि उसमें गुणत्रय का ही वर्णन है, त्रिगुणातीतावस्था या पराविद्या का ज्ञान नहीं। मुण्डकोपनिषद् में भी प्रसंग से वेदों को अपराविद्या में कहा गया है। इन उद्धरणों से वेद गुणत्रय का ही वर्णन करते हैं, जो अपराविद्या का विषय है, ऐसा ज्ञात होता है। परन्तु वेदाध्ययन और तुलनात्मक विवेचन से यह धारणा सम्यक् प्रतीत नहीं होती। मुण्डकोपनिषद् के "अपरा" पद का यह अर्थ है "केवल परा नहीं" अर्थात् वेदों में केवल "परा विद्या" का ही वर्णन नहीं, अपरा का भी वर्णन है। उपनिषदों से ही ब्रह्मविद्या आदि का विषय गीता में आया है। कई श्लोक तो ज्यों के त्यों लघुपरिवर्तन के साथ गीता में

उपनिषदों के ही मिलते हैं । गीता के द्वितीयाध्याय में आत्मा के विषय का प्रसिद्ध श्लोक 'य एवं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्' कठोपनिषद् । २ । १९ में "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्" इस रूप में मिलता है । दूसरा पाद दोनों स्थानों पर समान है । गीता द्वितीयाध्याय का "न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः । अजो नित्यः शाश्वतो ऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे—श्लोक कठोपनिषद् २ । १८ में थोड़े से पाठभेद के साथ वैसे का वैसा ही पाया जाता है । अस्तु प्रकृत यह है कि गीता उपनिषदों से संग्रहीत है । उपनिषदें बड़े बल से यह कहती हैं कि—"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" कठ० २ । १५ अर्थात् सारे वेद जिस परम पदका वर्णन करते हैं, उसे हे नचिकेतः । मैं संक्षेप में तुम्हें बतलाता हूँ और वह पद 'ओ३म्' है । पराविद्या के लक्षण लीजिये तो पता चलता है कि "परा ययाऽक्षरमधिगम्यते"—अर्थात् 'परा' वह है जिस से अक्षर ॐ का ज्ञान होता है । 'ओ३म्' का ज्ञान 'परा" विद्या है और वह वेदों में वर्णित है, पाया जाता है, जैसा कि उपनिषदें स्वयं कहती हैं, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि वेद केवल 'अपरा' विद्या के प्रतिपादक हैं, उनमें 'परा' विद्या नहीं ।

अब वेद की अन्तः परिस्थितियों की जांच करके भी देखना चाहिए । उदाहरणार्थ ऋग्वेद के १० वे मण्डल के १२९ वें सूक्त को लीजिये । यह सूक्त 'नासदीय' सूक्त के नाम से विख्यात है इस सूक्त का 'देवता' = प्रतिपाद्य विषय भाव (Existence) है । इसमें जगत् के मूल में स्थित भाव पदार्थों का वर्णन है । इससे बढ़कर सृष्टिविद्या का दार्शनिक वर्णन और किसी धर्म में उपलब्ध नहीं होता । इस के साथ १० वें मण्डल क १९० वें सूक्त को मिलाने पर ज्ञात होता है कि ऋग्वेद का यह सूक्त सृष्टिविद्या-सम्बन्धी समस्त दार्शनिक दृष्टियों का केन्द्र है । इस सूक्त में "आनीदवातं स्वधया तदेकम्" "रेतोधा आसन्, महिमान आसन्" "स्वधा अधस्तात् प्रयतिः परस्तात्" आदि आदि वाक्य पाये जाते हैं । जिनसे संक्षेप मे यह भाव निकलता है कि सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में इसके कारणभूत परमात्मा जीवात्मा और प्रकृति आदि तत्त्व विद्यमान थे । पूर्वोक्त वाक्यों के अर्थ इस प्रकार हैं—बिना किसी कम्पन के एक परमेश्वर अपनी शक्ति से प्रकृति के साथ श्वास ले रहा था । उस समय कर्म के फल को धारण करने वाले बद्ध और महिमान (मुक्त) जीव भी थे ।" प्रकृति नीचे थी और प्रयत्न उसके ऊपर था । ये हैं तथ्य जो दर्शन के मूल हैं । इन्हीं का विचार वास्तव में दर्शन है । सारे दर्शनों का सूत्रपात्र इन्हीं के विचार से प्रारंभ होता है । सांख्य की प्रक्रिया भारतीय दर्शनों में सबसे प्राचीन और पूर्ववर्ती मानी जाती है । पञ्चशिखाचार्य ने सांख्य-विचारधारा के प्रवर्तक आचार्य कपिल को 'आदि विद्वान्' First Philosopher) कहा है । इसका तात्पर्य यह है कि कपिल आदि दर्शन-प्रणेता है । कपिल का सांख्य

दर्शन प्रकृति और पुरुष का वर्णन करता है। प्रकृतिविषय का प्रतिपादन सांख्य में 'नासदीय' सूक्त के "तम आसीत्तमसा" मन्त्र से लिया गया होगा। इस मंत्र में 'तमः' "सलिलं"; 'आभु', आदि पद आये हैं। इन पदों का अर्थ प्रकृति है; ऐसा प्राचीन सांख्याचार्य लोग मानते थे। आचार्य दुर्ग ने निरुक्त दैवत-प्रकरण के प्रथम में ही इस का अर्थ दिखलाते हुये लिखा है कि "सांख्यास्तु तमःशब्देन प्रधानमाहुः" अर्थात् सांख्य लोग 'तम शब्द से प्रकृति का अर्थ लेते हैं। वहां पर उसने सांख्य के एक प्राचीन सूत्र का उद्धरण भी दिया है। आभु और सलिल आदि पदों की व्याख्या करते हुए सांख्यकारिका पर युक्तिदीपिका-टीकाकार कहते हैं—सति उपादाने विकारो लीयते-अर्थात् उपादान में जगत् लीन होता है और वह प्रकृति है। यह युक्तिदीपिका की ५० वीं कारिका का सन्दर्भ है। वहीं पर पूर्वोक्त सूक्त में आये "अम्भ" पर टीकाकार ने लिखा है "अमितं भातीति" अम्भः प्रधान है। आभु का अर्थ भी प्रधान है, इसलिए कि वह अपने कार्यमात्र में व्यापक होने से "आभु" कहलाता है। इसी सूक्त में सृष्टि की प्रागवस्था में 'काम' की स्थिति बतलाई गई है और उसे मन का रेत कहा गया है। यह काम और मनोरेत प्रतिभा तथा महत्तत्त्व का बोधक है। प्रकृति से प्रथम कौन सा कार्य पदार्थ पैदा होता है, इस विषय में सांख्याचार्यों के दो विचार पाये जाते हैं। कुछ आचार्यों का कथन है कि प्रकृति से प्रथम कार्य-पदार्थ महत्तत्त्व पैदा होता है और कई आचार्य मानते हैं कि महत्तत्त्व से भी पूर्व "प्रतिभा" नामक पदार्थ पैदा होता है, पश्चात् महत्तत्त्व समुद्भूत होता है। इसे ही कई आचार्य अनिर्देश्य तत्त्व नाम से पुकारते हैं। यजुर्वेद २२। २३ में इसे ही पूर्वचित्ति' पद से व्यवहृत किया गया ज्ञात होता है। पतञ्जलि, पञ्चाधिकरण, वार्षगण लोग मानते थे कि प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। यास्काचार्य ने निरुक्त परिशिष्ट में सृष्टि के विकास और उपसंहार का क्रम दिखाते हुए—महत्तत्व से पूर्व प्रतिभा तत्व को माना है। प्रकृति को वैदिक साहित्य में अदिति कहा गया है। इसके दो शिर माने जाते हैं— ये हैं कार्यावस्था और कारणावस्था। अन्य कई स्थलों पर 'सप्तशीर्ष्णी' भी उसे कहा गया है। प्रकृति की सात प्रकृति-विकृतियाँ ही सात शिर हैं। इस प्रकार सांख्य का ज्ञान वेद से निकला। अन्य दर्शनों के विषय का भी उद्गमस्थान वेद ही है। यहाँ पर केवल निदर्शन दिखलाया गया।

जिन देवताओं का कर्मकांड में विनियोग है अथवा वैदिक कर्मकाण्ड के जो देवता हैं उन पर यदि विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि ये एक महती दार्शनिक प्रक्रिया के उन्नायक हैं। वेद में जिन देवताओं का वर्णन है वे ढाई सौ से अधिक हैं। वे ही कर्मकांड में प्रयुक्त होते हैं। कर्मकाण्ड में देवता का लक्षण है कि जिसको हविः प्रदान की जावे, वह देवता है। यथा—यस्यै हविर्निरुप्यते सा देवतेति। अथवा जिसका मन्त्र वर्णन करते हों, वह देवता है। आचार्य यास्क ने देवता की परिभाषा करते हुए

लिखा है कि मन्त्र में जिस विषय का प्रतिपादन है, वह देवता है। कात्यायन की सर्वानुक्रमाणी में भी बतलाया गया है "या तेनोच्यते" अर्थात् वेद मन्त्र से जो वर्णन किया जाता है, वह विषय ही देवता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि जो मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है—वही देवता है। "अग्निमीळे पुरोहितम्" इस मन्त्र का देवता अग्नि है। इसका तात्पर्य यह है कि इस मन्त्र में अग्नि का वर्णन है। व्यापकरूप में यह कहा जा सकता है कि जो मन्त्रों का प्रतिपाद्यविषय है और जो मानवमस्तिष्क के ज्ञान का विषय है, वह देवता कहा जाता है। मनुष्य का ज्ञान कार्यकारणात्मक नियम पर है। ये नियम हमें देश और काल में घेरते हैं। हम जिस वस्तु का ज्ञान करते हैं वह किसी न किसी काल में होगी—इसलिए देश और काल का इसके साथ सम्बन्ध है। शेष वस्तुविभाग भी दो प्रकार का ही हो सकता है; या तो द्रष्टा हो या दृश्य हो। हमारा ज्ञान इस प्रकार दो भागों में विभक्त है;—द्रष्टृप्रधान और दृश्यप्रधान। वेद में ढाई सौ से अधिक जिन देवताओं का वर्णन है, वे उनके प्रतिपाद्य विषय है। परन्तु ये अधिकांश देव कुछ विशेष देवों की महिमामात्र हैं। यदि सभी का विश्लेषण किया जावे तो पता चलेगा कि देव ३४ ही हैं। इनमें ३३ देव हैं और ३४ वां महादेव हैं। पूर्वोक्त सारे देव इन ३४ मे ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। उदाहरणार्थ ओखली और मुसल वर्णन में भिन्न भिन्न विषयरूप देवता हैं परन्तु लकड़ी कहने पर सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। किरणें, उषा, मध्यान्ह आदि भिन्न भिन्न वर्णनीय हैं, परन्तु सूर्य और काल कह देने पर सभी उसमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार लघूकरण करने पर सब देवों का अन्तर्भाव इन में हो जाता है। अथर्ववेद १०। ७। २७ में कहा गया है कि ३३ देव परमेश्वर के इस संसाररूपी अङ्ग के भाग हैं। वे ही इसकी रक्षा करते हैं। इससे भाव यह निकला कि परमेश्वर के इस दृश्यमान जगत् के ये ३३ देव मूल तत्व हैं। परमेश्वर उनका भी देव महादेव हैं। ये ३३ देव इस प्रकार हैं ८ वसुः ११ रुद्रः १२ आदित्यः प्रजापति और इन्द्र। वसुवों में पृथ्वी, जल अग्नि, वायु, आकाश सूर्य, और नक्षत्र हैं। रुद्रो में १० प्राण और ११ वां जीवात्मा हैं। ये शरीर में कार्य करने वाली शक्तियाँ और शरीर के संचालक हैं। जीवात्मा के सहयोग में शरीर का सारा कार्य इन्हीं से चलता है। १२ महीने आदित्य हैं। ये हैं सूर्य के भिन्न भिन्न राशियों पर होने के परिणाम। प्रजापति यज्ञ है जो मन का विचारमय कार्य है। इन्द्र विद्युत् का नाम है और यह सर्वत्र व्याप्त प्राकृतिक शक्ति है। इनका भी जब दार्शनिक दृष्टि से अन्तर्भाव करते हैं तो इस परिणाम पर पहुँचते हैं। १२ आदित्य का काल में अन्तर्भाव होता है। ११ रुद्रों में से प्राणों का शक्ति में अन्तर्भाव होता है और आत्मा स्वतंत्र तत्व रह जाता है। आठ वसुवों की देश के अतिरिक्त और कोई स्थिति नहीं। प्रजापति मन का विचारपूर्वक कार्य और इन्द्र विद्युत् है। इस प्रकार ३३ देवताओं का विश्लेषण हमें काल देश, आत्मा, शक्ति, मन के विचारपूर्वक कार्य तथा शरीर के रक्षात्मक तथा अनिच्छापूर्वक कार्य आदि पदार्थों पर पहुँचाता है। इन छः का भी अन्तर्भाव होता है। आत्मा के अतिरिक्त पाँच

का अन्तर्भाव प्रकृति में होता है क्योंकि ये प्रकृति के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस प्रकार प्रकृति और जीवात्मा दो पदार्थ जगत् के मूल में ठहरे। ३४ वाँ महादेव परमेश्वर इनसे अतिरिक्त है। उसे भी इस गणना में संमिलित कर देने पर प्रकृति आत्मा और परमेश्वर तीन तत्व ठहरते हैं, जो वेदमंत्रों के प्रतिपाद्य विषय और मनुष्य के ज्ञान के विषय हैं। ये ही दार्शनिक विचारों के मूल हैं। इन्हीं पर सारे दार्शनिक वाद खड़े हैं। यह निष्कर्ष ही वैदिक दर्शन का तत्व है। इन तीनों में भी परमेश्वर उपास्य देव है, अन्य देव उसके अङ्ग हैं। अन्यों का प्रतिपादन परमेश्वर की प्राप्ति के लिये ही है। इनका वर्णन होने पर भी वेदों में प्रधानतया उसी का वर्णन पाया जाता है। ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि हमारा ज्ञान द्रष्टप्रधान और दृश्यप्रधान दोनों रूप का है। इस दृष्टि से वेदों मे दो प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं—एक युष्मत्पदार्थ और दूसरे अस्मत्पदार्थ। यह वर्णन देवताओं के विचार को तीन दृष्टियों से विचार करके ही निकलता है। ये तीनों दृष्टियाँ आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक हैं। वैदिक वाङ्मय में आधिभौतिक से आधिदैविक दृष्टि की प्रधानता है और आधिदैविक से आध्यात्मिक की। आधिभौतिक और आधिदैविक लोक सम्बन्धी हैं, और आध्यात्मिक उनसे उँची है। हमारे दर्शनों में आधिभौतिक आधिदैविक और उसके बाद आध्यात्मिक का क्रम है। आध्यत्मिक हमारा उद्देश्य है और वह इन दोनों से परे है। पाश्चात्यदर्शन इन्हें उल्टे क्रम से लेते हैं। उनके अनुसार आध्यात्मिक और आधिदैविक प्राथमिक और दूसरी अवस्था के लोगों की वृत्तियाँ है। समुन्नत और परिमार्जित लोगों की दृष्टि आधिभौतिक है। पाश्चात्य दार्शनिक कहते है कि कोई भी विचार-धारा पूर्वावस्था में आध्यात्मिक, पश्चात् आधिदैविक और अन्त में समुन्नत होकर आधिभौतिक रूप धारण करती है। आज का विज्ञान इस आधिभौतिक दृष्टि का ही उपासक है। परन्तु हमारी दार्शनिक धारा इस क्रम के विपरीत है। इन्हें ही आजकल के पश्चिमी दर्शन में Metaphysical, Theolegical, और Positive कहा जाता है। कमटे ने इसी क्रम से दार्शनिक वादों का विश्लेषण किया है।

इस आध्यात्मिक भावना को ध्यान में रख कर पूर्वोक्त ऋग्वेदीय सूक्त में कहा गया है 'स्वधा अधस्तात् प्रयतिः परस्तात् !! अर्थात् परमात्मा का प्रयत्न ऊपर है और प्रकृति उसके नीचे है। प्रयत्न के अन्दर रहकर ही प्रकृति का सारा कार्य होता है परमात्मा की निमित्तता के बिना जड़ प्रकृतिसे जगत् की रचना असम्भव है। जब तक परमेश्वर और उसके प्रयत्न को न माना जावे जगत् को रचने में केवल प्रकृति समर्थ नहीं हो सकती। इसी कारण भौतिक-विज्ञान जगत् की सारी समस्याओं का समाधान करने में असमर्थ है। बहुत प्रयत्न से वैज्ञानिकों ने प्रकृति और शक्ति की जो कुछ व्याख्या की हैं वह तीन प्रकार के परमाणु-Electron, Proton & Nitron हैं। ये ही जगत् के मूल में माने जाते हैं। यह प्रकृति की व्याख्या के रूप में अथवा उसके स्वरूप

में हमारे समक्ष रखे गये हैं। परन्तु सत्व, रजस् और तमस् गुणों पर विचार करने पर पता चलता है कि ये तीन इन्हीं गुणों के रूप हैं। ये ही तीन हमारे दर्शनों में प्रकृति के तीन गुण हैं। ये कहे जाते हैं गुण, पर हैं द्रव्य और गुण दोनों ही। विज्ञान ने ईश्वर को ठुकराया परन्तु जगत् के उत्पत्ति स्थिति और प्रलय की समस्या को वह अपने अनीश्वरवाद से सुलझाने में असमर्थ रहा। विज्ञान में एक महत्वपूर्ण नियम पाया जाता है Second law of Thermodynamics। इसका प्रतिपाद्य विषय यह है कि शक्ति का प्रवाह ऊँचे केन्द्र से नीचे केन्द्र की ओर होता है। प्रकृति के पदार्थों में यही नियम देखा जाता है। शक्ति का प्रवाह अधोमुख अर्थात् प्रलय की ओर है। इस बात को यह नियम दिखलाता है। प्रलय का तात्पर्य है समता अथवा साम्यावस्था (Equiliberated state) जहां पर शक्ति के हस्तान्तरित न होने से कोई कार्य नहीं हो सकता। इस प्रकार शक्ति समीभूत हो कर जब सामयावस्था में प्रलय को प्राप्त हो जावेगी, तब पुनः शक्ति प्रवाह कैसे चलेगा और कैसे जगत् का कार्य प्रारंभ होगा यह एक समस्या है, जिसका समाधान विज्ञान के पास नहीं है। वेद इसका समाधान करता है कि यह शक्ति पुनः परमेश्वर के "अभीद्धतप" से प्रकृति में आवेगी ऋग्वेद १०। १९० मे आद्य मंत्र—" ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धातपसोऽध्यजायत " इसी विषय का प्रतिपादक है। इस प्रकार देखा गया कि वेद दार्शनिक दृष्टि से ओत प्रोत हैं और हैं वास्तव में ये ही दार्शनिक विचारधारा के मूल॥
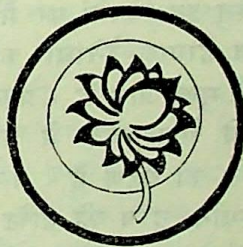
१७

वैदिक आपस्तत्व का दार्शनिक स्वरूप

इस जगत् की उत्पत्ति से पूर्व एवं प्रलयावस्था में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन मूलतत्व विद्यमान रहते हैं और ये ही तीन वर्तमान दृश्य जगत् के मूल कारण हैं, ऐसा वेदों का सिद्धान्त है। द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते—ऋ० १। १६४। ८; तथा नासदीय सूक्त ऋ० अ ८। अ० ७। व० १७। मंत्र १-७ में आये स्वधा, तमः, सलिल, आनीदावातं स्वधया तदेकं, स्वधा अधस्तात् प्रयतिः परस्तात्, रेतोधाः महिमानः आदि पद वाक्य इस तथ्य पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं। स्वधा, तमः सलिल आदि शब्द प्रधान एवं प्रकृति के अर्थ में हैं—ऐसा विशेषरूप से अपने सार्वदेशिक आर्य महा सम्मेलन के समय निकले वेदवाणी के सम्मेलनाङ्क में तथा वेंकटेश्वर १९५० के दीपावली अङ्क में दिखला चुका हूं। 'सारस्वती सुषमा—अनुसंधान पत्रिका में भी मैंने संस्कृत में इस विषय पर प्रकाश डालकर यह दिखलाया है कि पूर्व सांख्याचार्य ऐसा ही मानते थे। सांख्यास्तु तमः शब्देन प्रधानमाहुः—यह दुर्ग का वचन इस विषय में सार्थक है। स्कन्द भी ऐसा ही मानता है। अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं—इत्यादि वैकुण्ठीय सूक्त की व्याख्या करते हुए स्कन्द ने निरुक्त भाष्य में "विकुण्ठा" पद का भी प्रकृति ही अर्थ लिया है। अस्तु इन विषयों पर मेरे पास जो सामग्री है उसका ग्रन्थ के रूप में समय पर प्रकाशन होगा। रेतोधाः का अर्थ कर्म के बीज से युक्त बद्धजीव और "महिमानः" का अर्थ मुक्त जीव है। प्रकृति बद्ध और मुक्तजीव तथा परमेश्वर प्रलयावस्था में विद्यमान थे, ऐसा वेद में प्रतिपादन किया गया है। यजुः और अथर्व में 'अवि' पद से प्रकृति का ग्रहण है। प्रलय हो जाने पर जगत् रचना से पूर्व इनका परस्पर भाव, इनकी स्थिति, द्रव्य की दृष्टि से स्वभावतः पृथक् होते हुए भी ऐसी संकीर्ण रहती है कि इन्हें स्पष्टरूप से वर्णन में लाना कठिन होता है। नासदीय सूक्त में ठीक यही अवस्था चित्रित की गई मालूम पड़ती है। तीनों तत्व पृथक् पृथक् हैं फिर भी व्यवहार में न बतलाये जा सकने के कारण सत्, असत्, मृत्यु, अमृत, आदि किसी भी प्रकार में उनका वर्णन नहीं किया जा सकता है। इन असत् और सत् आदि शब्दों से न तो अद्वैत वादियों की प्रक्रिया का प्रतिपादन है न शून्यवाद, न इन तीनों तत्वों के अभाव का बल्कि व्यवहार की अविद्यमानता और सृष्टि की प्रागवस्था की गूढ़ता का वर्णन है। मनु के—आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ मनुः १। ५ का भाव भी वही है जो नासदीय

सूक्त के "नासदासीन्नो सदासीत्" आदि का भाव है। ऋषिदयानन्द ने इस प्रक्रिया के समन्वयार्थ अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'तद्व्यवहारस्य वर्तमानाभावात्" वाक्य के प्रयोग द्वारा मनु के भाव को व्यक्त किया है। आचार्य दयानन्द के इस वाक्य के अर्थ मनु के वाक्यों के रूप में—तमोभूतत्वात्, अप्रज्ञातत्वात्, अप्रतर्क्यत्वात्, अविज्ञेयत्वात्, प्रसुप्तमिव विद्यमानत्वात्—बनेंगे। उस समय असद् और सद् आदि का व्यवहार इसलिये एकान्ततः नहीं किया जा सकता था क्योंकि इस के व्यवहार की विद्यमानता नहीं थी—ये प्रयोग व्यवहार अवस्था मे किये जा सकते हैं। व्यवहार की वर्तमानता न होने मे पूर्वोक्त कथन का तात्पर्य है। ऋषि के इसी अर्थ को मनु के वाक्यों में भी पाया जाता है। तमोभूत एवं अन्धकार से आच्छादित यह जगत् का कारण प्रकृति आदि के रूप में था। उस समय चिन्ह आदि का, सामान्य और विशेषभाव का व्यवहार न होने से यह अप्रज्ञात और लक्षण में न आने योग्य था। लक्षण सदा द्रव्यगत विशेषता का द्योतक है जो कि उस समय ज्ञात नहीं होती थी। तर्क भी कार्यकारण सम्बन्ध के स्पष्टीकरण आदि के विना नहीं होता—इसलिये यह अप्रतर्क्य था। कोई स्पष्ट चिन्ह जो असंकीर्ण रूप में हों, नहीं थे इससे वह अविज्ञेय था। वस्तुतः यह सब बातें क्यों थीं? इस लिये कि तमोभूत था और स्वप्नावस्था में सोये हुए रूप के समान था। सोने की अवस्था में जिस प्रकार सब बाह्य ज्ञानों का अभाव होता है उसी प्रकार प्रलयावस्था मे भी समस्त बाह्य व्यवहारों का अभाव सा था। वस्तुतः ईश्वर, जीव और प्रकृति रूपी तीनों तत्त्व विद्यमान थे। प्रकृति सत्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था में थी। उसी में अनेकों जीव भी अपने रूप में विद्यमान थे और परमात्मा भी अन्तरात्मा की भांती उसमें व्यापक हो विद्यमान था। परन्तु इनका पृथक्‌ वर्णन करना कठिन था। परमात्मा के प्रयत्न, जिसे मैं पूर्व "स्वधा अधस्तात्" में 'प्रयतिः' कह आया हूं या जिसे "अभीद्ध तप" भी कहा गया है, सृष्टि रचना के लिए चल रहा था। इस प्रयत्नमयी: एव कारणद्रव्य को कार्य में लगाने की ज्ञानपूर्ण क्रिया एवं ईक्षण ने उस साम्यावस्था में विद्यमान प्रकृति पर कार्य किया। उस की यह अवस्था भंग होने लगी। प्रकृति में सत्व रजस् और तमस् तीन गुणयुक्त तत्व हैं। सत्व प्रकाशात्मक, रजः प्राकृतिकक्रियाप्रधान और तम जड़ताप्रधान हैं। रजस् केवल क्रिया का हेतु बनता है। परमात्मा के ईक्षण को यह ग्रहण करते ही हलचल में आजाता है। यद्यपि प्रत्येक अवस्था में तीनों गुण किसी एक से पृथक् नहीं होते—केवल प्रभाव में आधिक्य और न्यूनभाव ही होता है फिर भी सृष्टि अवस्था में सत्त्व के साथ रजस् आधिक्य में रहता है और प्रलय में 'तमस्' का प्रभाव रहता है। प्रकाश-प्रधान और जाड्यप्रधान प्रकृति परमाणुओं में क्षेत्र होने पर जो अवस्था प्रकृति की होगी उसका भी वर्णन होना कठिन होगा। सृष्टि के विकास की इस प्रथम अवस्था का भी वर्णन कठिन ही है। परमेश्वर की निमित्तता से प्रकृति में तीनों प्रकार के तत्त्व विषमावस्था में आने लगते हैं। प्रकृति में सृष्टि के आधारभूत समस्त देव सन्निहित हैं। ३३ देवों को वेद में ष्टि का सृतत्व माना गया है। यही पिण्ड में तत्वभूत हैं

और यही ब्रह्माण्ड में भी। परन्तु प्रागवस्था से लेकर इन देवों के प्रकृति में स्पष्ट होने की अवस्था तक आने में प्रचुर समय लगता है। परमेश्वर को अपने अभीद्ध तप से प्रकृति को प्रचुर गति, शक्ति, और धौंकन देनी पड़ती है। सारी सृष्टि की मूलभूत देवशक्ति ये जो अग्नि और सोम एवं ऋण और धन विद्युत तथा शक्ति के रूप में हैं, प्रकृति में विद्यमान हैं। परमेश्वर, अपने तप से प्रकृति पर पर्याप्त ताप देता है। इससे गति, ताप, शक्ति का संचार होता है। ताप, गति और प्रकाश तीनों संयुक्त हैं। इन सबका समन्वय अभीद्ध तप और 'ईक्षण' में है। प्रकृति में जो गति इस प्रेरणासे पैदा होती है - वह संयोगात्मक अथवा वियोगात्मक रूप की होती है। किसी तत्व का संयोग किया जाता है किसी का वियोग। इस गति के संचार से प्रकृति में बीज अंकुरित होकर प्रकृति परमाणु इस रूप मे आजाते हैं कि उनको जिस रूप में चाहे ढाला जा सके। उनमें यह स्थिति आजाती है कि वे रूपान्तरित किये जा सकें अर्थात् उस समय की अवस्था में प्रकृतितत्व Moulding naure का हो जाता है। कुम्हार की चाक पर चढ़ी मिट्टी केवल मिट्टी ही नहीं होती बल्कि वह कुम्हार की हस्तकला से इस रूप मे आयी हुई मिट्टी होती है कि वह किसी रूप में परिवर्त्तित की जा सके। यही अवस्था परमेश्वर के अविज्ञात अप्रतर्क्य अभीद्ध तप पर चढ़ी प्रकृति की होती है। यद्यपि उस समय प्रकृति की व्यापकता के कारण सर्वत्र प्रकृतिपरमाणुओं का एक व्यापनशील विस्तृत अग्निषोमीय समुद्र सा बन जाता है। फिर भी प्रकृति की सूक्ष्मता का अत्यन्त स्थूल पन अभी तक नहीं हो पाता। प्रकाश, विद्युत्, जाड्यतत्व, क्रिया और जाड्यतत्वों पर ताप के पड़ने से तारल्य आदि भावों से प्रकृतिपरमाणु युक्त हो जाते हैं। इसे वेद में "आपः" तत्व कहा गया है। यह आपः नाम वाला इस लिये है कि सर्वत्र फैला है, रूपान्तरित होने योग्य है और इसी से सृष्टि की रचना का साधन उपस्थित होता है। प्रागवस्था में जिस 'कुहकस्य शर्मन्नभः किमासीद् गहनं गभीरम्" का अव्यवहार बतलाया गया है—वह इस प्रकृति की अवस्था में दृष्टिगोचर होता है। यजुर्वेद २७। २५, और २६—आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्ती-रग्निम्....ततो देवानां समवर्ततासुरेकः तथा यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् में यही भाव भरा है। प्रकृति की इस अवस्था में सृष्टि के तत्व देव सभी मिले रहते हैं और उनका प्राणभूत एक परमात्मतत्व इनके प्रकटीकरण से वर्णन की अवस्था में आने लगता है। किं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपः ॥ तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपः। यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे। यजुर्वेद १७। २९ - ३० के मंत्रों की यह स्थिति ऐसे भावकी सूचयित्री है। ये 'आप': रूप प्रकृति तत्व पुनः जगत् उत्पादन में प्रधान साधनभूत गर्भ को धारण कर अग्नि को उत्पन्न करते हैं। अग्नि संयोग और वियोग दोनों का साधन है अतः परमात्मा की निमित्तता से ये "आपः परमाणु विविध रूपों में संयोग वियोग कार्यों से परिवर्त्तित होनेको सन्नद्ध हो जाते हैं। सृष्टि की तत्वरूप देवतायें अपने स्वरूप को इसमें स्पष्टीभूत सी करने लगती हैं। गतिशील होने से ऋषि और दिव्य होने से देवता नाम एक ही पदार्थों के वेद में देखे

जाते हैं। जगत् की रचना के तत्व जिन्हें ऋषि कहा गया है या जो ही पूर्व कथित देव हैं प्रकट होने लगते हैं। यजु० १७। २८ में त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना। असूर्त्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि, में ये ही तत्त्व वर्णित हैं। ब्राह्मणों में 'आपः' की निरुक्ति इस प्रकार की गई है—सेदं सर्वमाप्नोद्यदिदं किं च यदाप्नोत् तस्मादापः। श० ६।१।१।६, तद्यदब्रवीत् आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्चेति तस्मादापोऽभवंस्तदपामप्त्वम् ॥ गोपथ पू० १।२ अर्थात् सब कुछ को इसी ने व्याप्त किया था अथवा इसी के द्वारा सब जगत् को प्राप्त करने की प्रजापति ने इच्छा की अतः इनका नाम 'आप पड़ा। प्रकृति के ये तत्व जगत् की रचना के साधन हैं और इनमें सब कुछ सन्निविष्ट है अतः "आपः" शब्द इन मे प्रयुक्त करना ठीक ही है। प्रकृति के इस अवस्था में आजाने पर पूर्व जो 'तमः' था उसका नोदन हो चुकता है और स्वयंभू परमेश्वर, प्रकृति और जीव का भिन्न भिन्न रूप में ज्ञान होने लगता है। ये तीनों शक्तियाँ स्पष्ट रूप से अपने स्वरूप का भान कराने लगती हैं। जो गूढ प्रलयतम में नहीं ज्ञात होती थीं ज्ञात होने लगती हैं। इस परमात्म-शक्ति ने इन "आपः" प्रकृति परमाणुओं में अपनी सिसृक्षागति को संचालित रखा, इसमें प्रकृति प्रकाशाप्रकाश लोकों के समष्टिभूत 'हैमाण्ड' एवं विराट् के रूप में आगयी। विराट् के रूप में आते ही जगत् की रचना का मूल स्पष्ट होने लगा। मनुस्मृति १।६-९ का यही भाव है। इस अवस्था मे प्रकृति के आजाने से जगत् के कर्त्ता के वास्तविक स्वरूप में परमात्मा का भान होने लगा। पहले जहां तम था, प्रकृति जीव और ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता था वहां अब यह अवस्था आगयी कि कर्त्ता परमात्मा और जगत् के समष्टिकारण आदि अपने गुणों के साथ भान में आ गये। ये तर्क्य, विज्ञेय और सुज्ञात होगये। जगत् के कारणभूत प्रधानतत्व के साथ इस प्रकार सिसृक्षा के कारण पूर्णरूप में ज्ञात होने वाले परमेश्वर को 'ब्रह्मा' कहा जाता है। पूर्व कथित "आपः" तत्व में व्यापक प्रभु जहाँ नारायण था वहाँ अब यह 'ब्रह्मा' के व्यवहार में आ गया। "आपः" को ही 'नारा' भी नाम दिया जाता है। मनु ने १।११ में 'ब्रह्मा' का अर्थ जो भी व्यक्त किया है वह इस मेरी प्रक्रिया से पूरा समन्वय खाता है। संपूर्ण जगत् के उपादान. अव्यक्त, नित्य, सत् और असत् वस्तुओं के प्रकृतिभूत प्रधान के साथ मूल में ही विद्यमान सिसृक्षावशात् प्रकृति की इस विराट् दशा में उससे संपन्न परमात्मा को ही "ब्रह्मा" कहा जाता है। यहां मनु ने नासदीय सूक्त में आये सत्. असत् आदि शब्दों का ही प्रयोग तदर्थभावभावित हो किया है। परमेश्वर को प्रकृति की यह अवस्था करने में पर्याप्त काल लगा जो सृष्टिकाल का वस्तुतः शतांश कहा जा सकता है। इसे ही परिवत्सर कहा जाता है। इस हैमाण्ड से पुनः

परमेश्वर ने प्रकाशाप्रकाश लोकों की रचना की । पुनः यह सृष्टि-विकास हुआ । इसे निरिन्द्रिय सृष्टि कह सकते हैं । सेन्द्रिय सृष्टि का विकास इस प्रभु ने साथ ही साथ उस प्रकृति से किया, जिसका क्रम यह है कि प्रकृति से मनसः रेतस्, प्रतिभा एवं पूर्वचित्तिः तथा उससे महत्तत्व और उससे पुनः अहंकार आदि क्रमसे पंचतन्मात्रा, मन और इन्द्रियाँ आदि उत्पन्न किये गये । इनमें अहंकार से पूर्व अवस्था अप्रतर्क्य अवस्था की अनन्तरभावी है । अहंकार से इन्द्रियें आदि की अवस्था 'आपः' अवस्था के बाद की मालूम पड़ती है । इस प्रकार वेद मे कथित सृष्टिक्रम का दार्शनिक विश्लेषण करने पर 'आपः का अर्थ प्रकृति की वह अवस्था विशेष मालूम पड़ती है, जिसमें प्रकृति परमाणु साम्यावस्था से आकर जगत् रचने योग्य, हर कार्य रूपमें परिवर्त्तित किये जाने की क्षमता वाले हो जाते हैं । यह विचार दार्शनिकदृष्टि से बहुत ही मूल्यवान् है । ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका विशेष वर्णन मिलता है । इस की छाप ही इजिप्ट के लोगों के सृष्टिविषयक वर्णनों में पायी जाती है । स्यात् वह वेद की आन्तरिक भावना को न समझकर केवल ऊपरी रूप से वहां पल्लवित हुई हो । आपो ह अग्रे सलिलमेवास । ता अकामयंत... अतप्यन्त, तासु हिरण्यमयमाण्डं संबभूव छा० ६ । २ । ४ सो ऽपोऽसृजत वाच एव लोकाद्वागेवास्य सासृज्यत (श० ६ । १ । ४ । ६) सोऽकामयत आभ्यो अद्भ्योऽधि प्रजायेयेति सो ऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्ततः आण्डयं समवर्तत— श० ६ । १ । १ । १० ऊपर कहे गये आपः तत्व का यह वर्णन है । इसी का रूप इजिप्ट के लोगों मे जिस रूप में पाया जाता है उसका वर्णन इस प्रकार है—

According to the writings of the Egyptians, there was a time when neither heaven nor Earth existed, and when nothing had being except the boundless primeval water which was, however, shrouded with thick darkness. At length, the spirit of the primeval water felt the desire for creative activity, and having uttered the word, the world sprang straightway into being in the form which had already been depicted, in the mind of the spirit before he spoke the word which resulted in the creation. The next act of creation was the formation of a germ or egg from which sprang Ra, the Sun-God within whose shining form was embodied the almighty power of the divine Spirit. (Egyptian Ideas of the future life by E. A. Wallis Budge pages 22. & 23.)

इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों और इजिप्ट के लोगों के विचार लगभग मिलते हैं । इनके सभी क्रम पूर्वोक्त आपः क्रम के बाद के क्रम से मिलते हैं । मैं ने एक वस्तु लिखनी छोड़ दी जो यदि लिखदूँ तो पूरा समन्वय हो जावेगा । 'आप' के साथ ब्राह्मणों में 'त्रयी'

वेदविद्या के साथ जल में परमेश्वर का प्रवेश करना लिखा है। 'हो' 'हो' पुनः 'हो'—ऐसा बोलने पर सृष्टि हुई तथा त्रयी विद्या भी हुई। यह ठीक ही है वेद ज्ञान का विद्याविकास भी साथ ही साथ सृष्टिविकास में चला आ रहा है। ब्रह्मा जहां रचयिता है वहां वेद ज्ञान का भी प्रदाता है। उसमें दोनों ही भाव निहित हैं। वेद शब्दों के साथ सृष्टि का सम्बन्ध भी है। यही भाव पूर्वोक्त इजिप्ट के लोगों के मन्दर्भों में भी हैं। 'कुन' फैकुन, की भावना भी शायद इसी का विकल रूप हो।

१८

वैदिक देव इन्द्र

वेद अनेक ज्ञान विज्ञानों की निधि हैं। कहीं अध्यात्म, कहीं अधिदैव और कहीं अधिभूत के वर्णन से विविध ज्ञानों की चर्चा मिलती है। इन सबका समन्वय केवल वेदमंत्रों की देवताओं में है। ये देवतायें जो वेदमंत्रों के प्रतिपाद्य विषय हैं वस्तुतः तीनों प्रकरणों अर्थात् अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म को दृष्टि में रखकर उसी ज्ञान के विषय के रूप में दिखलायी पड़ती हैं। अग्नि यदि उदाहरणार्थ किसी मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है तो उक्त प्रकरणों में उसके अग्नि, राजा, विद्वान्, आत्मा और परमात्मा आदि अर्थ निकलेंगे। ऐसा क्यों है? इसलिये कि अर्थ को वेदवाणी का पुष्प और फल कहा गया है। पुष्प एवं फल का अर्थ इन देवताओं से ही संगत भी होता है। वेदमंत्रों के जहाँ अनेकों प्रतिपाद्य विषय हैं जो देवता रूप में कहे जाते हैं, वहाँ उन्हीं में इन्द्र भी एक है। यह वेदमंत्रों में वर्णित 'इन्द्र' कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मालूम पड़ता। जगत् के अन्दर विद्यमान पदार्थों में ही यह भी एक पदार्थ है। प्रकरण से वैदिक साहित्य में 'इन्द्र' के अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं। इन्हीं का दिग्दर्शन इस लेख का विषय है।

निर्वचन और "इन्द्र" पद का अर्थ

वेद-षडङ्गों में निरुक्त एक है। इसमें भिन्न भिन्न पदों की निरुक्ति की गई है। निरुक्ति करने में भिन्न भिन्न अर्थों को दृष्टि में रखकर पदों का निर्वचन किया जाता है। निरुक्तियों का प्रकार और उनसे अर्थ की बहुलता का प्रतिपादन ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार पर बहुधा आधारित है। निरुक्ति करने वालों का बारबार 'तत्र च ब्राह्मणम्' यह कहना इसी ध्येय से ज्ञात होता है। "वर्ततेर्वा" "वर्धतेर्वा" इत्यादि वाक्यों में "वा" का प्रयोग भी ब्राह्मणों में व्याख्यात अनेक अर्थों की ओर संकेत करता है यह 'वा' पद सन्देहार्थक नहीं. वल्कि अनेकार्थ को दिखलाने के लिये है। लोग "वा" पद को देखकर यह विवेचन करते हैं कि यास्क को इन भिन्न भिन्न अर्थों के करते समय सन्देह था कि ऐसा भी होता है अथवा ऐसा भी होता है—इस लिये 'वा' पद का प्रयोग किया। परन्तु उनकी यह धारणा सर्वथा निर्मूल है। उनको स्वयं ऐसा सन्देह भले ही हो, यास्क को कोई सन्देह नहीं था। निर्वचनों के देखने से एक विशेष बात यह मिलती है कि ये निर्वचन तीनों ही प्रक्रियाओं को दृष्टि में रखकर हैं। कहीं

स्थानविशेष पर ऐसा हो सकता है कि सभी प्रक्रियावों का दिखलाना अभिप्रेत न हो, परन्तु समन्वय तीनों का ही निर्वचन में अधिकांश रूप में देखा जाता है। 'इन्द्र' पद की निरुक्तियों में भी ऐसा ही नियम देखा जाता है। यास्क ने निरुक्त १०। ८ मे इन्द्र पद की निरुक्तियां भिन्न प्रकार से की हैं। वे भिन्न निरुक्तियां ये हैः—

१—इरां दृणातीति वा; २—इरां ददातीति वा; ३—इरां दधातीति वा. ४—इरां दारयत इति वा, ५—इरां धारयत इति वा, ६—इन्दवे द्रवतीति वा, ७—इन्दौ रमत इति वा, ८—इन्धे भूतानीति वा, ९—इदं करणादित्याग्रायणः, १०—इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः, ११—इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः, १२—इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा, तथा १३—आदरयिता च यज्वनाम्। इनका क्रमशः अर्थ भी निम्न है—१—भूमिको फाड़ने वाला; २—शब्द को प्रदान करने वाला; ३ भूमि का धारण करने वाला; अथवा शब्द का धारण करने वालाः ४—पृथ्वी को फाड़ने वाला, ५-पृथ्वी का पोषण एवं धारण करने वालाः ६-इन्दु के लिए जाने वाला; ७-इन्दु में रमने वालाः ८—भूतों को प्रदीप्त करने वाला; ९—'इदं' का करने वाला ऐसा आग्रायण का मत है; १०—'इदं' का देखने वाला ऐसा औपमन्यव का मत हैः ११—ऐश्वर्य से संपन्न; १२—शत्रुओं का विनाश करने वाला तथा यज्ञ करने वालों का आदर करने वाला। ये निरुक्तियां यास्कने ब्राह्मणग्रन्थों में आये इन्द्रपद के विविध अर्थों के आधार पर की हैं। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के द्वादश सूक्त तथा अन्य इन्द्र सम्बन्धी ऋचावों मे 'इन्द्र' पद के ये सभी अर्थ लगभग चरितार्थ से होते हैं। निरुक्तकारने इस पूर्वोक्त सूक्त के अन्तिम वाक्यों 'स जनास इन्द्रः' और अगले सूक्त के 'सास्युकथ्यः' वाक्यांशों पर भी पूर्णध्यान रखा है। इन निरुक्तियों से क्रमश 'इन्द्र' पद के ये अर्थ निकलते हैं—भूकम्पक अग्नि, वाणी, वायु, सूर्य, विद्युत्, राजा, सुषुम्णा रश्मि, चन्द्रिका, अग्नि, परमेश्वर, द्रष्टा आत्मा, ऐश्वर्यशाली व्यक्ति, सैनिक और यजमान। इस भांति 'इन्द्र, पद के निरुक्त के अनुसार ये अर्थ संगत हुए।

ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार इन्द्र का अर्थ

ब्राह्मण बहुभक्तिवादी होते हैं। उनमे एक ही पद के अनेकों अर्थ--वैचित्र्य दिखलाये गये हैं। सब का वर्णन करना इस लघुकाय लेख में संभव नहीं। संक्षेप मे मुख्य अर्थों को ही दिखलाने का प्रयत्न किया जावेगा। ब्राह्मणग्रन्थों में 'इन्द्र' के अर्थ इस प्रकार मिलते हैं—

१—इन्धो वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याक्षते परोक्षेणैव। श० १४। ६। ११। २॥

२—स्वस्मिन्वा इदमिन्द्रियं प्रत्यस्थादिति । तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम् । तै० २ । २ । १० । ४ ॥

३—एष वा इन्द्रो य एष तपति । श० २ । ३ । ४ । १२ ॥

४—उच्चैर्धूमः परमया जूत्या बल्बलीति तर्हि हैष भवतीन्द्रः । श० २ । ३ । २ । ११ ॥

५—अथ य इन्द्रस्सा वाग् । उ० जै० १ । ३३ । २ ॥ तस्मादाहुरिन्द्रो वागिति । श० ११ । १ । ६ । १८ ॥

६—यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः । श० ४ । १ । ३ । १९ ॥

७-योऽयं चक्षुषि पुरुष एष इन्द्रः । जै० उप० १ । ४३ । १० ॥

८—प्राण इन्द्रः । श० ६ । १ । २ । २८ ॥

९--हृदयमेवेन्द्र । श० १२ । ९ । १ । १५ ॥

१० -मन एवेन्द्रः । श० १० । ४ । १ । ६ ॥

११—रुक्म एवेन्द्रः श० १० । ४ । १ । ६ ॥

१२ - एष वा एतर्हीन्द्रो यो यजते ॥ तै० १ । ३ । ६ । ३ ॥ इन्द्रो वै यजमानः । श० २ । १ । २ । ११ ॥

१३—इन्द्रो वै राजन्यः । तै० ३ । ८ । २३ । २ ॥

१४—यदशनिरिन्द्रस्तेन । कौ० ६ । ९ ॥ स्तनयित्नुरेवेन्द्रः । ११ । ६ । ३ । ९ ॥

१५—यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स इन्द्रो वा । श० २ । ३ । १ । ७ ।

१६—इन्द्रो बलं बलपतिः । श० ११ । ४ । ३ । १२ ॥

१७--वीर्यं वा इन्द्रः । तां० ९ । ७ । ५ । ८ ॥

१८--शिश्नमिन्द्रः । श० १२ । ९ । १ । १६ ॥

१९--स यस्स इन्द्रः सामैव तत् । जै० उ० १ । ३१ । १ ॥

२०--इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः तै० २ । ४ । ८ । ७ ॥

इन ब्राह्मणवाक्यों के अनुसार इन्द्र का अर्थ--आत्मा, सूर्य, अग्नि, वाक्. वायु, दायीं आँख का पुरुष, प्राण, हृदय. मन, रुक्म, यजमान, क्षत्रिय, अशनि, स्तनयित्नु, प्रजापति, बलपति, वीर्य, शिश्न, साम और सीरपति है। ऊपर दी गयी यास्क की निरुक्तियों का सूक्ष्मता से विचार करने पर ये सभी अर्थ उनमें संगत हो जावेंगे। अगर इन प्रत्येक पर लिखा जावे और एतत्सम्बन्धी मंत्रों के भी दिया जावे तो एक बड़ी भारी पुस्तिका तैयार हो सकती है। यास्क और ब्राह्मण-ग्रन्थकारों के अनुसार इस प्रकार "इन्द्र" के अनेक अर्थ होते हैं और ये तीनें प्रक्रियाओं के लिये हुए हैं। वेदों में इन अर्थों के बतलाने वाले मंत्र सुगमता से पाये जाते हैं।

ऋषि दयानन्द और इन्द्र पद का अर्थ

ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में विविध स्थानो पर ऊपर दिखलाये गये अर्थों में इन्द्र पद का अर्थ दिखलाया है। निदर्शनार्थ दो एक को यहां पर उद्धृत करते हैं। इन्द्रः सर्वत्राभिव्याप्ता विद्युत् यजु २०। २६ इन्द्र अग्निविद्युत्सूर्या वा -ऋ० १। १७। ५० इन्द्रं विद्युद्वत्तीव्रबुद्धिम् ऋ० ६। ४८। १४ इनमें विद्युत्, सूर्य, अग्नि का अर्थ बहुत ही स्पष्ट रूप से पहले निरुक्तानुसार, ब्राह्मणग्रन्थानुसार दिखलाया गया है। यहां पर विद्युत् अर्थपर थोड़ासा विचार किया जाता है। इन्द्र के विषय में यह अति प्रसिद्ध है कि वह बलशाली देव माना जाता है। विद्युत् से बढ़कर बल आधिदैविक शक्तियों में है भी किसका? । ऐतरेय ब्राह्मण ७। १६ और ८। १२ में "इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः" वाक्य इसी भाव को व्यक्त करता है। ऐसा ही वर्णन कौषीतकी ब्राह्मण ६। १४ और गोपथ उत्तर १। ३ में भी देखा जाता है। आचार्य यास्कने नि० ६। १० पर यह स्पष्ट ही घोषित किया है कि 'बलकृति' इन्द्र का ही कर्म है। या का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्--यह यास्कीय वाक्य उसी भाव को घोषित करता है। तैत्तिरीय आरण्यक ९। १०। २ का 'बलमिति विद्युति' अर्थात् बल जो वह है विद्युत् में है—भी पूर्वोक्त भाव का ही अनुवादक है। ऊपर प्रमाणों में दिखलाया है कि स्तनयित्नु और अशनि इन्द्र के अर्थ हैं। स्तनयित्नु क्या है? इस पर श० ११।६।३।९ में कहा गया है कि अशनि ही स्तनयित्नु है। कौषीतकी ६। ९ में पुनः बतलाया गया कि अशनि इन्द्र का नाम है। पुनः अशनि क्या है? इस पर श० ६। १। ३। १४ का वाक्य बतलाता है कि 'विद्युत्' ही अशनि हैं। इस प्रकार इन्द्र और विद्युत् में बहुत ही अर्थसाम्य है, नहीं नहीं अर्थैक्य है। कादम्बरी में अप्सराओं के १४ भेद माने हैं। अप्सरायें विद्युत् हैं और उसके ये चतुर्दशभेद हैं--यह मैं अपने लेख 'अप्सराः' में अच्छी प्रकार सिद्ध कर चुका हूँ। इसी प्रकार ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम पूना छापा) अध्याय ५१। श्लोक ३१--'यावदिन्द्राश्चतुर्दश' इस वाक्य से इन्द्र भी १४ माने जाते हैं

इन्द्र की कथाओं में यह देखा जाता है कि उसके साथ दो घोड़ों, का वर्णन मिलता है। जिस प्रकार अश्विनीकुमारों के दो 'रासभ, कहे गये हैं वैसे ही इन्द्र के साथ ये दो घोड़े भी जोड़े जाते हैं। यह इस लिए कि विद्युत् दो प्रकार की प्रधानतया पायी जाती है—ऋणात्मक और धनात्मक। 'हरी इन्द्रस्य' निघण्टु १। १५: हरी इन्द्रस्य ऋग्वेद ८। १३। २७; युञ्जन्ति अस्य (इन्द्रस्य) काम्या हरी रथे ऋ० १। ६। २: इन्द्रो हरी युयुजे ऋग्वेद १। १६१। ६: तदिन्द्र...बाहू ऋ० ६। ४७। ८, युञ्जानो हरिता ऋ० ६। ४७। १९ और योजा न्विन्द्र ते हरी-यजुः ३। ५२- ये वाक्य इन्द्र के इन दो तत्वों पर प्रकाश डालते हैं। मैत्रायणी १।१।२: काठक १।२: कपिष्ठल १। २; तैत्तिरीय १।१।२।२; मे "इन्द्रस्य त्वा बाहुभ्याम् उद्यच्छे" ऐसा प्रयोग मिलता है। इनमे दो घोड़ों के

स्थान में बाहु का प्रयोग है। काठक २७। १ में तस्य हस्तौ गभस्ती-ऐसा वर्णन मिलता है। मैत्रायणी २। २। ९ पर बताया गया है कि इस इन्द्र के अर्क और अश्वमेध दो यज्ञिय तनु हैं। इस प्रकार इन्द्र का दो की संख्या से सम्बन्ध पाया जाता है।

इन्द्र के साथ वृत्र के युद्ध का वर्णन मिलता है। इन्द्र विद्युत् है पूर्व यह बतलाया गया है, फिर वृत्र क्या है इसको देखना चाहिए। "तत्र को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः" इस कथन से मेघ का नाम ही वृत्र है। जब वह आकाश को घेरता है तो अन्धकार सा छा जाता है। वृत्र की निरुक्ति और उसके कर्म से भी उसका मेघ होना ही सिद्ध होता है। देव दानशील होते हैं और प्रकाश वाले होते हैं, इस लिए उन्हें देव कहा जाता है। परन्तु जो मेघ दानशील नहीं और अन्धकारमय है उसे असुर शब्द से व्यवहृत किया जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इसी लिए लिखा गया है कि प्रजापति ने "सु" से देवों को रचा, इसलिए वे सुर हैं "असु" से असुरों को रचा अतः वे असुर कहाये। देखो तैत्तिरीय २। ३। ८। २। इन्द्र के महान् कार्यों में यह वृत्रवध एक है। इन्द्र=विद्युत् मेघ को काटकर वर्षा के द्वारा जल को पृथ्वी पर गिराता है। ताण्ड्य ब्राह्मण १३। ४। १ में लिखा है कि वृत्र के वध के समय महान् घोष होता है। विद्युत् की कड़क ही यह महान् घोष है जो वर्षा के समय सुनते हैं। निरुक्त २। १६ पर दुर्गाचार्य अपनी वृत्ति में लिखते हैं कि "तेन हि वैद्युतेन ज्योतिषा वाय्वावेष्टितेन इन्द्राख्येनोपताड्यमाना आप प्रस्यन्दन्ते, वर्षभावाय कल्पन्ते—अर्थात् वैद्युत ज्योति जिसका नाम इन्द्र है, वायु से आवेष्ठित, उसके द्वारा ताडित की हुई जलधारायें वर्षा के लिए होती हैं। इन्द्र के इस वृत्रवध कार्य में मरुतों को सहयोगी बताया गया है। वे वृत्र का वध करके आये हुए इन्द्र से क्रीड़ा करने वाले बतलाये गये हैं। मरुत् हैं भी ४९ की संख्या में। सर्वत्र विचरना और क्रीड़ा करना उनका ठीक ही है। विद्युत् जब तक वायु की सहायता न पावे मेघ को वृष्टि में परिवर्तन करने में समर्थ भी नहीं होती है। तैत्तिरीय १। ३। १२ में लिखा है कि मरुद्गणों ने जल से अग्नि को तान्त किया। फिर उसके हृदय को छेदन किया तो 'अशनि' पैदा हुई। संस्कृत वाक्य इस प्रकार है—मरुतोऽद्भिरग्निमतमयन्। तस्य तान्तस्य हृदयमाच्छिन्दन् सा अशनिरभवत्। इस प्रकार दोनों का सहयोग ठीक है। मरुतों की बड़ी भारी सेना है। वस्तुतः वायु के लिए यह अलंकार ठीक ही है। मरुत् क्रीडा करने वाले क्रीडी, सान्तपन, स्वतवस् हैं। सान्तपन वृत्र अर्थात् मेघ को विद्युत् (इन्द्र) का ताप लेकर तपाते हैं। वृत्र सन्तप्त होकर दीर्ण होता है। यह वर्णन शतपथ २। ५। ३। ३ में दृष्टिगोचर होता है। स्वतवस् मरुत् घोर कहलाते हैं। ये बड़े ही भयंकर माने जाते हैं। ४९ पवन की भयंकरता को सभी स्वीकार करते ही हैं। अशनि वज्र एकार्थक हैं। वज्र के धारण से 'इन्द्र' को वज्री कहा जाता है। लोक में प्रसिद्ध 'बिजली' शब्द भी वज्री का ही विकृत रूप मालूम पड़ता है। व और

व का अभेद माना जाता है, इसी प्रकार र और ल का भी अभेद माना जाता है। वज्री के 'व' को 'ब' और 'र' को 'ल' हो जाने से बजली और पुनः बिजली ऐसा प्रयोग बना मालूम पड़ता है। दुर्ग का 'वाय्वावेष्टितेन' पद इन्द्र के साथ इन मरुतों के सहयोग की ओर ही संकेत करता ज्ञात होता है।

इन्द्र जल के फेन से नमुचि का सिर काटता है, यह बात इन्द्र की कथा में प्रसिद्ध है। इसका भी उत्तर इन्द्र को विद्युत् मानने से ठीक तरीके पर लग जावेगा। पहले जैसा बतलाया गया है कि देव दानशील है और असुर अदानशील है. नमुचि भी इसी श्रेणी का एक प्रकार का मेघ है। न + मुचि = नमुचि का अर्थ है न छोड़ने वाला। जो मेघ जल को नहीं छोड़ता, बांध रखता है वह नमुचि है। महर्षि दयानन्द यजु० १९। ३४ के भाष्य में नमुचि का अर्थ करते हुए लिखते हैं- यो जलं न मुञ्चतीति = अर्थात् जो जल को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार यजुः २०। ६७ में ऋषि 'आसुरात्' पद की व्याख्या में लिखते हैं कि असुरस्य मेघस्यायं तस्मात् अर्थात् मेघ सम्बन्धी। इसी अर्थ को बताने वाला 'जलंधर' पद भी है। अमरकोष १। ३। ७ में जलंधर को असुर कहा गया है और वह स्यात् इसीलिए कि, जलंधर जल को धारण कर (रोक) रखता है। यह ठीक ही है कि जो मेघ जल नहीं देते दिखलायी पड़ते तथा अन्नादि अभाव के द्वारा प्रजा को कष्ट पहुँचाने वाले हैं--उन्हे 'असुर' कहा जावे। निघण्टु १। १० में भी 'असुर' पद मेघ नाम में इसी दृष्टि से पढ़ा गया प्रतीत होता है। मेघ पद का अर्थ स्वयं ही बतलाता है कि वह सींचने के स्वभाव वाला है। बरसने वाले मेघ को 'पयोमुक्, पयोद और वृषा कहा जाता है। जल को न छोड़ने वाले को 'नमुचि' कहा जाता है। इस 'नमुचि', के अर्थ का अनुवादक 'कवंध' पद है। निघण्टु १०।४ में यह भी मेघ नाम में पठित है। 'क' का अर्थ जल है-यह संस्कृतज्ञों को सुतराम् परिज्ञात है। उत्तर प्रदेश में पानी भरनेवाले को 'कहार' कहनेकी प्रथा इस आशय से ही है। 'कहार' संस्कृत का शब्द है। इस 'क'=जल को बाँध रखने वाला होनेसे मेघ का नाम कबंध है। इस विचार से यह भाव निकला कि नमुचि, जलंधर और कबंध ऐसे मेघों का नाम है जो जल को नहीं छोड़ते देखे जाते हैं। इन्द्र वज्रसे मार कर उनके जलों को छुड़ाकर वृष्टि कराता है। 'नमुचि' का बध 'इन्द्र' 'अपां फेनेन' अर्थात् जल के फेन से करता है। इस प्रसंग में यजुर्वेद के कुछ शब्द विशेष विचारणीय हैं। वे हैं- अपां क्षयः; अपां ज्योतिः; अपां पाथः; अपां पुरीषम्; अपां भस्म; अपां योनिः; अपां सदनम; अपां सधस्थम्; अपां संधिः और अपाम् ओझ। इनमें लगभग सभी यजुः १३। ५३ में प्रयुक्त हैं। शतपथ ९।५।२ के विभिन्न स्थलों पर इनके अर्थ दिये गये ह जो इस प्रकार हैं--

"चक्षुर्वा अपां क्षयः" "विद्युद्वा अपां ज्योतिः" "अन्नं वा अपां पाथः" "सिकता वा अपां पुरीषम्" "अभ्रं वा अपां भस्म" समुद्रो वा अपां योनिः" "द्यौर्वा अपां सदनम्"

अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम्" श्रोत्रं वा अपां संधिः" "ओषधयो वा अपामोद्ध" अर्थात् 'चक्षु जलों का गृह' विद्युत् जलों की ज्योति; अन्न जलों का पाथः, सिकता जलों का पुरीष; मेघ जलों की भस्म; समुद्र जलों की योनि; द्यौ जलों का सदन, अंतरिक्ष जलों का सधस्थ; श्रोत्र जलों की संधि और ओषधियें जलों के ओद्ध हैं। ये यहां प्रसंग से दिखलाये गये। परंतु इन में 'अपां भस्म' अधिक विचारणीय है। मेघ को जलों की भस्म कहा जाता है; यह ठीक ही है। जल का सूर्य किरणों से तपकर भस्म बनने पर मेघ के अतिरिक्त उसका भस्म और बनही क्या सकता है। इसी लिए मेघ की परिभाषा करते हुए कालिदासने भी लिखा है कि वह धूम; ज्योतिः, सलिल और वायु का जमघट है। इसको इन्द्र 'जल के फेन से काटता है। जल का फेन वस्तुतः जल कुहर है। जब जलधारी बादल आकाश को घेर लेते हैं तो थोड़ी सी कुहरेदार हवा उन्हें गीला सा कर देती है। यह कुहर उस समय जलपर ताप के कारण पैदा होता ज्ञात होता है। इन्द्र वज्र के द्वारा वृत्र के शिर को काटता है। वज्र को भी जल फेन कहा जा सकता है। क्योंकि वज्र के तीन रूप बतलाये गये हैं:-आपः, सरस्वती, और पञ्चदशर्च। कौषीतकी १२। २ के देखने से ऐसा ही प्रतीत होता है। सरस्वती बिजली की कड़क को भी कहा गया है। यह ही वज्र है। इस वज्र से जिसकी तीन धारे हैं इन्द्र मेघ को काटता है। इससे मेघ तितर बितर होकर वर्षा के रूप में पृथ्वी पर गिरता है। वज्र द्वारा मेघ के वध का समय बड़ा ही भयंकर होता है। ऋग्वेद का यह वाक्य 'धूनोत काष्ठा अभिनत्पर्वतानाम्'—चरितार्थ ही है। इन्द्र को कथाओं में पर्वतों के पक्ष का काटने वाला एवं पर्वतपक्षशातन कहा गया है। गोत्रभिद् भी उसे कहा जाता है। 'गोत्र' शब्द मेघार्थक है। पर्वत भी निघण्टु के अनुसार मेघवाची है। इनको काटने या भेदन करने वाला होने से वह गोत्रभिद् और पर्वतपक्षशातन है ही। यह स्वर्ग का देव माना जाता है, यह भी सुतराम् ठीक ही है क्योंकि विद्युत् का मेघस्थानीय होने से अन्तरिक्ष ही स्थान है। अन्तरिक्ष को ब्राह्मण ग्रन्थों में स्वः कहा ही गया है। इन्द्र को तै० २। ४। ८। ७ में सीरपतिः और शतक्रतुः कहा गया है। विद्युत् में ये दोनों ही कार्य घटते हैं। वह शतक्रतु तो इसलिये है कि उससे अनेकों कर्म सिद्ध होते हैं और सीरपति इसलिए है कि कृषि का सारा कार्य उसके ऊपर है।

इस प्रकार इन्द्र नाम विद्युत् का है, इस पर थोड़ा सा प्रकाश डाला गया। परन्तु यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्र शब्द के वे सारे अर्थ हैं जो ऊपर यास्क की निरुक्तियों में बतलाये गये हैं। ऋषि दयानंद के भाव को दर्शाने के लिए यहां विद्युत् अर्थपर कुछ लिखना आवश्यक ज्ञात हुआ अतः उसी दृष्टि से थोड़ासा विचार किया गया।

आध्यात्मिक तत्त्व इन्द्र

आध्यात्मिक दृष्टि से निरुक्तियों का विवेचन करने पर आत्मा और परमात्मा

ये दोनों ही इन्द्र कहे जा सकते हैं। ऐतरेय उपनिषद् से इस विषय पर अधिक प्रकाश पड़ता है। सर्व प्रथम एक आत्मतत्त्व ही 'ईक्षण' कर रहा था और कोई तत्त्व 'ईक्षण' नहीं कर रहा था। यद्यपि जीव और प्रकृति भी विद्यमान थे परन्तु ईक्षण केवल परमेश्वर ही कर रहा था। उसने 'अम्भः' 'मरीचि' मर, और आप इन तीनों लोकों को बनाया। पुनः लोकपालों को रचा। पुनः विराट् की उत्पत्ति हुई और पुनः इस प्रकार क्रमशः मानव शरीर की रचना हुई। उसके लिये अन्न आदि पदार्थों को बनाया गया। शरीर में जीवात्मा का प्रवेश हुआ और उसको भूख तथा प्यास ने सताया। आत्मा ने इस सृष्टि को देखा, परन्तु सर्वत्र सृष्टि में परमेश्वर की ही महिमा दिखलायी पड़ी। वह बोल उठा कि मैंने 'इदं' को देख लिया। इस लिये उसका नाम 'इन्द्र' है। परोक्ष में इस 'इदन्द्र' को ही इन्द्र कहा जाता है। 'इदं' के देखने के कारण यह इन्द्र नाम पड़ा। इदं का द्रष्टा होने से 'जीव' और इदं का कर्ता होने से परमेश्वर इन्द्र है। इसी आशय को उपनिषद् के कर्ता ऋषि ने लिखा है कि इदन्द्रो ह वै नाम, तमिदंद्रं सन्तमिन्द्रम् इत्याक्षते परोक्षेण। इसी आशय को आग्रायण और औपमन्यव की निरुक्तियां दर्शाती हैं। उनके अनुसार क्रमशः इन्द्र वह है जो 'इदं' का कर्ता और इदं का द्रष्टा हो। आध्यात्मिक दृष्टि से 'इन्द्र' का यह अर्थ हमें देखने में आता है और इसी का समर्थन उपनिषद् तथा निरुक्तियां करती हैं।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने 'इन्द्र' के विषय में अपने विचार निम्नलिखित दिये हैं, जो पूर्व कहे गये विद्युत्—विषयक अर्थ के पोषक हैं—

I. The Mythological struggle between the God of the lightning, 'Indra' and the serpent 'Ahi' is transferred to 'Atar' (The fire) vide page Cii of the Introduction to the Zendavasta. English Translation by Darmasteter S. B. E.

II. We find Indra And Agni the most prominent.
The former is the deity of the visible firmament-
The god of lightning and rain,
History of India by Elphinston 9th edition 1911.

III The thunderbolt is the weapon exclusively appropriate to Indra. It is the regular name of the lightning stroke.
Vedic Mythology by Macdonell page 55.

१९

वैदिक-वाग्दर्शन

(वेद एवं दैवी वाणी का विवेचन)

मैने "वैदिक वाग्विज्ञानम्" शीर्षक से एक बृहत् लेख बहुत समयपूर्व संस्कृत में लिखा था। वह "सारस्वती सुषमा" में चैत्र पूर्णिमा के सप्तम वर्ष के प्रथम अङ्क में प्रकाशित हो चुका है। पुनः उस विचार को और पल्लवन के साथ आर्यभाषा में लिख रहा हूँ। वस्तुतः दैवीवाक् कहें या वेदवाक् कहें परिणाम अन्त में एक ही स्थान पर पहुँचता है। हां दैवीवाक् कहने से वैज्ञानिक दृष्टि पर बल अधिक पड़ता है—याज्ञिक और आध्यात्मिक दृष्टियाँ उसमें संकीर्ण नहीं होतीं। मानवचेतना विचारों की श्रृंखला बनाती है। वह चेतनस्वभाव होते हुए कभी भी विचार से पृथक् नहीं हो सकती। चेतना के व्यापार में विचार समाविष्ट रहते हैं। ये विचार बुद्धितत्त्व के गोचरीभूत होकर ज्ञान की कोटि में आ जाते हैं। बाह्य जगत् में कर्मेन्द्रियाँ जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों का अनुसरण करती हैं वैसे अन्दर भी आन्तरिक इन्द्रियाँ अन्तःकरण चार हैं और वे हैं:—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार। इन चारों में मन सारी कल्पनाओं का सर्जन करता है। चित्त इन्हें मूर्तरूप देकर विवेचनार्थ बुद्धि के पास भेज देता है। बुद्धि उसका सम्यक् निश्चय करती है। व्यवस्था हो जाने पर आत्मा उपादेय का ग्रहण और अनुपादेय का परित्याग करता है। बुद्धितत्व का गोचरीभूत विषय ज्ञान जब तक मानवमस्तिष्क में ठहरता है तबतक वह विचार के संस्कार के रूप में रहता है। जब उसे ज्ञानमय आत्मा अन्यों पर प्रकट करना चाहता है तब वह व्यक्तभाषा के माध्यम से वैसा करने में समर्थ होता है। इस प्रकार बुद्धिका गोचरीभूत विषय मस्तिष्क में विचार संज्ञा को प्राप्त हुआ बाह्य जगत् में प्रकटीकरण के द्वारा भाषा के रूप को धारण कर लेता है। भाषा निश्चय ही बाह्य-विचार और विचार आन्तरिक भाषा है, अतः दोनों की एकरूपता है। व्यक्तरूप से प्रयुज्यमान वाणी ही हमारे द्वारा बाह्य जगत् में व्यक्त की जाती है। आन्तरिक जगत् में अव्यक्त रूप में कार्य करनेवाली वाणियों के भी तीन अवस्थान पाये जाते हैं। ऋग्वेदीय मन्त्र १। १६४। ४५ इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। इसके अनुसार वाणी के चार अवस्थान हैं। इनमें तीन का ज्ञान मनस्वी लोगों को

ही होता[१] है। दूसरों को नहीं। ये तीनों आभ्यन्तर जगत् में गुप्त एवं अव्यक्तरूप से अन्तर्हित हैं। वाणी का चौथा अवस्थान मनुष्य के व्यक्तभाषण अथवा श्रवण में आता है। शब्दान्तर से पारिभाषिक रूप में इन्हें—परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी नाम दिया जाता है। यह वैखरी वाणी अन्तराल मे हुए वेपनों से सारी दिशाओं मे विखरती और विस्तार को प्राप्त होती हैं, अतः इसे वैखरी कहा जाता है। इससे भिन्न तीनों वाणियाँ आन्तरिक जगत् में अव्यक्त हैं। तीनों क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम रूप होने से मध्यमा, पश्यन्ती, परा नाम से विख्यात हैं। इन वाणियों के नाम भी सार्थक हैं और ये हैं भी वैज्ञानिक। वाणी का किस प्रकार क्रमिक विकास होता है, इसके परिज्ञान के लिये विचारकों को पाणिनीय शिक्षा के वचन[२] पर ध्यान देना चाहियें। जब आत्मा बुद्धि के माध्यम से ज्ञातव्य मूर्त्त विषय के प्रति आकृष्ट होता है तो वह सुषुम्णाकेन्द्र में स्थित मन को माध्यम रूप से नियुक्त करता है। उस समय उसकी प्रेरणा प्राण सम्बन्धी ऊष्मा (Animal Heat) को ताड़ित करती है। इससे मारुती वायु प्रकट होती है। यह उर में विचरती हुई उदान-प्राण के रूप में बाहर आती हुई कण्ठ में लगकर स्वरतंत्रियों (Vocal cards) को संघर्षण करतीं हुई मन्द्र स्वरों को उत्पन्न करती है। यह स्वरझंकार के रूप में जिह्वा अथवा तालु के विविध भागों को स्पर्श करता हुआ शब्द रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। यहां प्रसङ्ग से शब्दोत्पादन के हेतुभूत मारुत के विषय में थोड़ा सा विचार करना अनुपयुक्त न होगा। अथर्व ५।३०।१० में[३] लिखा है कि बोध और प्रतिबोध दो ऋषि प्राणों के रक्षक हैं और शरीर में कार्य करते हैं। ये रात्रि दिन जागते हैं और सावधानी से कार्य का सम्पादन करते हैं। "मारुत" को लोक में 'अद्रिजन" कहा जाता है। प्राण और उदान ही बोध प्रतिबोध हैं। प्राण वैदिक भाषा में वरुण और आयुर्वेद मे "विष्णुपदामृत" नाम से प्रसिद्ध है। इस विषय में शार्ङ्गधर-संहिता के[४] पंचमाध्याय से अच्छा प्रकाश मिलता है। नाभिदेश पर्यन्त विचरण

१—चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
त्रीणि गुहा निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ ऋ० १।१६४।४५

२—आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥

३—ऋषी बोधप्रतिबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः। तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्॥

४—नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः। प्रीणयन् देहमखिलं जीवयन् जठरानलम्॥

करनेवाला प्राण हृदयकमल को स्पर्श करता हुआ कण्ठ द्वारा बाहर निकलता है। इस कारण से कि वह विष्णुपदामृत का पान कर सके। वह पुनः अन्तर्लोक (Etherial space) से प्राणदायक अमृत को ग्रहण कर वेगसे वापस आता है। वह जाठराग्नि के रससीकरों को सजीव करता हुआ समस्त मानव शरीरों को तृप्त करता है। विचार, ज्ञान और भाषा ये तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं। एक दूसरे के साहाय्य के विना इनमें कोई भी कार्यक्षम नहीं। यह पाश्चात्य भाषा-विज्ञानविशारदों को भी सम्मत है।[1]

इन पूर्वोक्त वाणियों में 'मध्यमा' वाणी अन्तर्मुखी हैं और किसी के भौतिक कर्ण-माध्यम से नहीं सुनी जा सकती और अन्यों पर इसका प्रकटीकरण भी शक्य नहीं। इसका उद्गमस्थान सुषुम्णाकेंन्द्र है। शरीरविज्ञान के विचारक मस्तिष्क से लेकर सुषुम्णा के पुच्छ तक का विचार करते हैं। ग्रीवा के अन्तिम कशेरुक के ऊपर सुषुम्णा का शिखर है। वहाँ पर मस्तिष्ककल्प एवं आज्ञाचक्र की स्थिति है। इस शिखर से नीचे' मूलाधार कटिभाग से ऊपर, और चक्र से थोड़ा नीचे छोड़कर सुषुम्णा के ऊपर भागमें गुहा के अन्दर बिना स्वर और घोष के स्वर और व्यंजन से परिपूर्ण जो शब्दराशि पैदा होती है, वही मध्यमा वाक् है। प्रवचन साहित्य में अर्थात् उपनिषदों में 'गुहा'[2] शब्द का प्रयोग बहुधा गुप्तहृदय के अर्थ में देखा जाता है। यह गुप्तहृदय आज कल लघुमस्तिष्क नाम से पुकारा जाता है। जिस प्रकार योगी पर्वत गुहा में योग-साधना करते हैं उसी प्रकार अन्तर्जगत् में साधना करने वालों ने आन्तरिक पर्वत और गुहा का अन्वेषण किया। मेरुदण्ड की सार्थकता भी आन्तरिक पर्वत के मानने पर है अन्यथा नहीं। मानवशरीर में समस्त पृष्ठवंश पर पाश्चात्य लोगों के मत से २७ और भारतीयों के मत से ३३ पर्वत (vertibrus) स्वीकार किये गये हैं। इन्हीं को कशेरुक कहा जाता है। इसी मेरुदण्ड में सुषुम्णा की स्थिति है। यह सूत्र के समान दिखलायी पड़ने वाली बहुत सी शाखावों को घेर कर स्थित है।

१—We never meet with articulate sounds except as wedded to determinate ideas, nor do we ever meet with determinate ideas except embodied forth in articulate sounds.

I, therefore declare my conviction as explicitly as possible that thought n the sense of reasoning is not possible without language. (Maxmuller in science of language).

Without language it is impossible to concieve philosophical, nay, even any human consciousness. Mr. sheeling.

२—अस्य ज्योतिर्निहितं गुहायाम्—कठ १।२।१९; गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्—क १।२।१२, गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तम्। क० २।१।६; गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। मु० ३।२।९; यो वेद निहितं गुहायाम् परमे व्योमन् तै० ब्रा० २।१ यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह—ग्रन्थयः।

आचार्यों ने इसकी शाखावों की गणना भी की है[1]। पांच पर्वों वाली यह शाखावों में विभक्त हुई तीन लाख की संख्या तक पहुँचती है। शरीरविज्ञान-वेत्ता इसकी पचास सहस्र शाखायें तक मानते हैं। शिवस्वरोदय[2] में इसकी ७२ हजार शाखायें गिनाई गयी हैं। ये सब शाखा प्रशाखा के भेद से दाहिने पार्श्व से बायें तक समस्त शरीर में फैली हैं। इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा-ये तीनों प्रधान नाडियाँ हैं। मेरुदण्ड के बायें इडा की, दाहिने पिङ्गला की और मध्य में सुषुम्णा की स्थिति है। एक गान्धारी नाम की भी नाड़ी है, जो बायीं आंख में जाकर समाप्त होती है। इडा, सुषुम्णा और पिंगला—ये तीनों ही जीवन की स्थापना में सहायक हैं। मानवशरीर में जो इडा है वही लोक में गंगा है। पिङ्गला को यमुना कहा जाता है। सुषुम्णा को सरस्वती नाम से व्यवहार में लाया जाता है। वेद में दिखलायी पड़नेवाली गंगा आदि नदियाँ नाडी अर्थ को देने वाली मालूम पड़ती हैं। तीनों का जहाँ संगम होता है उसे योगी लोग प्रयाग कहते हैं। इडा क्रियासूत्र की (active nerves) की केन्द्रभूत और पिङ्गला ज्ञानसूत्र (sensitive nerves) की केन्द्रभूत है। सुषुम्णा दोनों के कार्यकलापों का संचालन करती है। हम जो कुछ भी मन में मंत्रात्मक, वाक्यात्मक, शब्दात्मक, उच्चारित करते हैं—वे सब मस्तिष्क और सुषुम्णा के मध्य होने वाले क्रियासूत्र के वेपनमात्र हैं। हमें इन वेपनों की अनुभूति स्पष्ट होती है परन्तु ये कर्णगोचर नहीं हैं। इनके सुनने में कर्ण असमर्थ है। इन वेपनों का स्वरतंत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं। ये वेपन केवल लघुमस्तिष्क तक ही रहते हैं। वरुण नामी बृहत् मस्तिष्क इन्हें ग्रहण करता है। ये वेपन ही वेद में मध्यमा वाक् कहे जाते हैं। प्रसिद्ध "अजपाजाप" इसका ही संकेत करता है। सभी आस्तिक संप्रदायों में अपने अनुसार जो मौन प्रार्थना देखी जाती है—वही

क० ३ । ६ । १५. स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः । तै० ५ । १; अपगूढं गुहाहितम् । ऋ० १ । २३ । १४; पश्वा न तायुं गुहां चरन्तम् नमो युजानं नमो वहन्तम्—ऋ९ १ । ६५ । १; गुहा चरन्ती मनुषो न योषा सभावती विदथ्येव संवाक् । ऋ० १ । १६७ । ३; सम्यक् श्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः ऋ० ४ । ५८ । ६; वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद् यत्र विश्वम् भवत्येकनीडम्—यजु० ३२ । ८

१—मध्यस्थायाः सुषुम्णायाः पर्वपञ्चसंभवः । शाखोपशाखतां प्राप्ताः शिरालक्षत्रयात्मकम् । अर्धलक्षमिति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः ॥ (अथर्ववेदभाष्ये)

२—नाभिस्थानकन्दोर्ध्वमुकुरादेव निर्गताः । द्विसप्ततिसहस्राणि देहमध्ये व्यवस्थिताः ॥ ३२ ॥ इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ॥ ३६ ॥ इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्मृता । सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ॥ ३८ ॥ इडा, पिङ्गला सुषुम्णा प्राणमार्गव्यवस्थिताः ॥ ४१ ॥ इडा गङ्गेति विज्ञेया पिङ्गला यमुना नदी मध्ये सरस्वती ज्ञेया प्रयागादिसमस्तथा ॥ ३०४ ॥

एतन्मूलक ही है। इस भाव को ऋग्वेद १०। ४७। ७[1] में इस प्रकार व्यक्त किया गया है। हमारे स्तुतिवचन हृदयस्पर्शी, मन से कहे गये ही, दूतरूप होकर परमेश्वर को प्राप्त होते हैं। मन में हुआ व्यापार वाणी को उच्चारण की ओर प्रेरित करता है। इसलिए यह मध्यमा वाक् वैखरी की जन्मदात्री है। संकल्प मन का विशुद्ध व्यापार है—ऐसा छन्दोग लोग मानते हैं।[2] जब कोई संकल्प करता है तब मन से करता है और तभी वाणी का उच्चारण करता है। जिस प्रकार यह जड़ प्रकृति व्यक्त और अव्यक्त भेद से दो रूपों में आती है उसी प्रकार यह मध्यमा वाणी भी। सूक्ष्मावस्था को प्राप्त हुई प्रकृति आकाश में व्याप्त होकर परमाणुरूप में स्थित होती है। इसी प्रकार अव्यक्त वाक्तत्व भी सूक्ष्म वेपनों के रूप में अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर स्थित रहता है। जब प्रकृति अव्यक्तावस्था को त्यागकर कार्यावस्था में परिणत होने लगती है तब उसमें क्रिया हो जाने से परमाणु नाचने से लगते हैं। ऋग्वेद १०। ७२। ६[3] में इसी स्थिति का वर्णन मिलता है। इस अवस्था में प्रकृति न व्यक्तभूत कही जा सकती है और न अव्यक्त भूत ही। मध्यमा कहना ही ठीक होगा। यही अवस्था मध्यमा वाणी की भी है। अव्यक्तावस्था में यह अन्तरिक्ष में व्याप्त रहती है। जब इसमें सूक्ष्म वेपन प्रगट होते हैं तब यह पश्यन्ती होकर आत्मदृष्ठ हो जाती है। वही फिर वेपनों के स्पष्ट होने पर मध्यमावस्था में सुषुम्णा के शिखर मे रहती हुई मन में ध्वनित होती है। यद्यपि मध्यमा की ध्वनि कर्णो को गोचर नहीं होती तब भी उसकी अनुभूति स्पष्ट है। मध्यमा अव्यक्तावस्था में वेपनरहित और व्यक्तावस्था में वेपनयुक्त रहती है। यह ही जब कारणरूप में अव्यक्त है तब इसे 'परा' कह देते हैं। परा ही मूल कारण है और वह मध्यमा की प्रकृतिवत् अति सूक्ष्मावस्था है।

अव्यक्त प्रकृति की भाँति अव्यक्त वाक् सर्वज्ञ परमेश्वर की प्रेरणा को प्राप्त हुई सर्गारम्भ मे सूक्ष्म वेपनों से समाहितचित्त योगियों के द्वारा देखी जाती है। इसी लिये यह पश्यन्ती है। इसी में आदिकालिक साक्षाद्धर्मा ऋषियों को मन्त्रों के ज्ञान की अनुभूति होती है। यही कारण है कि वे मन्त्रद्रष्टा कहे जाते हैं। मध्यमा वाणी में वेपनों की अभिव्यक्ति अनुभवगम्य हैं किन्तु पश्यन्ती के वेपन सर्वथा अव्यक्त होते हैं। शब्दार्थ-सम्बन्ध की भांति मध्यमा और पश्यन्ती का भी व्यक्त अव्यक्त भाव से नित्य सम्बन्ध है। एक दूसरे के विना एक दुसरी अपनी सत्ता को नहीं स्पष्ट कर सकती है। वाणीविस्तार के पश्यन्ती, मध्यमा. वैखरी—ये तीन क्रम इस प्रकार हुये। येही क्रमशः—ज्ञान, अनुभूति और क्रिया में भी सार्थक हो रही हैं। यहाँ यह स्मरण रहे कि

१—वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः। हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिंदाः ॥ ऋ. १०। ४५। ७

२—संकल्पो वाव मनसो भूयान्, यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यति अथ वाचमीरयति ॥ छान्दोग्य ७। ४। १

३—यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठन्। अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ॥ ऋ० १०।७२।६॥

प्रकृति की अव्यक्तावस्था से सलिलावस्था तक[1] एवं अपोऽवस्था तक वाणी का साथ बराबर बना रहता है। स्वरूप में सूक्ष्मता एवं स्थूलता का क्रम भले ही रहता है। पश्यन्ती की अवस्था में आत्मदृष्टि द्वारा ज्ञान गोचर होता है। मध्यमा की अवस्था में गोचरभूत ज्ञान मन में अनुभूत होता है। वैखरी अवस्था में वही उदान प्राण के द्वारा स्वरतन्त्री में प्रेरित हुआ स्वरव्यंजन वर्णो के रूप में प्रकट हुआ बाहर स्पष्ट होता है। यही वाणी लोगों के द्वारा श्रवण एवं लिपिसंकेत से जानी जाती है। आगमतंत्रों में चन्द्रमा की १६ वीं कला को "अमृता" कहा गया है। स्फोटज्ञानवाले इसे ही पश्यन्ती कहते हैं। तन्त्रदर्शन में इसका ही पारिभाषिक नाम "आत्मदृष्टि" है। मन्त्रशास्त्र में कदाचित् यही मंत्रदेवता है। चन्द्रमा की १६ वीं कला नित्या, अमृता और अखण्ड हैं। पश्यन्ती नामी, आत्मदृष्ट्या देखा हुआ मन्त्र, निगम, अथवा वेद नित्य और अनिधन है। विज्ञानवान् साधक वैखरी से अन्तर्मुख होकर मध्यमा के मूलोद्गम को प्राप्त करता है। मध्यमा से पुनः अन्तर्दृष्टि हो पश्यन्ती तक पहुँचता है। मध्यमा पर्यन्त सर्व साधारण की गति है किन्तु पश्यन्ती तक पहुँच अन्तर्दृष्टि, समाधि से निर्धूत कल्मषवाले ऋषियों की ही है अन्य की नहीं। मध्यमा वाक् ही अन्तरिक्ष और तत्र स्थित देवों में विद्यमान हुई दैवी वाक् है। यही वाणी है जिसको व्यक्तवाक् और सभी प्राणी बोलते हैं जब वह वैखरी रूप में परिणत होती है।

आर्षवाङ्मय में शब्दों की नित्यता स्पष्ट है। वैज्ञानिक रूप मे भी यह सत्य है। वेद में भी वेदवाणी की नित्यता का वर्णन है। वेद के ज्ञानमय होने से उनका शब्दमयत्व भी ठीक ही है। शब्दकी नित्यता को स्वीकार करनेवालों ने वेद की नित्यता को भी स्वीकार किया है। वेद की नित्यता किस प्रकार की है—औत्पत्तिक सम्बन्ध[2] से। वेद-शब्दों का लोकगत पदार्थों के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध है अर्थात् वेद शब्दों से ही सृष्टिगत् पदार्थों की रचना हुई है। इसलिये वेद के शब्द नित्य हैं। वेदव्यास, पतञ्जलि; मनु आदि ऋषियों ने वेदशब्दों से जगत् की उत्पत्ति मानकर वेदों की नित्यता सिद्ध की है। औत्पत्तिक शब्द का अर्थ कुछ लोग अन्यथा ही लेते हैं। वस्तुतः वेद के शब्दों का सृष्टिगत अर्थों के साथ उत्पत्तिविषयक सम्बन्ध लेकर अर्थ करना ही उचित है। नित्य अर्थ की प्राप्ति व्यंजना वृत्ति से है। शब्दों का अर्थों के साथ नित्य

१—सोऽपोऽसृजत्। वाच एव लोकाद्वागेवास्य सासृज्यत—श. ६।१।१।७ सोऽकामयत। आभ्यो अद्भ्यो अधिप्रजायेयेति सो अनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्……अस्तु इत्येव तदब्रवीत् ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या। श. ६।१।१।१० ॥

२—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः ॥ जैमिनीयमीमांसायाम् प्रथमाध्याये प्रथमपादे। अतः प्रभवात्…अत एव च नित्यत्वम्–वेदान्तसूत्राणि १।३।२८–२९ सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।

सम्बन्ध है—यह अर्थ केवल इस जगत् की रचना वेद के शब्दों से है—इस भाव को लेकर ही है। मीमांसा में ऋषि जैमिनि और वेदान्त में व्यास ने बहुत युक्तिसंगत ढंग से इसका प्रतिपादन किया है। कणाद ने भी "संज्ञायाः अनादित्वात्" प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञा-कर्मणः इत्यादि सूत्रों से वेद के नित्यत्व की धारणा को ही पुष्ट किया है। जो आधुनिक लोग शास्त्रों की परिभाषा को बिना समझे शब्द की नित्यता और अनित्यता पर विवाद करते हैं—वे ठीक नहीं करते। प्राचीन आचार्यों की इस विषय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। यह भेद नवीनों का खड़ा किया है। शब्दों की नित्यता और अनित्यता दोनों ही सम्मत है। वैदिक शब्दों का सृष्टि के पदार्थों के साथ औत्पत्तिक सम्बन्ध होने और परमात्मज्ञान में "परा" वाणी के रूप में मिलकर स्थित होने से नित्यत्व है। लौकिक शब्द जो हमारे हैं; वे सर्वथा अनित्य हैं। व्याकरणशास्त्र के प्रवक्ता पाणिनि और महाभाष्यकार पतंजलि अपने सिद्धान्त की प्रक्रिया से लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का विचार करते हैं अतः वे नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों मानते हैं। नैयायिक बहुधा लौकिक शब्दों का ही विचार करते हैं अतः वे शब्दों का अनित्यत्व दिखलाते हैं। मीमांसक अपने दर्शन मे वैदिक शब्दों का विचार करते हैं अतः शब्दों की नित्यता बतलाते हैं। इनमें कोई भी सिद्धान्त का भेद नहीं। सभी का विचार अपनी प्रक्रियानुसार ठीक ही है। असमीचीन वस्तु तो वह है जो नवीनों ने खड़ी की है। यहाँ पर यह विशेष स्मरण रखने की बात है कि वेद संहितारूप में नित्य हैं। उनकी वर्णानुपूर्वी भी सभी नित्य है जैसा कि महाभाष्यकार ने माना है। शाखायें और पद पाठ आदि अनित्य हैं क्योंकि उनमें अस्मदादि के शब्द आ जाते हैं।

नित्या और वह भी अत्यन्त अव्यक्ता वाग् परा कही जाती है। यह परावाक् ब्रह्म में स्थित है योगीजन ही उसका ग्रहण कर सकते हैं। वह भी संपूर्णता के साथ नहीं। यह वाणी उतनी है जितना ब्रह्म है। यह तीस धामों[1] में विराजमान है और ब्रह्म से ही प्रसिद्धि में आती है। यह परमात्मतत्त्व ही इस वाणी का परम आकाश है। यह सर्वत्र व्याप्त हुई कभी भी नष्ट नहीं होती है।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनुः १।२१—शब्दादेव जगतः प्रभवादुत्पत्तोः प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः। स इह कल्पादौ हिरण्यगर्भस्य परमात्मन एव प्रथमदेहिमूर्त्तेर्मनस्यवस्थान्तरमापन्नः सुप्तप्रबुद्धस्येव प्रादुर्भवति ॥ मनुस्मृतौ कुल्लुकभट्टः ॥ तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया—ऋ. ८।७५।६ पातंजले योगसूत्रे १।२७ व्यासेनोक्तम् यत्—स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वररूपस्थितमेवार्थमभिनयति। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचक-शक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्धइति आगमिनः प्रतिजानते ॥

१—यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्—ऋ. १०।११४।८; त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते। ऋ. १०।१८९।३; ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम। ऋ. १।१६४।३६; वागिघ इदं ब्रह्म—

आकाशवद् व्यापिनी यह ब्रह्म की प्रतीक है। न कभी आकाश नष्ट होता है और न यह परा वाणी ही। यह परा वाणी वेदों की मौलिक शब्द राशि के रूप में अव्यक्तावस्था में नित्यरूप से ब्रह्म में स्थित रहती है। यह ही सर्गकाल मे पश्यन्ती होकर साक्षाद्धर्मा ऋषियों से साक्षात् की हुई मध्यमा रूप से प्रकट होती है। मध्यमा का ही विस्तार फिर वैखरी होती है। योग १। २७ पर व्यास देव का यह वचन—संकेतस्तु ईश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। सर्गान्तरेषु अपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः—इस पक्ष का ही ज्ञापक है। इस मध्यमा वाणी को सरस्वती[1] नाम भी दिया गया है। यह आन्तरिक जगत् में सुषुम्णाकेन्द्र में स्थित होकर वैखरी को प्रकट करती है और दैवतजगत् में अन्तरिक्ष में अव्यक्त हुई रहकर वेपनो द्वारा मनुष्य और प्राणियों की वाणी को प्रकट कराती है। सरस्वती का अर्थ उदकवर्ती है। वाणी पहले अव्यक्त रहती है फिर अन्तरिक्ष में व्यापक होकर जल के साथ मेघादिकों में स्थित होकर तद्वती होती है। यही मध्यम देवों के स्थान में रहने वाली मध्यमा वाक् है। यही मध्यम देवों के वेपनों में आकर गर्जनरूप में होकर जलादिकों को उत्पन्न करती है। यही वाक् वस्तुतः इस अवस्था में इष, ऊर्ज=ज्ञान और अन्न आदि की देने वाली है। द्युलोकस्था वाक् परा का भाग होने से माध्यमिकी की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होने से ज्ञात नहीं होती परन्तु है यह इस मध्यमा वाणी में भी मूल रूप में स्थित है। किन्तु मध्यमा वाणी सब प्राणियों के अन्तर्गत सब के सब अर्थों को व्यक्त कराने वाली होती है। अन्तरिक्ष-स्थानी देवगण जिस मध्यमा वाणी को तरङ्गित करते हैं उसीको व्यक्तवाक् और अव्यक्तवाक् सभी प्राणी बोलते हैं। परा और पश्यन्ती व्यवहार योग्य नहीं किन्तु मध्यमा वेपनो द्वारा व्यवहार योग्य होतीं है। वाक् अर्थ में लगती है अतः सभी पदार्थ अर्थ हैं। वृत्र मेघ है और वह अन्तरिक्ष स्थानी है, अतः उसके वध के समय महान् शब्द होने अथवा ऋचावों के तरङ्गित करनेकी बात का आधार भी स्यात् यही है। वाणी के[2] चार पद माने जाते हैं, पाँचवां नहीं। इसमें तीन पद बुद्धिगम्य हैं और अर्थ का प्रकटीकरण नहीं करते। चतुर्थ पद को मनुष्य परिज्ञान के लिए बोलते हैं। परन्तु इन चारों पदों मे चौथा पद व्यावहारिकी वाणी का है, जो मनुष्य बोलते हैं और वह सर्वदा पृथक् ही रहा है। ऐसा नहीं कि वह कभी पश्यन्ती आदि मे संकीर्ण हुआ हो। वैदिक आर्षाभिधायिनी दृष्टियों में वाणी

ऐत० ब्रा. २।१५; ब्रह्मैव वाचः परमं व्योम— तैत्तिरीय ब्रा० ३।९।५।५; श० ३।५।१।३४; वागिति द्यौः। जै० उ० ४।२२।११; वाक् सावित्री। गो० पू० १।३३ वाग्वै समुद्रो न वै वाक्क्षीयते न समुद्रः क्षीयते—ऐत० ५।१६

१—पावका नः सरस्वती—ऋ. १।३।१०; यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानाम् निषसाद मन्द्रा — ऋ. ८।१००।१०; देवीं वाचमजनयन्त देवास्ताम् विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। ऋ. ८।१००।११

२—निरुक्त १३।१।८

के चार पद-ओंकार, भूः, भुवः और स्वः हैं। व्याकरणविदों के अनुसार ये चार पद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात हैं। याज्ञिक लोग—मंत्र, कल्प ब्राह्मण और चतुर्थ व्यवहारिक को चार पद मानते हैं। नैरुक्त मत में ऋग्, यजुः, साम और चौथी व्यावहारिकी वाणी—ये चार पद हैं। भूतविदों के मत में सर्पों की वाणी, पक्षियों, की वाणी सरीसृपों की वाणी और चौथी व्यावहारिकी—ये चार पद हैं। आत्मविद् लोग तूणव, पशु और मृग, तथा आत्मा में वाणी के भाग मानते हैं। इस विस्तार में यद्यपि कुछ बातें विचारणीय हैं परन्तु यह निश्चित है कि मनुष्य तुरीय वाणी अर्थात् वाणी के चतुर्थ भाग व्यावहारिक का ही प्रयोग बोलने में करता है। वह वेद की वाणी को यज्ञ के अतिरिक्त कभी बोलता नहीं था। वेद की भाषा उसकी व्यवहार की भाषा नहीं। यह व्यवहार की भाषा वैदिक भाषा से परिमार्जन और विकास का फल नहीं अपितु वैदिक भाषा के संकोच और रूढ़ बनाने का फल है। वेदवाणी से लौकिक संस्कृत बनी। कुछ संकोच करके और अधिकतर शब्दों को जो वेद से इसमें आये हैं रूढ़ बनाकर व्यहारिक संस्कृत बनी। वेद की भाषा धरा पर कभी मानव की भाषा नहीं रही। आर्षदृष्टि में 'ओ३म्' भूः' 'भुवः' और 'स्वः' में केवल "भुवः" प्रयोग का प्रतीक है। यद्यपि यह पश्यन्ती की दृष्टि से है परन्तु पश्यन्ती में भी 'भुवः' की स्थिति वह है जिसमें व्यवहारी दृष्टि मानी गयी है। व्यवहारी भाषा इससे विस्तार पाती है। तीन भाग व्यवहार में नहीं आते हैं। यहाँ सूक्ष्मता की दृष्टि है साधारण या स्थूल दृष्टि नहीं। याज्ञिक लोगों के मत में तीन व्यावहारिक नहीं क्योंकि ये पश्यन्ती के भाग हैं। नैरुक्त मत में तो स्पष्ट ही है। ऋग्, यजु साम कभी व्यावहारिकी भाषा नहीं। वैयाकरणों के मत पर थोड़ा विवाद हो सकता है क्योंकि वह स्पष्ट नहीं, वहाँ व्यावहारिकी वाक् का स्पष्ट कथन नहीं है। परन्तु यह सबको विदित है कि वैयाकरण लौकिक और वैदिक दोनों वाणियों का विचार करते हैं। वैदिक में भी व्याकरण करने पर चार प्रकार के पद पाये जायँगे। अन्तर लौकिक और वैदिक में रूढ़ता का है। निपात बहुधा अर्थ को सीधे ज्ञापन नहीं कराते हैं। साधारण मनुष्य की वाणी अर्थ को बिना जाने निपातवत् ही होती है। यहाँ भी यही समझना चाहिए कि वैदिक पदों के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातकों को मेधावी ऋषिजन जानते हैं। वह व्यवहार में नहीं आते परन्तु लौकिक को मनुष्य बोलते हैं। भूतविदों के तीन मध्यमा के वैखरी बनने की अवस्था के पूर्व के हैं। वे मध्यमा ही हैं। व्यावहारिक वाणी अलग है। आत्मविदों की प्रक्रिया में तीन भाग मध्यमा के अव्यक्त रूप के हैं और चौथा आत्मा में स्थित भाग वह है जो बाद में व्यवहार आता है। अतः इन सभी विचारों में यह निश्चित है कि व्यावहारिक वाणी पृथक् है और उसी को मनुष्य बोलता है। ये सब विभिन्न मतों में दिखलाये गये प्रकार—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के पल्लवन को दिखलाने के लिये दिखलाये गये हैं। वस्तुतः ये व्याकृत वाणी के रूप हैं। वाणी दो प्रकार की है व्याकृत और अव्याकृत। प्रथम

वाक् अव्याकृत थी बाद में इन्द्र ने व्याकृत किया। इसी को तै० सं ६।४।७[1] में स्पष्ट रूप में वर्णित किया गया है। तैत्तिरीय का यह भाव मेरे पूर्व लिखे गये मध्यमा वाणी के वैखरी तक आने के विचार से समन्वय खाता है। वाणी जब समष्टि रूप में थी तब भेद नहीं हो सकता था। भेद तो व्याकृत करने पर प्रकट होता है। अतः पूर्वोक्त भेद इस व्याकृति की दृष्टि से हैं। शतपथ ४।१।३।[2] १६ के देखने से पूर्वोक्त बात और भी स्पष्ट हो जाती है। वहाँ लिखा है कि यह वाणी का चौथा "निरुक्त" रूप है जिसको मनुष्य बोलते हैं और उसी का अनिरुक्त रूप—पशु, पक्षी और क्षुद्र सरीसृप बोलते हैं। वाणी इसी प्रकार सृष्टा और असृष्टा दो रूप की है। सृष्टा वाक्[3] चार विभाग को प्राप्त होती है। तीनों लोकों और पशुवों में उसकी स्थिति होती है। जो वाणी पृथ्वी मे है वही अग्नि और रथन्तर मे है। जो अन्तरिक्ष मे है वही वायु में और वही वामदेव्य साम में है। जो द्युलोक में है वही स्तनयित्नु में और बृहत् साम तथा पशुवों में है। इससे जो बच जाती है वह ब्राह्मण में स्थान पाती है। इस लिए ब्राह्मण दोनो वाणियाँ बोलते हैं। कर्मकाण्ड समय में वैदिक और व्यवहारकाल में लौकिकी। इस प्रकार वाणी तीनों लोकों मे व्याप्त है। जो इन लोकों में है वही तीनों सामों में है। इनसे अतिरिक्त पशुवों में है। वही जब विस्पष्ट होती है तब उसे मनुष्य बोलते है। यही वैखरी एवं व्यावहारिकी वाणी है। इन सभी वाणियों का कार्य-कारण भाव देखा जाता है। परा वाक् ओङ्कार रूपा है। ओ३म् ही सारी वाणियों का मूल है। शाकपूणि ने कहा भी है कि[4] ओ३म् ही यह वाक् है—जो नाना देवतावाले मंत्रों तथा सब प्राणियों मे व्याप्त है। यही अक्षर शब्द से कहा जाता है। क्योंकि यह वाणियों का अक्ष है। जैसे सारी वाणियां अक्षभूत इस अक्षर में स्थित हैं वैसे ही इनके अर्थभूत पदार्थ और वैदिक देव भी इसी में स्थित हैं। यही सब वाणियों और ऋचावों का उद्गम-स्थान है। इस अक्षर का ज्ञान ही पराविद्या है और सारा विश्व इसी का व्याख्यान है। वाक् अर्थ में बलवती है अतः स्वभाव से उसकी अर्थवत्ता है। सारी वेदराशि वाङ्मयात्मक हैं। उसके अभिधेय अर्थ देवता हैं। अर्थ ही वाणी का पुष्प और फल है। वह पुष्पफल देवता, अध्यात्म अथवा यज्ञ है। इस प्रकार तीनों

१—वाग्वै पराचि अव्याकृतावदत्तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत् तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते।
तै० सं. ६।४।७।

२—तदेतत्तुरीयं वाचो। निरुक्तं यन्मनुष्या वदन्त्यतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत्पशवो वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद्वयांसि वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रं सरीसृपं वदति। ४।१।३।१६।

३—सा वै वाक्सृष्ठा चतुर्धा व्यभवदेष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयं या पृथिव्याम् साग्नौ सा रथन्तरे। यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि साऽऽदित्ये सा बृहति सा स्तनयित्न अथौ पशुषु। या वागत्यरिच्यत सा ब्राह्मणे दधुस्तस्माद्ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानाम् या च मनुष्याणाम् इति॥

४—ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः। निरु १३।११।

अर्थों के अभिधान में ही वेदवाणी की सफलता है। ओम् जैसे सारी वाणियों में व्याप्त है वैसे ही सब पदार्थों में भी व्याप्त है। लौकिक व्यवहारों में विचरनेवाले अस्मादृशों को यह भली प्रकार ज्ञात नहीं होता। हमारा जो कुछ भी ज्ञान है वह देश काल से परिच्छिन्न है। दूसरी बात यह है कि हमारा ज्ञान शब्द,[1] अर्थ और ज्ञान तीनों से संकीर्ण है। 'गौ' ऐसा व्यवहार करने पर गौ शब्द, गौ अर्थ, और गौ ज्ञान ये तीनों मिले हुये हैं। वस्तुतः शब्द धर्म और है, अर्थ धर्म और है और ज्ञान धर्म और है। इनका पार्थक्यज्ञान समाधिके विना संभव नहीं। ऋषि साक्षात्कृद्धर्मा होते हैं, वे इसे जान सकते हैं। उनको कोई संशय नहीं होता और वे ऋतम्भरा प्रज्ञा से, वाणी, उसके अर्थ, और ज्ञान पृथक् करके देखते हैं। दूसरों की यहाँ कोई गति नहीं है। इस प्रकार यह वाणी का वैदिक विचार है। इसका एक स्वतन्त्र विज्ञान और दर्शन है। वेदवाणी में सारे देवों का निवास है और यह उनमें व्याप्त[2] है। ऋग्वेद १०। ७१। १ मन्त्र[3] भी इस विषय में अच्छा प्रकाश डालता है। वैदिकवाणी के विषय में—प्रथमम्; वाचोऽग्रम्, नामधेयं दधानाः, श्रेष्ठम्, अरिप्रम्; प्रेणा, गुहानिहितम्— आदि पदों से उसके महत्व को दिखलाया गया है। यह वाक् सर्गावस्था के पूर्व परमात्मा के ज्ञान में परारूप में स्थित रहती है और सर्गकाल में पश्यन्ती के रूप में प्रकट होती हैं। इसलिए "प्रथमम्" का प्रयोग है। वही सभी वैखरी वाणियों का मूल है। अतः कहा गया है "वाचो अग्रम्।" "सर्वेषां तु नामानि" इस नियम से सर्गारम्भ में पदार्थों के नाम रखे जाते हैं अतः इस भाव को व्यक्त करने के लिए 'नामधेयं दधानाः" का व्यवहार है। ऋग्वेद में परमात्मा को "नामधा" भी कहा गया है। व्याकरण आदि नियमो से परिपूर्ण भी यह वाणी लौकिक व्याकरण के संकुचित नियमों में न आने से "श्रेष्ठम्"=श्रेष्ठ है। यह किसी देश-विशेष की भाषा नहीं, यद्यपि सारी लौकिक भाषाओं की मूल है, इसमें कोई दोष नहीं जो लौकिक में होते हैं—इसलिए यह "अरिप्रम्" निर्दोष है। सभी कल्पों मे यह प्रेरणा द्वारा प्राप्त होती है—इसलए 'प्रेणा' शब्द का प्रयोग किया गया। सर्ग की आदि में यह साक्षात्कार द्वारा गुहा मे निहित हुई प्रकट होती है इसलिए "गुहानिहितम्" कहा गया है।

१—पातंजल–योगदर्शन व्यासभाष्य १।४२

२—प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्। यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा ओकांसि चक्रिरे॥
ऋ० १। ४०। ५

३—बृहस्पते प्रथमं वाचोऽग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः १०। ७१। १

ब्राह्मी, सौरी, ससर्परीवाक् का सूर्यगृह्य से आना विश्वामित्रों का संज्ञायुक्त होना भी इसी प्रकार समाहित हो सकता है। यज्ञ में वाणी मंत्ररूप में बोली जाती है जिसका ब्रह्माण्डगत वाणी से सम्बन्ध होता है। सौरी वाक् वह है जो परा का अंश हो द्युलोक में स्थित है। अन्तरिक्ष मध्यमा का स्थान है। इस यज्ञ मे बोली गयी मन्त्रवाणी जो पश्यन्ती है जब तक ब्रह्माण्डगत परा से युक्त न हो तब तक यज्ञकर्त्ता चेतनाहीन और यज्ञ असफल है। अतः यज्ञ में उच्चरित वाणी का चूल द्युलोकस्थ वाणी में मिलना चाहिए। साम = सा + अम्—का भाव भी ऐसा ही है। इसलिए तीनों लोकों की वाणियों का तीनों सामों से भी साथ है। जमदग्नियों ने उस यज्ञ मे द्युलोकस्थ वाणी का अपने तपोबल और अध्यात्मबल से यज्ञवाणी के साथ समन्वय कर दिया—इस लिए विश्वामित्र लोग चेतनायुक्त हो गये। इससे यह समझना चाहिए कि यज्ञ के ऋत्विज पवित्र होने चाहिए। तभी यज्ञ सफल होता है। मैंने "देवीवाक्" लेख के सृष्टिप्रकरण सम्बन्धी भाग को छोड़ दिया है। उसपर बहुत सामग्री ब्राह्मणों में है जो फिर कभी।

२०

क्या वेदों का उपासनीय देव निश्चित नहीं ?

कई विपश्चितों ने ऐसा विचार प्रकट किया है कि वेदों में उपासना का प्रधान देव परमेश्वर निश्चित नहीं है। उनके विचार में आर्यो का सदा परमात्मा के विषय में संदेह रहा--इसीलिये उन्होंने सदा "कस्मै देवाय हविषा विधेम" का ही उच्चोर्नाद किया। यदि वे सन्देहरहित होते तो ऐसा वाक्य क्यों प्रयोग करते कि "हम किस देव की श्रद्धा से उपासना करें ?" यद्यपि यह वाक्य ऋग्वेद और यजुर्वेद के कई मंत्रो के अन्त में आया है और इसमें उनकी धारणा को स्थान वस्तुतः मिलता नहीं फिर भी बहुतों ने इस पर बहुत कुछ कह डाला है। दैवात् आर्यसमाज के संस्थापक आचार्य दयानन्द ने प्रार्थना के लिए कर्मकाण्ड में जिन मंत्रों का संग्रह किया, उनमे भी चार मंत्रो के अन्त में यह-"कस्मै देवाय हविषा विधेम" वाक्य प्रयुक्त है। वस्तुतः यदि वहाँ पर परमात्मा की पूर्ण प्रशस्ति और स्वरूप को बता देने के बाद भी अन्त में "किस देव की उपासना करें" ऐसे ही सन्देहात्मक वाक्य का प्रयोग किया जावे तो संदेह नहीं कि सब पर पानी फिर जाता है। ऋषि दयानन्द मंत्रद्रष्टा थे उन्हों ने इस शंका को उठने का अवकाश ही देना उचित नहीं समझा। आचार्य ने 'कस्मै देवाय" का अर्थ "सुखस्वरूप देव के लिए" किया। उनके इस प्रकार अर्थ करने के बाद भी आर्यसमाज के भी कई विद्वानों को यह सन्देह बना ही रहा और उन्हों ने इन स्थलों का, अपनी बुद्धिमत्ता दिखलाने के लिए, भिन्न प्रकार से अर्थ किया। वह इसलिए कि ऋषि के अर्थ में उन्हे सन्देह रहा और उनकी समझ में व्याकरण की दृष्टि से इसमें अशुद्धि है। क्योंकि सर्वनामपरक "कस्मै" का सुखस्वरूप अर्थ वे व्याकरण से संगत नहीं समझते। इन्होंने "कस्मै देवाय हविषा विधेम?" को अन्वय में पहले कर दिया और शेष मंत्र को बाद में डाल दिया। इससे संगति यह निकल ने लगी कि 'हम किस देव की उपासना करें ?' जो मंत्रोक्त गुणों वाला है। यहां पर आर्यसामाजिक विद्वानों का इस प्रकार का अर्थ करना ऋषि के अर्थ की एक प्रकार से अवहेलना है। यद्यपि कोई भी युक्त अर्थ करने में स्वतंत्र है परन्तु अर्थ करते समय ऋषि के अर्थ को दिखलाकर अन्त में उसे यह लिखना चाहिए था कि मंत्रार्थ इसका दूसरे प्रकार से भी हो सकता है। यहाँ पर नाम लेना उपयोगी नहीं परन्तु कई विद्वानों ने ऐसी चेष्टा की। वे यह भी कहते रहे कि स्वामी जी के मन्त्रार्थ में व्याकरण की दृष्टि से

कई अशुद्धियाँ हैं। उनकी दृष्टि में उन अशुद्धियों में स्यात् एक यह भी रही होगी। थोड़ा सा इस विषय में विचार करने पर पता चलेगा कि महर्षि दयानन्द का अर्थ बहुत ही युक्तिसंगत और प्राचीन और प्राचीन आर्ष-प्रक्रिया के अनुरूप है। जिसको लोग अशुद्धि समझते हैं—उसका भी उन्हें पूरा ध्यान था और उसे ध्यान में रखते हुए उन्होंने यह अर्थ सर्वथा उचित समझकर किया। "कस्मै" प्रयोग अर्थ की दृष्टि से 'क' पद का है। व्याकरण और रूप की दृष्टि से कहाँ तक ठीक है—इस पर बाद में विचार किया जावेगा। वैदिकसाहित्य में 'क' का अर्थ प्रजापति, परमेश्वर, सुख और जल है। ऐतरेयब्राह्मण ३। २१ में 'को वै नाम प्रजापतिः अर्थात् प्रजापति ही 'क' है-ऐसा बताया गया है। उसका यह 'क' नाम क्यों पड़ा इस पर ब्राह्मणकार कहता है कि प्रजापति ने कहा कि मैं कौन हूँ, (कोऽहम्) इसलिए उसका नाम 'क' पड़ गया। शतपथ ६। २। २। ५ में "को हि प्रजापतिः" कहा गया है। गोपथ ६। ३ में "को वै प्रजापतिः" अर्थात् प्रजापति ही 'क' हैं—ऐसा भाव दिखलाया गया है। ऐतरेय २। ३८, कौषीतकी ५। ४, २४। ताण्ड्य ७। ८। ३ शतपथ ६। ४। ३। ४; ७। ३। १। १। १ २०; तैत्तिरीय ? । २। ५। ५, जैमिनीय उपनिषद् ३। २। १०; गोपथ उत्तरार्ध १। २२ आदि स्थलों पर भी प्रजापति को 'क' ही कहा गया है। पुनः शतपथ २। ५। २। १३ पर ऐसा उल्लेख है—कि "काय एककपालः पुरोडाशो भवति" अर्थात् प्रजापति के लिए एक कपाल वाला पुरोडाश होता है। मैत्रायणी सं० १। १०। १० और काठक ३६। ५ में भी प्रजापति को "क" बतलाया गया है। इस प्रकार प्रजापति का परमात्मा अर्थ होने से "कस्मै देवाय" का अर्थ "परमेश्वर देव के लिये" होगा। 'क" का वर्णन करते हुये छान्दोग्योपनिषद् १०। ५ में ब्रह्मचारी उपकोशल को अग्नियों का उपदेश है "कं ब्रह्म ! खं ब्रह्मेति" यदेव खं तदेव कमिति अर्थात् 'क" भी ब्रह्म है और 'ख" भी ब्रह्म है। जो 'ख' है वही क' है। यहाँ पर भी 'क' और 'ख' ब्रह्म के नाम हैं। 'क' का अर्थ सुख और सुखस्वरूप भी होता है। ऋग्वेद १०। १२१। ५ स्थल पर 'नाकः' पद आया है। 'नाकः' पद की व्याख्या यास्क ने नि० २। १४ पर करते हुए लिखा है कि—कमिति सुखनाम तत्प्रतषिद्धं प्रतिषिध्यते। इसका अर्थ यह है कि "क" सुख अर्थ का वाचक है। उसका प्रतिषेध न + क = 'अकः' है और पुनः प्रतिषेध लगाने पर न + अकः "नाकः" बनता है। जिसका अर्थ 'द्यौः' अथवा स्वर्ग है। पुनः निरुक्त १०। २२ पर 'कः' पद की निरुक्ति दिखलाते हुए यास्काचार्य कहते हैं कि—कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा अर्थात् 'क' कमनीय, क्रमणीय और सुखकर है। 'क' का अर्थ प्रजापति सुख अथवा सुखकर सिद्ध हो जाने पर यह देखना चाहिए कि इस तथा इससे सम्बन्धी पदों का अन्य आचार्यों ने भी कहीं ऐसा अर्थ किया है या नहीं ! सर्वप्रथम आचार्य यास्क को लिया जा सकता है। उन्होंने 'क' का सुख और 'सुखकर' अर्थ क्रमशः निरुक्त २। १४ और १०। २२ पर किया है जो ऊपर दिखलाया गया है। यास्क 'कः' का अर्थ सुखरूप एवं सुखकर होता है- इस बात को दर्शाने के लिए ऋग्वेद १०। १२१। १ का "हिरण्यगर्भः

समवर्तताग्रे०" मन्त्र भी "तस्यैषा भवति" कहकर उद्धृत करते हैं। इससे ऋषि दयानन्द के अर्थ की पुष्टि होती है। क्योंकि यास्क भी इस मंत्र में आए "कस्मै" का अर्थ सुखस्वरूप ही मानता है। सायणाचार्य ने इस पद का अर्थ करते हुए लिखा है कि कस्मै अत्रकिम् शब्दोऽनिर्ज्ञात-स्वरूपत्वात् प्रजापतौ वर्त्तते। यद्वा सृष्ट्यर्थं कामयत इति कः। यद्वा। कं सुखम्। तद्रूपत्वात् क इत्युच्यते। यदाऽसौ किं शब्दः तदा सर्वनामत्वात् स्मैभावः सिद्धः। यदा तु यौगिकस्तदा तु व्यत्ययेनेति द्रष्टव्यम्॥ अर्थात् यहाँ पर 'किं' शब्द अनिर्ज्ञात स्वरूप होने से प्रजापति अर्थ में प्रयुक्त है। अथवा सृष्टि रचना की कामना करने के कारण वह 'क' है अथवा सुखार्थक है और उस स्वरूपवाला होने से सुखस्वरूप है। किं "शब्द से बनने पर सर्वनाम होने से 'स्मै' आदेश होगा परन्तु 'क' का रूप मानने पर व्यत्ययबल से 'कस्मै' प्रयोग बनेगा। यहाँ सायणाचार्य ने भी एक प्रकार से यास्क की ही बात दुहराया। यजुर्वेद २२। ३० पर "काय", 'कस्मै,' 'कतमस्मै' के अर्थ महीधर आदि ने भी क्रमशः--प्रजापतये, प्रजापतये और प्रजापतिश्रेष्ठाय--किया है। 'हिरण्यगर्भः" इस मन्त्र पर उवट कहता है कि "काय इति प्राप्ते कस्मै आदेशः छान्दसः। प्रजापतये देवाय। अर्थात् 'काय' ऐसा प्रयोग प्राप्त होने पर भी कस्मै प्रयोग छान्दस है और उसका अर्थ प्रजापति देव के लिए है। यजु० २५। १० मंत्र पर (जो हिरण्यगर्भ इत्यादि मन्त्र ही है) उवट और महीधर लिखते हैं 'कस्मै प्रजापतये' अत्र 'क' शब्दस्य सर्वनामत्वमार्षम्॥ अर्थात् 'क' शब्द का अर्थ प्रजापति है और सर्वनामता यहाँ पर आर्ष है। निरुक्त ५। ४। १४ पर यास्क के वाक्य की निवृत्ति करते हुए दुर्ग लिखते हैं कि प्रजापति का नाम 'क' है और प्रतीक में 'अपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन्' मन्त्र की प्रतीक देता है। यास्क के दूसरे स्थल पर पुनः वह लिखता है कि "कस्मै काय देवाय"। इति॥

इन आचार्यों ने यद्यपि सर्वनामताकी परवाह नहीं की अथवा सर्वनाम को छान्दस मानकर 'कस्मै' पद के अर्थ लगभग वही किये जो ऋषि दयानन्द ने किया है। क्या इससे यह कहा जा सकता है कि सभी को व्याकरण नहीं आता था, अथवा इनका अर्थ व्याकरण से अशुद्ध है। शायद ऐसा कहने का साहस कोई भी नहीं करेगा और करेगा भी तो वह व्यर्थ ही होगा। यहाँ यद्यपि आचार्यों ने सर्वनामता के विषय में अपने उत्तर दे दिये हैं परन्तु थोड़ा सा विचार इस विषय पर भी किया जाता है। 'किम्' शब्द सर्वनाम है। अतः उसका व्याकरण के नियमानुसार 'कस्मै' प्रयोग चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में बनेगा। परन्तु ऐसी परिस्थिति में प्रयोग सिद्ध होने पर उसका अर्थ सुखस्वरूप नहीं बन सकेगा। 'क' का रूप मानने पर सर्वनाम न होकर 'काय' प्रयोग बनेगा। ऐसा साधारणतया लोगों का विचार है। वस्तुतः यदि परंपरा देखी जावे तो 'सर्वनामता' की यहाँ पर कोई बाधा नहीं। 'बहुल' से यह सिद्ध हो सकता है कि सर्वनामता बनी रहने पर भी सुखस्वरूप अथवा प्रजापति अर्थ कस्मै का बन सकेगा। काशिकाकार स्वयं लिखता है कि "बहुलग्रहणं सर्वविधिव्यभिचारार्थम्॥ इसके अतिरिक्त "कस्येत्" अष्टाध्यायी

४। २। २५ सूत्र के भाष्य पर भाष्यकार 'कायं हविः' यह प्रयोग देखकर इस का विशद विवेचन कर निश्चय करते हैं कि सर्वनामता में कोई आपत्ति नहीं और इससे अर्थ में भी कोई आपत्ति नहीं। चर्चा यहाँ पर यह है कि 'कस्येत्' इस सूत्र में 'कस्य' प्रयोग 'किम्' के षष्ठी एकवचन का भी हो सकता है और 'क' के षष्ठी एकवचन का भी। दोनों में किसको माना जावे। भाष्यकार कहते हैं कि "सर्वस्य हि सर्वनाम संज्ञा क्रियते। सर्वश्च प्रजापतिः। प्रजापतिश्च कः। अतः सर्वनाम होने में कोई बाधा नहीं। भाष्यकार के आशय से 'क' के सर्वनाम होने पर भी कोई आपत्ति नहीं दिखलाई पड़ती है। इसे कैय्यट ने प्रदीप में बहुत पल्लवन किया है जो वहाँ पर ही देखना चाहिये। इसके अतिरिक्त यास्काचार्य ने निरुक्त परिशिष्ट में महानात्मा के भूतनामों का वर्णन करते हुए 'किम्' को भी उसका नाम माना है। ऐसा स्वीकार करने पर 'किम्' नाम परमेश्वर का ही ठहरेगा और सर्वनाम संज्ञा भी रहते हुए अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। जब महाभाष्यकार पतंजलि जैसे महावैयाकरण की सर्वनाम के विषय में यह धारणा है तो फिर दूसरों को कहने का अवसर ही कहां। क्या कोई यह कहने का साहस कर सकेगा कि महाभाष्यकार को भी व्याकरण नहीं आता था। यदि नहीं, तो फिर स्वामीजी महाराज का अर्थ सर्वथा व्याकरणसंगत है ही। इस प्रकार का अर्थ निश्चित हो जाने पर पुनः इस आधार पर उपासनीय देव को अनिश्चय का विषय नहीं कहा जा सकता॥

२१

वेदप्रतिपादित समाज की इकाई के योग्यतासूचक विभाग

अथवा

मानव - वर्णविभाग

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज की अटूट इकाई है। व्यक्ति ही समाज की इकाई होती है और वही समाज को निर्मित करती है। मनुष्य की इस व्यक्ति को व्यक्त करने वाला 'अहम्' पद है। इसका व्यवहार इस तथ्य को ही सूचित करता है। 'अहम्' का अर्थ 'अहन्' अर्थात् जो हना या काटा न जावे—है। यह मानव-व्यक्ति का 'द्योतक' 'अहम्' इस भाव का व्यंजक है कि मनुष्य-व्यक्ति समाज की वह यूनिट (इकाई) है जो पुनः बाँटी नहीं जा सकती। मनुष्य में समाजनिर्माण की योग्यता है अतः वही इस समाज का व्यक्ति रूप अंग भी हो सकता है। पशुओं के समूह को समाज न कहकर 'समज' कहा जाता है और मनुष्य के संघ को समाज कहा जाता है। कारण यह ही हैं कि मानवव्यक्ति समाज के प्रति कुछ कृतज्ञता और कुछ अधिकार दोनों ही रखती है। पशु में ये दोनों बातें नहीं हैं। इस कृतज्ञता और अधिकार के मिश्रण की भावना ने ही समाज के निर्माण की प्रेरणा दी है। राष्ट्र भी समाज का ही एक उदात्त रूप है—अन्य कुछ नहीं। कोई भी समाज एवं राष्ट्र अपने अङ्गों की योग्यता पर ही आधारित है। अंग यदि ठीक हैं तो अङ्गी चल सकेगा अन्यथा विश्लथ हो नष्ट भ्रष्ट हो जावेगा। वेद में और तत्सम्बन्धी साहित्य में समाज के इकाईभूत मानव को चार भागों में बाँटा गया है। यह विभाग पैतृकता के आधार पर नहीं अपितु इनकी योग्यता—अर्थात् गुण, कर्म, और स्वभाव के अनुसार है। वेद में समाज की कल्पना एक 'पुरुष' एवं विराट् पुरुष के रूप में मिलती है। इस पुरुष अर्थात् समाज के अङ्ग चार प्रकार के व्यक्ति कहे गये हैं। वे चारों अङ्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शब्दों से व्यवहृत हैं। किसी समाज को चार शक्तियों की आवश्यकता है—मस्तिष्क (Mind) बाहुबल=सैन्य (Military or Defence), वैश्य (Trader) और शूद्र (Labour)। इन चारों को बतलाने के लिए पूर्वोक्त चारों शब्दों का प्रयोग

है। यजुर्वेद ३१। १०—११[1] मंत्रों में इसका उल्लेख है। येही मंत्र ऋग्वेद १०। ९०। ११-१२ में आये हैं और अथर्व १९। ६। ५-६ में भी थोड़े पाठ-भेद से विद्यमान हैं। प्रथम यह प्रश्न उठाया गया है कि जिस विराट् पुरुष अर्थात् समाज की कल्पना की गई—उसका मुख क्या है, बाहु क्या है और उरु क्या है, तथा पांव क्या है, । दूसरे मंत्र में उत्तर दिया गया है—ब्राह्मण इसके मुख के रूप में हैं, क्षत्रिय बाहु, वैश्य उरु और शूद्र पाँव के सदृश है। जिस प्रकार शरीर में चारों अङ्ग आवश्यक हैं वैसे ही समाज में भी इन चारों की आवश्यकता है। शरीर में चारों ही अग अपने कार्यों की दृष्टि से उपयोगी हैं और समाज रूपी अङ्गी को भी इन चारों की आवश्यकता है। समाज में मस्तिष्क का कार्य करने वाले, फौजी-रक्षा करने वाले, व्यापारी और श्रमिक वर्ग—इन चारों की आवश्यकता है। जो लोग वर्णव्यवस्था नहीं मानते उनके यहाँ भी ये चारों भेद उपस्थित हैं। मनुष्य जब एक हैं तो ये चारों भेद कैसे उठे? इसका वेदों के सिद्धान्तानुसार यही उत्तर हो सकता है कि योग्यता-भेद से। वैदिक-ग्रन्थों के ऊहापोह से योग्यता के अर्थ गुण, कर्म और स्वभाव निकलते हैं। सृष्टि में मानव जन्म से छोटा बड़ा नहीं पैदा हुआ। उसमें भेद योग्यता से हुआ। क्योंकि सबकी योग्यता एक सी नहीं होती। ऋग्वेद ५। ६०। ५[2] में यह बतलाया गया है कि सर्गारम्भ में समयगत ज्येष्ठ और कनिष्ठ भाव से रहित, धन और ऊँच नीच की भावना से रहित युवा मनुष्य पैदा होते हैं। सब भाई-भाई से हैं और अपने-अपने अभ्युदय के लिये प्रयत्न करते हैं। अजर अमर परमेश्वर उनका पिता और पृथ्वी उनकी माता है—यह भावना उनके साथ है। मंत्र में सब से समानता का भाव है यह व्यक्त किया गया है। इस समानता के रहते हुए भी गुण, कर्म और स्वभाव से मानवों में पुनः समाज में भेद हो जाते हैं। ऐसा भेद क्यों? इसका समाधान भी ऋ० १०। ११७। ९[3] मे इस प्रकार किया गया है कि दोनों हाथ समान हैं लेकिन कार्य समान नहीं, एक ही गाय की दो संन्ताने समान दूध नहीं देतीं, एक माता से उत्पन्न युगल संतानों में भी समान बल नहीं होता, एक समाज के दो व्यक्तियों की योग्यता और देयशक्ति बराबर नहीं होती। इस प्रकार मनुष्य समान होते हुए भी योग्यता से भेद को प्राप्त हो जाते हैं। भेदकारण को एक

---

१. यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

२. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥

३. समौ चिद्धस्तौ न समं विवष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते। यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः॥

दूसरे स्थल पर ऋग्वेद में १ । ११३ । ६[1] मे दूसरे प्रकार से भी दिखलाया गया है। वहां पर ऐसा कहा है कि मनुष्यों में एक को राष्ट्र सम्बन्धी कार्य के लिए, एक के बड़े-बड़े यज्ञों और ज्ञानयज्ञों के लिए; एक को अर्थ के लिए और एक को चलने फिरने सेवा करने के लिए प्रवृत्त किया गया है । इससे स्थिति स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य में चार भेद क्यों हुए । वेदमंत्र ने सबकी शक्तियों का भेद बतलाते हुए, ज्ञान, रक्षण अर्थ, और श्रम की योग्यता के भेद से—ब्राह्मण आदि चार भेद मनुष्यों मे बताये हैं। इन्ही को चार वर्णका नाम दिया जाता है । यह वर्ण भी इस पूर्वोक्त योग्यता के अनुसार एक चुनाव मात्र है । योग्यता के अनुसार चुनकर श्रेणीबद्ध करना वर्ण बनाना है । ऋग्वेद मे मनुष्यों के भेद का एक प्रकार दूसरा भी मिलता है । ऋ० ८ । १ । १३ में "पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्, तथा ६ । ४ । ४३ में 'पाञ्चजन्यया विशा; और ९ । ६६ । २० में अग्नि को 'पाञ्चजन्यः पुरोहितः' कहा गया है । इस "पांचजन्य" शब्द के अर्थको लेकर आचार्य लोग मानव के पांच वर्ग करते हैं । इन वर्गों में भी पूर्वोक्त चारों वर्ण आते हैं पांचवा वर्ग वह है जो योग्यता से शून्य है और इस दृष्टि से उसका वर्गीकरण नहीं किया जा सकता । अर्थात् वह योग्यता की कोटि में नहीं आता । फिर भी उसे यज्ञ आदि करने का अधिकार है । इस 'पाञ्चजन्य' पद पर यास्क ३ । २ । २७ पर कहते हैं कि किन्हीं आचार्यों के मत में—गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस-ये पांचजन्य हैं । परन्तु औपमन्यव के मत में—चार वर्ण और पांचवां निषाद—ये पाञ्चजन्य हैं । यहां पर ऐसा ज्ञात होता है कि प्रथम भेद आश्रम के अनुसार और दूसरा वर्ण के अनुसार है । अन्य आचार्यों ने भी पाञ्चजन्य पद से यह औपमन्यव का ही अर्थ अधिकतर लिया है । कुछ भी हो, चार वर्ण गुण कर्म, स्वभाव से होते हैं । इसकी सिद्धि यहां भी है निषेध नहीं । इस वर्ण के निर्धारण की व्यवस्था राजसभा एवं संसद करती है । ऋग्वेद १० । १२५ । ५[3] में इसका वर्णन मिलता है । यह मंत्र वागम्भृणीय सूक्त का है । 'अम्भृण' शब्द का अर्थ है बहुत । अतः वागम्भृणीय से तात्पर्य बहुतों की वाणी अर्थात् सभा से है । मंत्र में सभा की उक्ति दिखलायी गयी है । सभा कहती है कि मैं जिसको चाहूँ उग्र-अर्थात् गुण कर्म, से ऊंचा बनाऊ और ब्राह्मण तथा ऋषि और विद्वान् की उपाधि दूँ । ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश में लिखा है कि वर्णव्यवस्था राजसभा द्वारा होनी चाहिए । यह वस्तुतः इस पूर्व मंत्र का ही भावार्थ है । वर्ण शब्द का अर्थ जाति नहीं-जैसा कि आज कल कुछ लोग

१. क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै ॥ विसदृशा जीविताभिप्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा ॥

२. गंधर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके । चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः ॥

३. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः । यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥

समझते हैं। वर्ण "योग्यताजनित" चुनाव, विशेषता, अथवा श्रेष्ठता का द्योतक है। ऋग्वेद ३। ३४। ९[1] और २। १२। ४[2] मंत्रों में वर्ण पद मिलता है। जिस से ज्ञात होता है कि यह औपाधिक है और जाति का सूचक नहीं। इन में जो पहले मंत्र मे "आर्यं वर्णम्" और दूसरे में "अधरं वर्णम्" पद आये हैं, इन में वर्ण पद से "जाति" का अर्थ निकलता नहीं दिखाई पड़ता। तात्पर्यतः यही कहना पड़ेगा कि वेदों मे मनुष्य में वर्णविभाग को गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार ही स्थापित किया गया है। अथर्व १२। १। १५ ऋग्वेद १। ७। ९ तथा अथर्व १२। १। ४२ में क्रमशः जो "पञ्च मानवाः" पञ्चक्षितीनाम्" और "पञ्च कृष्टयः" पद आये हैं-ये भी पूर्वोक्त 'पाञ्चजन्य' शब्द के अर्थ को को ही बताते हैं। वर्णसम्बन्धी भेदों को दिखलाते हुए यजुः १८। ४८[3] और अथर्व १९। ६२। १[4] में इन में तेज आने की प्रार्थना की गई है। समाज के ये प्रधान अङ्ग है अतः इनमें तेजस्विता का होना ठीक ही है अन्यथा समाज का कार्य चल ही कैसे सके। अथर्ववेद वाले मंत्र में इनके प्यारा बनने की प्रार्थना की गयी है। आज कल कई लोग शूद्र को अनार्य कहते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं। शूद्र भी आर्यों में ही है और वह चौथा वर्ण है। शूद्र शब्द का अर्थ कहीं कहीं पर अनाड़ी और चोर डाकू है। ऐसी स्थिति में वह अर्थ के भेद से शूद्र वर्ण से अन्यतर और आर्येतर अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और स्मृतियों को देखने से जो थोड़ासा भेद कहीं पर पड़ता है वह इस अर्थान्तर के ही कारण है। वेद के इस वर्ण भेद का ही समर्थन स्मृतियों और इतिहासग्रन्थों में भी मिलता है। यजुर्वेद ३१। ८ के "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" मंत्र के भाव को मनुने १०। ४५[5] में दर्शाते हुए इन्हे मुख, बाहु, उपज्ञ आदि शब्दों से व्यवहृत किया है। बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण की ११, १२; १३ कण्डिकाओं में वर्णों का उनकी क्रिया की उपयोगिता के आधार पर निर्माण बतलाया गया है। वहां लिखा है[6] कि सृष्टि के आरंभ में एक ब्राह्मण वर्ण ही था। वह अकेला समाज के व्यवहार को सिद्ध करने मे समर्थ न हुआ। उसने एक उत्तम वर्ण 'क्षत्रिय' को बनाया। जब दोनों से कार्य न चल सका तो वैश्य वर्ण को बनाया। तीनों के भी कार्य में असमर्थ होने पर फिर शूद्र वर्ण को बनाया।

१. ससानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम्। हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ॥

२. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाऽकः। श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमादद्र्यः पुष्टानि स जनास इंद्रः ॥

३. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥

४. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये ॥

५. मुखबाहूरुपज्ञानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे दस्यवः स्मृताः ॥

६. ब्रह्म वा इदमासीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत् क्षत्रम्......
स नैव व्यभवत् विशमसृजत्......स नैव व्यभवत् शौद्रं वर्णमसृजत् ॥

इस प्रकार समाज के उपयोगी अङ्ग चारों वर्णो की व्यवस्था की गयी। इस इतिहासपूर्ण प्रमाण का समर्थन महाभारत शान्तिपर्व अ० १८८[1] में किया गया है। महाभारतकार कहते हैं कि पहले एक ही वर्ण था परन्तु कार्य विभाग से चारों वर्णो की स्थापना हुई। बहुत ही नवीन साहित्य भागवत पु० स्क० ९। १४[2] मे इसी विषय को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया गया है। बतलाया गया है कि पहले वेद ही एक वाङ्मय, ओंकार ही एक जाप नारायण ही एक देव और विज्ञान का मुख्य अङ्ग एक अग्नि, और एक ही वर्ण था। इन वर्णो के बन जाने पर ये परस्पर छोटे बड़े की भावना का आखेट न बने इस लिये मनुने मनु० ९। २९७[3] में यह व्यवस्था दी कि 'उन उन कार्यों में वह अङ्ग बड़ा और श्रेष्ठ है जिससे जो कार्य सिद्ध होता है। यजुर्वेद ३०। ५[4] में पुनः इन वर्णो के कार्यों का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि 'उपदेश" मानवजाति की उन्नति के कार्य के लिये ब्राह्मण, क्षत्र के लिये क्षत्रिय और व्यापार के लिये वैश्य तथा तप अर्थात् श्रम के लिये शूद्र को नियुक्त किया गया है। इन वर्णो के कार्यों का योग्यता से भेद करने पर भी वेद में धर्मकृत्य यज्ञ आदि करने और वेद आदि के पढ़ने का विधान सबके लिये है। शूद्र को भी यज्ञ करने का अधिकार है। पाँचवाँ भेद निषाद भी यज्ञ कर सकता है। अर्थात् मनुष्यमात्र के लिये इन के करने का विधान है। ऋ० १०। ५३। ५[5] और यजु २६। २[6] में इसका वर्णन मिलता है। इस प्रकार वर्णविभाग के सिद्ध होने पर थोड़ा सा विचार इस विषय में फैली हुई वर्तमान भ्रान्ति पर भी करना है। वह भ्रान्ति यह है कि कई लोग इस वर्णभेद को गुण, कर्म, स्वभाव से न मानकर जन्म से ही मानते हैं। यद्यपि यह निश्चित है कि जिस वर्ण में जो पैदा हुआ है उसे उस वर्ण का बनने का अवसर अधिक प्राप्त है परन्तु वर्णविभाग मे जन्म की ही कारणता हो यह सिद्धान्त नहीं। वैदिक सिद्धान्त तो गुण, कर्म स्वभाव का ही है। पूर्वोक्त दिये गये प्रमाणों से इस पर पर्याप्त प्रकाश पड़ चुका है। जन्म से वर्ण व्यवस्था मानने वालों के सामने दो प्रश्न बड़े भयंकर खड़े हैं—पहला है कि कन्या का गोत्र-परिवर्तन विवाह के साथ क्यों हो जाता है और दूसरा यह कि धर्मपरिवर्तन के साथ वर्ण का परिवर्तन क्यों हो जाता है। यजुर्वेद ३१। ८ का "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" मंत्र भी इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। इस

१. एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर। कर्मक्रियाभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥

२. एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः। देवो नारायणो नान्य एकोऽग्निर्वर्ण एव च॥

३. तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते। येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते॥

४. ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्।

५. पञ्चजना मम होत्रं जुषन्ताम्।

६. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याम् शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥ यजुः २६। २।

मंत्र में ब्राह्मण के साथ "आसीत्" क्रिया लगी है। वह विराट् एवं परमेश्वर का मुख नहीं था अथवा मुख से नहीं पैदा हुआ बल्कि मुख के सदृश था। शतपथादि से ऐसा ही अर्थ लगता है। राजन्य के साथ "कृतः" क्रिया लगी है। शूद्र के साथ "अजायत" क्रिया है। 'आसीत्' और 'कृतः' समानार्थक मालूम पड़ते है। 'अजायत' पर ही विचार करना चाहिए। 'अजायत' कहने से तात्पर्य यह निकलता है कि पहले पैदा होने पर सब शूद्रवत् ही पैदा होते हैं पश्चात् गुण, कर्म स्वभाव के कारण क्षत्रिय ब्राह्मण और वैश्य आदि वर्णों में विभक्त होते हैं। यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि पूर्व प्रमाणों में ब्राह्मण को एक वर्ण कहा गया है—उसका कैसे समत्व होगा। इसका समाधान यह है कि वैसे तो अधिकतर प्रमाणों में एक वर्ण पद आया है जिसका इससे कोई विरोध नहीं। एक प्रमाण में ब्राह्मण वर्ण आया है जो अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों की उत्कृष्टता के कारण कहा गया है और यहाँ यजुः ३१।८ में वर्ण-व्यवस्था का साधारण सिद्धान्त निर्धारित किया गया है। जन्म से वर्ण-व्यवस्था मानने वाले एक युक्ति यह देते हैं कि ब्राह्मण और क्षत्रिय शब्द अपने प्रत्ययों से जात्यर्थ में सिद्ध हैं अतः जन्म से ही वर्णव्यवस्था होनी चाहिए। यहां थोड़ा सा इस पर विचार किया जाता हैं। "ब्राह्मण" पद को ही लीजिए। अष्टाध्यायी ६।४।१७१ सूत्र 'ब्राह्मोऽजातौ" के अनुसार 'ब्राह्म, शब्द अनपत्यार्थ मे निपातित है। यहां अजातौ कहने से यही तात्पर्य है कि जात्यर्थ में ब्राह्मण बनेगा। ऐसी स्थिति में "ब्रह्म" का अपत्य ब्राह्मण मानकर ब्रह्म शब्द से "तस्यापत्यम्" करके "अण्" प्रत्यय और 'अन्' भाग का अलोप मानकर ब्राह्मण शब्द बनेगा और यह जात्यर्थ मे होगा। इसका उत्तर यह है कि शब्द की सिद्धि कई प्रकारों से हो सकती है यहां का दिखलाया प्रकार ही वेद वर्णित वर्णसूचक ब्राह्मण पद में भी वर्ता जावे ऐसा कोई नियम नहीं। ब्रह्माधीते इति ब्राह्मणः ऐसा मानकर "तदधीते तद्वेद" अ० ४।२।५९ सूत्रसे। अण् करके भी सिद्ध किया जासकता है। अथवा 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः' ऐसा मानकर 'तदधीते तद्वेद' अ० ४।२।५९ सूत्र से अण् करके भी सिद्ध किया जासकता है। अथवा ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः' ऐसी व्युत्पत्ति कर के 'शेषे' अ० ४।२।९२ सूत्र से भी इस पद की सिद्धि हो सकती है। इसमें जात्यर्थ की कोई आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार 'क्षत्रिय' पद की सिद्धि 'क्षत्राद् घः' अ० ४।१।१३८ सूत्र से अपत्यार्थ में न करके, क्षतात् त्रायते ऐसा कर के "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" अ० ६।३।१०९ सूत्र से की जा सकती है। वैश्य शब्द स्वार्थ मे ष्यञ् करके बनाया जा सकता है। अमरकोष ब्राह्म वर्ग श्लोक ४, क्षत्र वर्ग और वैश्य वर्ग में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शब्द की सिद्धि इसी प्रकार से की है। कर्मसे वर्णव्यवस्थाकी पुष्टि भागवत ७ स्कन्ध के ११ वें अध्याय के ३५७[1] श्लोक से भी होती है। वहाँ कहा गया है कि जिस वर्ण के जो लक्षण कहे गये हैं वे यदि उनसे अतिरिक्त वर्णोंमें भी पाये जावें तो उन्हे भी वही वर्ण कहा जाना चाहिये।

---

१. यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यंजकम्। यदन्यत्रापि दृश्येत्तत्तेनैव विनिर्दिशेत्।

इस पर भाष्य करते हुए श्रीधर स्वामी ने भावार्थदीपिका,[१] वीरराघवाचार्य ने चन्द्रचन्द्रिका[२] और विश्वनाथ चक्रवर्तीने सारार्थप्रदर्शिनी[३]-टीकाओं में ऐसा ही स्वीकार किया है। इस तथ्य के स्वीकार करनेसे ही महाभारत और पुराणोंमें वर्णित वर्ण-परिवर्तनों की संगति लग सकती है। ऐसे वर्णनों से कि एक ही कुलमें चारों वर्ण के लोग हुए, पुराण भरे पड़े हैं। महाभारत शान्ति पर्व अ० २९६ श्लोक १४-१६ में लिखा है कि-पराशर ऋषि ने कहा-हे राजन् मेरे नाना ऋषि कश्यप, वेद, ताण्डव, कृप, कक्षीवान् कमठ, यवक्रीत, द्रौण, आयु, मातंग द्रुपद, मात्स्य, आदि बहुत से ऋषि नीच कुल मे उत्पन्न हुये थे तिसपर भी तप तथा वेदाध्ययन से वे श्रेष्ठता को प्राप्त हुये। वायु पुराण में ऐसा वर्णन मिलता है कि गृत्समद के पुत्र शुनक और उसके पुत्र शौनक के वंश में कर्मो के भेद से-ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चारों वर्ण पैदा हुये[४]। यही बात विष्णु पुराण[५] में दूसरे ढंग पर लिखी है, हरिवंशपुराण अ० २९[६] और अ० ३२[७] में भी इस घटना को दुहराया गया है। महाभारत अनुशासन अ० १४१ श्लोक ५०, ५१में गुण कर्म से वर्णव्यवस्था का अच्छा वर्णन है। महाभारत अनुशासन पर्व अ० २६६। १४ में भी ऐसा ही वर्णन है। वहाँ यह लिखा गया है कि ब्राह्मणत्व के कारण योनि, आदि नहीं अपितु आचार है। भविष्य पुराण में म० पु० अ० ४४। ३२ में[८] ऐसा वर्णित है कि शूद्र भी यदि ज्ञान सम्पन्न हो तो वह ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ है—आचारभ्रष्ट ब्राह्मण शूद्र से भी नीच है। भविष्य पुराण म० पु० ब्रा० अ० ४० श्लोक ३५[९] में निष्कर्ष निकालकर जन्मगत वर्णव्यवस्था को खण्डित कर दिया गया है। लिखा है कि गौ, और घोड़े के समान मनुष्य वर्णो में कोई जातिभेद नहीं। केवल कार्य और शक्ति के निमित्त से कृत्रिम संकेत-मात्र है। इस प्रकार इन प्रमाणों के आधार से भी यह सिद्ध

---

१. शमादिभिरेव ब्राह्मणादिः व्यवहारो मुख्यो न जातिमात्रादित्याह—यस्येति यदपि अन्यत्र वर्णान्तरेऽपि दृश्येत तद्वर्णान्तरं तेनैव लक्षणेन निमित्तेनैव वर्णेन विनिर्दिशेत्। न तज्जातिनिमित्तेनेत्यर्थः।

२. पूर्ववत् ही लिखा है।

३. किञ्च यस्य पुंसो वर्णमभिव्यंजयति यत् तच्च सामान्यतो विहितमेव शमदमादिकं यद्यन्यत्र जात्यन्तरेऽपि दृश्येत तज्जात्यन्तरमपि तेनैव ब्राह्मणादिशब्देनैव विनिर्दिशेत्॥

४. पुत्रो गृत्समदस्य च शुनको यस्य शौनकः। ब्राह्मणः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च। एतस्य वंशे संभूता विचित्रा कर्मभिर्द्विजा॥

५. गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्यप्रवर्त्तयिताऽभूत्।

६. पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकः। ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च॥

७. येते ह्यांगिरसः पुत्रा जाता वंशेऽभार्गवे। ब्राह्मणा क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्च भरतर्षभ॥

८. शूद्रोऽपि ज्ञानसंपन्नो ब्राह्मणादधिको भवेत्। ब्राह्मणो विगताचारः शूद्रात्प्रत्यवरो भवेत्॥

९. तस्मान्न गोऽश्ववत् कश्चित् जातिभेदोऽस्ति देहिनाम्। कार्यशक्तिनिमित्तस्तु संकेतः कृत्रिमो भवेत्॥

है कि वर्णनिर्माण में गुण, कर्म, स्वभाव कारण हैं--जन्म नहीं। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि विश्वामित्र आदि तप से ऋषि तो बन गये परन्तु उन्हे कहीं ब्राह्मणसूचक शब्द से संबोधित नहीं किया गया है। उत्तर में मैं ऐसे प्रमाण रखता हूँ जिन में विश्वामित्र को ऋषि, मुनि, ब्राह्मण, ब्रह्मर्षि, और विप्रेन्द्र तथा परमर्षि कहा गया है। वाल्मीकिरामायण बालकाण्ड १९। ३९ में महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः", ४२ वें श्लोक में 'विश्वामित्रमृषिम्' श्लोक ५३ में पात्रभूतोऽसि मे ब्रह्मन्", ५६ वें श्लोक मे 'ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः' ५५ वें श्लोक में विप्रेन्द्र, ६० में "परमऋषिः परमं जगाम हर्षम्" इत्यादि वाक्यों का प्रयोग हुआ है। न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्य ४। १। ५९[1] में शतपथ १। ७। २। १ के 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः त्रिभिऋर्णैऋर्णवान् जायते' इत्यादि वाक्यों से पैदा होते ब्राह्मण में तीन ऋणों का होना और उनकी उदायगी असंभव है क्योंकि उसमें शक्त को ही उस कर्म का अधिकार है, अतः वात्स्यायन ने 'जायमान' का अर्थ 'संपद्यमान' और ब्राह्मण का अर्थ 'गृहस्थ' कर लिया। वात्स्यायन का यह भाव इस बात का प्रमाण है कि जिस कर्म के करने की जिसमें सामर्थ्य हो उसी को उसका अधिकार है। तो फिर जन्म से वर्ण मानने पर वर्णो के कर्मोकी समर्थता को तो ध्यानमें रखना ही चाहिये। जब तक गुण, कर्म, स्वभाव नहीं तब तक जन्म से होने वाले ब्राह्मण आदि वर्ण किस प्रकार अपने कर्मो को पूरा कर सकेंगे। यजुर्वेद की मैत्रायणी शाखा ४। ८। १[2] और काठक ३०। १ में बहुत स्पष्ट शब्दों में इसी लिये वर्णव्यवस्था का गुण-कर्मानुसार प्रतिपादन किया गया मिलता है। वहाँ वर्णन किया है कि 'ब्राह्मण के माता, पिता को मत पूछो, श्रुत ही इसका पिता और पितामह है। ऋग्वेद ९। ११२। ३[3] में यह बतलाया गया है कि एक ही कुल में वर्णानुसार भिन्न-भिन्न कार्य करने वाले रह सकते हैं। निरुक्त में इस मंत्र का अर्थ देते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि "मैं कारीगर हूँ, मेरा पिता वैद्य है, मेरी माता चक्की पीसती है—इस प्रकार भिन्न-भिन्न ज्ञान और योग्यतावाले हम गौवों की भांति मिलकर रहते हैं। वर्णव्यवस्था के गुणकर्मस्वभावानुसार होने का इससे स्पष्ट वर्णन और क्या हो सकता है। आजकल आदिवासी जाति की धारा चलाने वाले यह कहते हैं कि आर्यों से पहले एक जाति यहां विद्यमान थी और आर्यो ने उन्हें पराजित कर उनकी संस्कृति को नष्ट किया। यह वस्तुतः इन लोगों की कल्पना-मात्र है। आज जिनको मूलनिवासी कहा जाता है वे भी आर्यों में से ही हैं। धर्म आचार आदि के गिर जाने ने से वे दलित हो गये। विपक्षी लोग ऋग्वेद

---

१. जायमान इति गुणशब्दो विपर्ययेऽनधिकारात्। जायमानो ह ब्राह्मण इति शब्दो—गृहस्थः संपद्यमानो जायमान इति। यदा अयं गृहस्थो जायते तदा कर्मभिरधिक्रियते। मातृतो जायमानस्यानधिकारात्। यदा तु मातृतो जायते कुमारो न तदा कर्मभिरधिक्रियते अर्थिनः शक्तस्य चाधिकारात्॥

२. किमु ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम्। श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः।

३. कारुरहं ततो भिषक् उपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥

३ । ३ । २१[1] मंत्र को उपस्थित कर कहते हैं कि कीकट देश विहार में प्रमगन्द नाम का राजा था, जिसके धन के हरण करने की आर्यों ने इस मंत्र में प्रार्थना की है। ऋग्वेदिक इण्डिया के लेखक ने भी इस मंत्र के देकर ऐसा ही भाव व्यक्त किया है। परन्तु यह इनकी थोथी कल्पना है। कीकट का अर्थ यास्क के अनुसार उनसे है जो कर्मविहीन हैं। प्रमगन्द सूदखोर के कहते हैं। जहां गाय आदि के दूध का यज्ञादि कार्यों में व्यवहार न हो और सबकुछ निकम्मा पड़ा हो, तथा जो सूदखोर हो उसके धन के हरने की बात कही गयी है। यहां किसी इतिहास की व्यक्ति का वर्णन नहीं। ये पहाड़ी बनवासी आदि जातियां आर्यों में से ही हैं, ऐसा एतरेय ७ । १९[2] में वर्णन किया गया है। भागवत ९ । १६ । ३३ और विष्णुपुराण ४ । ३ । २३-२६ में भी ऐसा ही वर्णित है। मनु ने १० । ४३-४४[3] में भी इन जातियों को क्षत्रियों से पृथक् हुई माना है। ये धर्मोपदेश न मिलने से पथभ्रष्ट हो गयीं। महाभारत शा० प० अ० ६५ । १३-१४[4] में औण्ड्र पुलिन्द आदि को चारों वर्णों से ही पैदा हुई माना है। स्वभाव का अर्थ कई लोग जन्मगत स्वभाव मानते हैं, यह गलत है। स्वभाव से अभिप्रेत है अभ्यस्त एवं कल्चर्ड होना। अर्थात् गुण, कर्म, स्वभाव जिनमें जीवन के अङ्ग बन गये हों और वैसा ही वे स्वभाव मे दाखिल हो गये हों, वे ही अपने गुणों और कर्म से वर्ण बन सकते हैं। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का ऊँचा स्वरूप वेद में मिलता है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' में चारों वर्णों की जो उपमा चार अङ्गों से दी गई है, वह भी वैज्ञानिक है। क्षत्रिय को बाहु कहा गया है। आज भी आर्मी (Army) शब्द उसी का द्योतक है। ये चारों वर्ण समाज में किस प्रकार जगमगाते हुए हों, इसका प्रशस्त वर्णन ऋग्वेद ६ । ५० । २[5] मे मिलता है। वहां दिखलाया गया है कि द्विजन्माओं को नियमबद्ध, सत्यशील, सुखयुक्त, यज्ञशील और तेजस्वी वाणी वाला होना चाहिए। यह है वैदिक वर्णव्यवस्था अर्थात् मानव समाज की इकाई का वैदिक स्वरूप।

---

१. किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्। आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचशाखं मघवन्रन्धया नः ॥

२. ताननु व्याजहार अन्तान् वः प्रजा भक्षीष्टेत त एतेंध्रा पुण्ड्राः शवराः पुलिंदा मूतिबा उदन्त्या बहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः ॥

३. शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः । वृषलत्वं गताः लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः । पारदाः पहलवाश्चीनाः किराता दरदा खशाः ॥

४. यवनाः किराताः गन्धाराश्चीना शवरबरबराः । शकास्तुषारा कंकाश्च पल्हवाश्चान्द्रमन्द्रकाः ॥
चौद्रा पुलिन्दा रमठा काम्बोजाश्चैव सर्वशः । ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥

५. द्विजन्मानो य ऋतसाताः सत्याः स्वर्वन्तः । यजता अग्निजिह्वाः ॥

२२

वेदमें शक्ति के तीन आवश्यक अङ्ग

भारतीय वाङ्मय के अनुसार शक्ति का विभाजन तीन शीर्षकों से किया जा सकता है— मन्त्रशक्ति, यन्त्रशक्ति और तन्त्रशक्ति। मंत्र शब्द से आज कल जो अर्थ साधारणतया झाड़ फूंक करने वाले लोग लेते हैं वह भारतीय प्राचीन वैज्ञानिकों को अभिप्रेत नहीं। वे वायु, जल, अग्नि आदि पदार्थों के स्तम्भन की युक्ति से उत्पन्न शक्ति को मंत्र मानते हैं। यन्त्रशक्ति मशीनों से उत्पन्न की जाती है। तीसरी शक्ति तन्त्र नाम से कही जाती है जो मनुष्यों और पशुओं के संघात एवं संघटन से उत्पन्न होती है। तीनों ही शक्तियां वस्तुतः यदि देखा जावे तो संघटनों और संघों की परिणाम हैं। सभी में संघक्रिया का समावेश है। इसलिये संघशक्ति की महत्ता मानी जाती है। शक्ति वस्तुतः है ही संघ में। वर्तमान जगत् संघशक्ति का उपासक है। राष्ट्र जो कि मनुष्य का एक महान् संघटन अथवा मनुष्य समाज का विराट् रूप है, उसको तंत्र भी इसी लिए कहा जाता है कि वह मनुष्यों का एक संघ है। पशु भी राष्ट्र के लिए उपयोगी हैं परन्तु पशु और मानव के संघों में अन्तर है। मनुष्य के संघ या समाज में अधिकार और कर्तव्य का संमिश्रण है परन्तु पशु के समाज में यह बात नहीं पायी जाती। यही प्रधान कारण है कि मानव के संघ को समाज और पशु के संघ को समज कहा जाता है। ऊपर कहे गयें तन्त्र में दो वस्तुयें सम्मिलित मानी जाती हैं ओज और बल। ओज को वैदिक साहित्य बहुधा ज्ञान के ओज के रूप में मानता है। बल मे वैदिक वाङ्मय संपत्ति, कीर्ति और सहन-शक्ति को सम्मिलित करता है। ऐसी तात्विक विशेषता शायद ही कहीं मिले कि जिसमें बलमे सहन–शक्ति को भी गिन लिया गया हो। बल किसी काम का नहीं रह जाता है यदि उसमें सहनशक्ति न हो। यदि सहन—शक्ति न हो तो बल केवल क्रोध का प्रयोग स्थान ही रह जाता है, बलवान् पुरुष अपने बल पर से झटिति क्षीण हो जाता है। तन्त्र एवं राष्ट्र इस बल से पूर्ण संघ शक्ति का नाम है तंत्र की इन दो शक्तियों को ही व्यावहारिक रूप में उसकी इकाइयों की योग्यता अर्थात् गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार चार विभागों में विभाजित कर दिया गया है। वे चार विभाग हैं—ज्ञान, रक्षा, व्यापार और श्रम। शक्ति का इससे उत्तम और कोई विभाग नहीं हो सकता है। शक्ति का आधार–श्रोत ज्ञान, रक्षा (Defence) व्यापार तथा श्रम है। चेतन प्राणियों के संघ से होने वाली शक्ति इन चारों प्रकारों में ही जा सकती है। ये ही किसी राष्ट्र अथवा समाज की रीढ़ भी हैं जिन पर उसका सारा शरीर खड़ा है। आर्यों की सामाजिक व्यवस्था और राष्ट्रीय व्यवस्था इन्हीं पर आधारित मानी गयी है। प्रत्येक मानव के शरीर में ये चारों शक्तियाँ हैं और मानव से बने समाज और राष्ट्र में भी ये चारों ही विद्यमान हैं। इन शक्तियों के पुंज संघ के

निर्माण में भी कुछ शक्ति-अङ्ग कार्य करते हैं। इन अंगों को हम वेद के सिद्धान्तानुसार तीन भागों में बांट सकते हैं। उक्ति, कृति और विचार। ये तीन अंग हैं जो हमें समाजनिर्माण के मूल में मिलते हैं। संघशक्ति के सर्जन में समानोक्ति, समानकर्म, समान-विचार परमावश्यक हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हमें इस परिणाम पर पहुँचाता है कि मनुष्य अपने विचारों की उपज है। जैसा वह वाणी से बोलता है वैसा करता है और जैसा विचारता है वैसा ही बोलता है। जैसा कर्म करता है वैसा ही वह बनता है। इसी आधार पर यह भी निश्चित है कि समाज के अंग जैसा मिलकर विचारेंगे वसा बोलेंगे, जैसा बोलेंगे वैसा करेंगे और जैसा करेंगे वैसा ही समाज बनेगा। यह उक्ति यहां पर ठीक ही है कि—यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति यत्कर्मणा करोति तदभिसंपद्यते। भर्तृहरि ने भी उच्चमानव का लक्षण इसी ढंग पर किया है—मनस्येक वचस्येकं। कर्मण्येकस्महात्मनाम्—अर्थात् जिनके मन, वचन और कर्म में एकता हो वे ही उच्च मनुष्य हैं।

मानव शरीर में मस्तिष्क, हृदय और वाणी का जबतक सर्वथा समन्वय रहता है तब तक मानव, मानव बना रहता है। जब यह संतुलन विगड़ जाता है तब वह मानवता से च्युत हो जाता है। मानव शरीर में हो अथवा विश्व मे कहीं भी ये तीनो वस्तुयें किसी न किसी रूप में आन्तरिक नियम पर चल रही हैं। इन तीनों वेगों का आधार 'ऋत' अर्थात् अन्तरिक सत्य-भूत नियम है। 'ऋत' को जब हम सत्य शब्द से प्रयोग करते हैं तब उसमें भी तीनों बातें मिलती हैं। सत्य ज्ञान भी है, सत्य वाणी भी है और सत्य कर्म भी है। ऋग्वेद ने "संगच्छध्वम्" "संवदध्वम्" और "सं वो मनांसि जानताम्" इन सूत्रों से इसे प्रगट किया है। इन सूत्रों का अनुसरण कर संघ में जब तीनों पूर्वोक्त शक्तियों का संचालन होता है तब फल रूप में तीन वस्तुयें प्राप्त होती हैं। वे हैं-यथार्थ मति, यथार्थ-उक्ति और यथार्थ गति। इन्हीं को वेदों में कहीं कहीं पर 'इडा' सरस्वती और भारती कहा गया है। संघ एवं राष्ट्र में इन तीनों शक्तियों में से एक प्रजा को तृप्त करती है, दूसरी बल को बढ़ाती है और तीसरी राष्ट्र की रक्षा करती है। परन्तु ये शक्तियां उस राष्ट्र में आती हैं जो देवों का संगठन हो। देव मनुष्य के संघ में ही ये तीनों चीज़ें पल्लवित हो सकती है, अदेव राष्ट्र मे नहीं। राष्ट्र एकता का प्रतीक है। एकता का परम केन्द्र परमेश्वर है। उस महान् एकता वाले को आदर्श में रखते हुए ही मनुष्य की गति, उक्ति और मति में एकता हो सकती है। अथर्ववेद ८।६।१३ में इस तथ्य का उद्घाटन इस रूप में किया गया है—ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनुरेत आगुः। प्रजामेका जिन्वति ऊर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्॥ अर्थात् परमेश्वर रूपी आदर्श के मार्ग पर तीन शक्तियां चल रही हैं, उनके बोज उनके अनुरूप चलते हैं। एक प्रजा को तृप्त करती है और दूसरी बल को बढ़ाती और तीसरी राष्ट्र की रक्षा करती है। वेद ने संघशक्ति की इस प्रकार से महिमा दिखलायी है। वस्तुतः समाज का संघटन इसी पर चल सकता है कि इन अगों का पूरा पालन हो।

२३

वैराग्य-भावना का अनुपम सिद्धान्त

वेद परम प्रभु का कल्याणमय उपदेश है। इस में मनुष्य के कल्याण की सभी बातों का सन्निवेश परम कारुणिक भगवान् ने किया है। जहां अनेक प्रकार के ज्ञान, विज्ञान और सांसारिक अभ्युदयों का उस में उपदेश है, वहां संसार से विरक्ति प्राप्ति कर परम शान्ति के प्राप्ति रूप निश्रेयस और उस के साधनों का भी परमेश्वर ने वेद में स्पष्ट उपदेश दिया है। योग और वैराग्य आदि की भावनायें वेद से ही समुद्भुत हुई हैं। मनुष्य को संसार में निरन्तर लिप्त रहते हुए जहां घोर अशान्ति आकर मार्ग में उस के सामने खड़ी हो जाती है, वहीं वह शान्ति के विषय में विचार करने को तत्पर होने लगता है। यही कारण है कि संसार की घोरतम अशान्त घटनावों ने कई महापुरुषों के चित्त को संसार से विचलित कर योग की तरफ झुका दिया। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। योग वास्तव मे है क्या? और है क्या तत्वतः भोग?। हमारे शरीर में विराजमान आत्मा जब इन्द्रियरूपी द्वारों से बाहर की दुनियां को देखता और उस में राग या द्वेषयुक्त होता है तो उस अवस्था का नाम भोग है और जब वह इन द्वारों की अपेक्षा छोड़ कर बाहर के विश्व प्रपंच से हट कर अपने में अन्तर्मुख होता है तो उस अवस्था को योग कहते हैं। परन्तु यह योग की अवस्था का वर्णन जितना सरल है, उस की प्राप्ति उतनी ही कठिन है। निरन्तर भोगैश्वर्य में पड़ा हुआ मनुष्य भोगों से ऊपर नहीं उठ पाता। वह अपने योगक्षेम की पूर्त्ति में ही सन्तुष्ट रहता है। इन्द्रियारामता उसे इस सीमा से बाहर जाने नहीं देती। वास्तव में ये इन्द्रियां हैं भी विचित्र ही! इन से जहां अच्छाइयां प्राप्त हैं वहां बुराइयों की जड़ भी यही हैं। इन की विषयोद्दामता को शान्त करना बड़ा ही कठिन कार्य है। जितना ही ये भोगों मे पड़ती हैं, इनकी इच्छा तीव्र होती जाती है। अग्नि में घृत डालने पर वह जिस प्रकार तीव्र होता जाता है, उसी प्रकार विषयों के भोग से इन की विषयगर्द्धा बढ़ती जाती है। विषय-भोग से कभी इन की तृप्ति नहीं होती। समय बीतता जाता है और इन की इच्छा बढ़ती जाती है। इन्द्रियों को प्रथम विषय के प्रति काम होता है। उस की पूर्त्ति होने पर पुनः अनुराग होता है और वह बढ़ कर तृष्णा का रूप धारण कर लेता है। तृष्णा कभी शान्त नहीं होती जब तक कि समुचित प्रतीकारोपाय न वर्ता जावे। इसी लिये कहना पड़ता है कि हम वृद्ध हो गये परन्तु तृष्णा जीर्ण नहीं हुई। अंग ढ़ीले हो जाते हैं, मुख दांतों से रहित और शरीर जर्जरित हो जाता है परन्तु तृष्णा प्रबल ही बनी रहती है। यह मनुष्य को चैन नहीं लेने देती। इन्द्रियां सदा इस के बहाव में बहती रहती हैं। मन सदा इन्हें लिये हुए इस में बहता रहता है। मनुष्य इस की पूर्त्ति के लिये बेचैन रहता है परन्तु यह पूरी नहीं होती है।

वेद इस तृष्णा की निवृत्ति का उपदेश देता है। क्योंकि तृष्णा की पूर्त्ति होना तो कभी सम्भव नहीं, उस की निवृत्ति ही की जा सकती है। उस की निवृत्ति के साधन को ही दार्शनिक परिभाषा में वैराग्य या निर्वेद कहा जाता है। वैराग्य क्या है? मन और इन्द्रियों के विषयानुराग को रोकना। इन की विषयों की तरफ जो अनुरक्तता है उसे रोकना और विरक्तता की भावना पैदा करना। मन और इन्द्रियों को जो राग विषयों में है उस राग को हटाना ही वैराग्य है। वह राग के विपरीत विराग, तृष्णा के विपरीत वितृष्णा की भावना का द्रढीभूत करना है। हमारी इन्द्रियां शत्रु और मित्र दोनो ही हैं। उन को निरर्गल बना रखने पर वे शत्रु हैं और उन पर विजय रखने पर वे ही मित्र बन जाती हैं। इस लिये उन्हें भोग की विपरीत भावना से सदा वश में रखने का प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य को जिन विषयों से अनुराग अथवा राग है वे दो प्रकार के हैं। एक दृष्ट जो इस दृश्य संसार के विविध भोग साधन हैं और दूसरे जो दूसरे जन्म में मिलने वाले उत्तम जन्म सुख आदि हैं, जिन्हें आनुश्राविक कहा जाता है। इसी दूसरी कोटि में वे लोग भी आते हैं जो विदेह तो हो गये हैं परन्तु प्रकृति से पार नहीं गये हैं। इन दोनों प्रकार के विषयों की इच्छा से मनुष्य संसार में प्रवृत्त होता हुआ अनुरक्त होता है। उस की इन्द्रियां और मन इन में सराग होते हैं। इन विषयों के भंगुरत्व, तापमयत्व आदि परिणामों को देख कर इन्द्रियों को और मन को इन से हटाना चाहिये। यह इन इन्द्रियों आदि के प्रवाह को ज्ञान के साथ उलटा फेर देने पर होता है। जिन में राग है उन में राग न होने देना इस ओर बढ़ने का प्रकार है। यह विरक्तता ही दृढ़ हो जाने पर वैराग्य के उदात्त रूप को धारण कर लेती है। अथर्व १६। ७। ५ का यह मन्त्र इस दिशा में अच्छा मार्ग-दर्शन कराता है।

> इमानि यानि पंचेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
> यैरेव ससृजे घोरं, तैरेव शान्तिरस्तु नः॥

अर्थात् हमारे हृदय में छठे मन के साथ जो यह पांच इन्द्रियें हैं, ये परमेश्वर द्वारा अपने कर्मों में अत्यन्त तीक्ष्ण बनाई गई हैं। जिन इन इन्द्रियों ने संसारी विषय भोगों से हमारे लिये घोर अशान्ति उत्पन्न कर दी है, इन्हीं के द्वारा हमें शान्ति भी प्राप्त हो। मन्त्र बहुत ही स्पष्ट रूप में बतला रहा है कि इन्द्रियों से जो अशान्ति उन के विषय-गर्द्धा के कारण होती है उस की निवृत्ति और शान्ति भी उन्हीं से प्राप्त की जावे। तात्पर्यतः इन्द्रियों द्वारा होने वाले विषयानुराग से अशान्ति होती है परन्तु जब उन के द्वारा विषय-विराग का पथ ग्रहण कर लिया जाता है, तब शान्ति की प्राप्ति होती है। अतः वेद का यह मन्त्र एक प्रशस्त मार्ग हमें दिखलाता है। वह यह कि हम इन्द्रियों और मन को राग के पथ से हटा कर विरक्तता के पथ पर ले चलें। इसी में शान्ति निहित है। राग के कारणों को ही विराग की भावनाओं से ओत-प्रोत करना वैराग्य है। इस प्रकार वेद हमारे समक्ष कितना उत्तम वैराग्य-मार्ग उपस्थित करता है। इस मार्ग के अनुसरण में ही कल्याण है।

२४

परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव

परमामतमतत्व का विचार करते समय उसके गुणों पर विशेष विचार करना पड़ता है। गुणों के विचार से ही गुणी का विचार हो सकता है। ऋषि दयानन्द ने परमात्मतत्व की प्रत्यक्षता के इसी आधार पर सिद्ध किया है और वैशेषिक तथा न्याय के प्रत्यक्ष-लक्षण के द्वारा ही परमेश्वर को भी प्रत्यक्ष सिद्ध किया है। परमेश्वर की क्रिया का फल और उस के गुणों की महत्ता का संसार का प्रत्येक पदार्थ दिग्दर्शन करा रहा हैं—अतः वह एक प्रत्यक्ष सत्य ही है। वेद में हमें परमेश्वर के अनेक गुणों का वर्णन मिलाता है। ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में परमात्मा के जिन गुणों का वर्णन किया है वे वस्तुतः वेदादि सत्य शास्त्रों से ही लेकर संगृहीत किये गये हैं। परमात्मा के कुछ प्रसिद्ध गुणों का दिग्दर्शन हमें सामवेद के इस मन्त्र से मिलता है। मन्त्र इस प्रकार है:—अध त्विषीमाँ अभ्योजसा क्रविं युधा भवदारे।दसी अपृणदस्य प्रवावृधे। अधत्तान्यं जठरे प्रेमरिच्यत प्रचेतय सैनम् सश्चदेवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम्॥ सा० उ० १३। ६। अन्तिम मन्त्र॥ इस मन्त्र के क्रमशः सात वाक्य बनते हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं—१ वह स्वयंप्रकाश है तथा अपने तेजों से समस्त तेजों को दबाने वाला है। २ अपनी व्यापकता से संसार के समस्त लोकों को पूर्ण कर रहा है। ३—बलमें सब से बढ़ा हुआ है। ४ प्रकृति और जीवों को अपने अन्दर धारण करता है। ५—धारण करते हुए भी इनसे पृथक्-अतिरिक्त रहता है। ६—सबको सर्वथा जानता है। ७—अविनाशी जीव को शरीर के साथ युक्त करता है॥ इसका दार्शनिक प्रक्रिया के अनुसार संक्षेप कर परमेश्वर में निम्न गुण, कर्म स्वभाव की कल्पना की गयी। पहले वाक्य के अर्थ का संक्षेप कर "स्वयंप्रकाश" शब्द को स्थान दिया गया। दूसरे से "सर्वव्यापक' तीसरे से सर्वशक्तिमान्, चौथे से सर्वाधार और पांचवें से निर्लेप. निर्विकार. अजन्मा आदि का भाव निकाला गया। छठें वाक्य से 'सर्वज्ञ' और सातवें से सृष्टि-कर्त्ता तथा कर्मफलप्रदाता एवं न्यायकारी का अर्थ ग्रहण हुआ। इस प्रकार परमेश्वर स्वयंप्रकाश, सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, निर्लेप. निर्विकार, अजन्मा, सर्वज्ञ, सृष्टिकर्त्ता और न्यायकारी है— यह भाव इस वेद मन्त्र का निकलता है। इन गुणों का पल्लवन कर के ही परमात्मा के भिन्न भिन्न कर्म और स्वभाव का हमें दर्शनों में वर्णन दृष्टिगोचर होता है। इस मन्त्र के साथ यदि ऋग्वेद के दो मन्त्रों को भी मिला दिया जावे तो परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव में और भी व्यापकता आ जाती है। वे मन्त्र हैं—'तिस्रोवाच ईरयति प्रवह्निः ऋतस्य धीतिम् ब्रह्मणो मनीषां। गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावसानाः॥ तथा-ऋतस्य गोपा

न दभाय सुक्रतुस्त्रीः पवित्रा हृद्यन्तरा दधे । ९-९७-३४ / ९-७३-८ इत्यादि । इन का क्रमशः भाव यह है कि ऋग्, यजु, साम, रूपी तीनों वाणियें अर्थात् चारों वेदों की प्रेरणा परमात्मा करता है । ये वाणियें सृष्टि के नियम और समस्त ब्रह्माण्ड के ज्ञान हैं । इन की शब्दमयी वाणियां तो वाणी के पालक विद्वान् को प्राप्त होती हैं परन्तु ज्ञान मनन करने वाले मनस्वी मुनि को मिलता है । परमेश्वर वस्तुतः संसार जिन नियमो पर नियन्त्रित है उनका पालक है । उसमें जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने के तीन कर्म विद्यमान हैं और उसे कोई दबा नहीं सकता । इन मन्त्रों से परमात्मतत्व के कुछ कर्म और बढ़ गये । वेद का प्रकाश करना, संसार के समस्त नियमों का संचालन करना और जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय बिना किसी की सहायता के करना आदि कर्म भी परमेश्वर के हैं । यदि इस के साथ अथर्ववेद के इस मन्त्र–अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः । तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् १० । ८ । ४४ ॥ को भी जोड़ देने पर लगभग वे सभी गुण परमात्मा के पूरे हो जाते हैं जो श्री स्वामी जी महाराज ने अपने द्वारा निर्मित आर्य समाज के द्वितीय नियम में दिये हैं । इस मन्त्र में अकाम, धीर, अमृत, स्वयम्भू, रससे तृप्त, अन्यून, अजर युवा आदि विशेषण आये हैं । जिन के अर्थ क्रमशः आप्त काम, अकुतोभय, अनादि, अनन्त, अकार्य–नित्य, आनन्दस्वरूप, पूर्ण, अजर और एकरस होते हैं । इन सारे पूर्वकथित विशेषणो को परमात्मा में घटता देख कर उस के भिन्न भिन्न तदाशयी धर्मों का प्रतिपादन दार्शनिकों ने किया है । प्रत्येक आर्य विद्वान् को परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृति के विषय में दार्शनिकों के दिखलाये मार्ग से विचार करते समय वेद को ध्यान में रखना चाहियें क्योंकि वह "ऋतस्य धीतिः, ब्रह्मणो मनीषा" है और परमेश्वर 'ऋतस्य गोपा' है । बिना ऐसा किये केवल किसी दर्शन की प्रक्रिया में उलझने पर एतद्विषयक समस्याओं का सुलझाना कठिन है । ऋषि दयानन्द ने यह ही इस विषय में प्रशस्त मार्ग बतलाया है । यदि इसका अनुसरण किया जावे तो दर्शनों का विविध कल्पित प्रक्रिया–विरोध दृष्टिपथ से सर्वदा के लिए लुप्त हो जाता है । परमात्मतत्व का रहस्य बड़ा ही गूढ है, उसका उद्घाटन वेद के बिना सम्भव नहीं । वेद के अनुसार परमात्मा की सिद्धि के विषय में जो तर्क किये जा सकते हैं–वे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति संहार और भाषा तथा ज्ञान के विकास सम्बन्ध को लेकर ही किये जाते हैं । वेदांत में व्यास ने भी इसी प्रक्रिया का अनुसरण किया है । 'जन्माद्यस्य यतः' और 'शास्त्रयोनित्वात्' ये प्रधान तर्क इसी पक्ष के पोषक हैं । आज के दार्शनिक जगत् में भी परमेश्वर के अस्तित्व की सिद्धि में इससे उत्तम और कोई तर्क नहीं हो सकते । परमेश्वर के इन गुण, कर्म और स्वभावों को जान कर मनुष्य उसके वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयत्न करे—वही सत्य शास्त्रों का उद्देश्य है ।

२५

अध्यात्म की प्रेरणा

मनुष्य इस संसार में आकर विषयों में फंसकर इन्द्रियों का दास बन जाता है। यह दासता उसे विषय-भावनाओं की तरफ झुकाती रहती है और वह आत्मा परमात्मा के विषय में सोच भी नहीं पाता। वह समझता है कि इन्द्रियों और संसार के सम्बन्ध से जो कुछ प्राप्त हो रहा है वही पर्याप्त है। इस से परे कोई वस्तु नहीं है। वह सदा इन्हीं के उधेड़ बुन में रहता है और तनिक सा भी सुख प्राप्त हो जाने पर कहता है कि मैं सुख की नींद सो रहा हूँ। थोड़ा लौकिक ज्ञान हो जाने का अभिमान करता है, और कहता है कि मैं सदा संसार में जागरूक रहता हूँ। मुझे ही ज्ञान का सारा भाण्डार मिल गया है। इस प्रकार इन्द्रियों से समुपलब्ध भोग और ज्ञान को ही वह परम सुख और ज्ञान समझ कर फूला नहीं समाता। अध्यात्म के प्रतिपादक शास्त्रों में ऐसी स्थिति को साधारण स्थिति से खराब माना गया है। यह ठीक है कि संसार के ज्ञान के लिये इन्द्रियों की परमावश्यकता है परन्तु उसी को सर्वस्व मानकर उत्तान रहने और उस से आगे और कुछ नहीं ऐसा मानने वालों को अविद्याग्रस्त कहा गया है। यह इस कारण कि संसार, शरीर, इन्द्रिय आदि भोग और अपवर्ग दोनों के लिये साधनभूत हैं। इन्हे भोगमात्र में परिसमाप्त समझना तथ्यतः अज्ञता है। इन्द्रियों के दास व्यक्ति वास्तव में कितना ही कहते रहें परन्तु न तो वह जागने की अवस्था में ही हैं और न सोने की ही, वे त्रिशंकुवत् लटके हुए हैं, ऐसा अध्यात्म-दृष्टि से कहा जाता है। इस भावना के अनुसार जागने वाला वह है जिसे सत् और असत् का विवेक है तथा सुख से सोनेवाला वह है जो इन्द्रियों की स्थिति से परे हो कर समाधि में स्थित है। इन्द्रियारामों को ये दोनों ही अवस्थायें प्राप्त नहीं। इन्द्रियां स्वभावतः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों की ओर दौड़ती हैं। इन विषयों मे उन्हे सुख और दुःख दोनो का अनुभव करना पड़ता है। वस्तुतः इन्द्रियों की भोगों में जो तृप्ति है वही सुख है और चञ्चलता के कारण जो भोगों मे अतृप्ति है, उसका नाम दुःख है। व्यासदेव ने योग १।२।१५ के भाष्यमें सुख दुःखका लक्षण ठीक इसी प्रकार किया है। उनका वचन है—या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत् सुखं, या लौल्यादनुपशान्तिस्तत् दुःखम्। दूसरे शब्दों में दुःख और सुख अन्तःकरणकी प्रतिकूल एवं अनुकूल वेदनायें हैं। सुख और दुःख शब्दों से भी यही भाव व्यक्त होता

है। सुख मे सु+ख दो पद हैं। सु का अर्थ उत्तम और ख का अर्थ इन्द्रिय है। इन्द्रियाँ जिसमे तृप्ति माने पट्ठ होवें वह सुख है। दुःखमे भी ऐसे ही दुः+ख दो पद है। इसका अर्थ है जिसमें इन्द्रियां अतृप्त एवं क्लिष्ट हों वह दुख है। इस सुख की इच्छा से इन्द्रियां भोगों मे दौड़ती हैं परन्तु भोगाभ्यास से इन्द्रियों को तृष्णारहित नहीं किया जा सकता है। क्योंकि भोगाभ्यास से इन्द्रियों मे राग होता है और पटुता बढ़ती जाती है। अतः भोगों का अभ्यास सुख की प्राप्ति का उपाय नहीं। जो सुखार्थी भोगाभ्यास में सुख मानता है वह वस्तुतः वृश्चिक के दंश से डँसा हुआ हैं। प्रत्येक भोगजन्य सुख मे दुख का दंश बनाही रहता है। विष+य=विषय वह वस्तु है ही जिसमें विष का दंश बना ही रहता है। यह विष दुःख है। प्रत्येक भोग सुख में इसका होना बना ही रहता है। यह विषय-सुख है ही अविद्या। इस की ज्ञान से निवृत्ति करना अनिवार्य है। जिस सुख में अविद्या का डंक बना हो वह सुख नहीं कहा जा सकता। इन्द्रियों के सुख को ज्ञानीजन इसी कोटि में रखते हैं।

जो इन्द्रियों को अच्छी प्रकार उनकी प्रकृति और उन के उद्देश्यों के विश्लेषण से समझ गया है. वह इनमें नहीं फंसता वह समझता है कि इनकी स्थिति जिस शरीर में है वह ही कल क्या होगा इस वात का पता नहीं। फिर इन की स्थिति हीं क्या। अतः उस विषय को ढूंढना चाहिये जिस के लिये ये प्राप्त हुए हैं। वह इन त्रुटियों और संसार की घटनाओं को देखता है और वास्तविक स्थिरतत्व को खोजने का प्रयत्न करता है। वह शरीर की स्थिति, इन्द्रियों की अवस्था और उन के सम्बद्ध अपने स्वरूप को तथा पुनः अपने वास्तविक स्वरूप को जानने को समुद्यत होता है। ऐसे उद्यमी और तत्त्वखोजी को जीव का वास्तविक स्वरूप बताते हुए वेद इस दिशा में बहुत उत्तम उपदेश देता है, जोकि यजुर्वेद १२/७६ में इस प्रकार है :—

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वस्तिष्कृता। गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥
अर्थात् हे जीव जब तू निश्चय ही इन्द्रियों का भक्त है, इस अवस्था में तेरी स्थिति क्षणभंगुर संसार में है और तेरा निवास पत्ते के समान अस्थिर शरीर में है। इस मंत्र में "अश्वत्थ" संसार का उपलक्षण है। संसार वास्तव में क्षणभंगुर है। इस लिए अश्वत्थ उसका नाम ठीक ही है। यद्यपि संसार वैसा मिथ्या नहीं जैसा नवीन वेदान्तियों की दृष्टि में है परन्तु उस के परिणाम जो क्षण में होते रहते हैं वे उसे अस्थिर बताते हैं। वह सत् होते हुए भी विनाशी और क्षणभंगुर कहा जाता है। वेद के इस आधार को ही दृष्टि में रख कर मालूम होता है कठोपनिषद् के प्रवक्ता ऋषि ने भी संसार और उस के कारणभूत प्रकृति को "अश्वत्थ" कहा। प्रकृति नित्य और सनातन होते हुए भी परिणामी हैं। उसका कार्य जगत् तो परिणामग्रस्त हैं ही। इसी दृष्टि से "अश्वत्थ"

वहां पर सार्थकता दिखाता है। गीता में भी "अश्वत्थ" का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। वह भी उपनिषदों से लिया गया ज्ञात होता है। गीता में कुछ पल्लवन के साथ वर्णन है। वहां पर वृक्ष के अन्य अंगों का भी वर्णन है। इस वर्णन से यह ज्ञात होता है कि संसार एक अश्वत्थ वृक्ष है। नाना योनियां इस की शाखायें हैं जो कि ऊपर नीचे चारों तरफ फैली हुई हैं। इनको सत्व, रजस् और तमस् गुणों से वृद्धि मिल रही है। विभिन्न शब्द स्पर्श आदि विषय इस वृक्ष की कोपले हैं। इसकी जड़ें मनुष्य लोक में कर्म के अनुबन्ध से व्याप्त हैं।

दूसरी बात जो इस मंत्र में है वह है पर्ण। पर्ण यहां पर शरीर का उपलक्षण दिखलाया गया है। पत्ता कब मुरझा जावे कहा नहीं जा सकता। वह अपने वृक्ष से किस समय निकल कर गिर पड़े निश्चित नहीं। उसकी स्थिति भी स्थायी और सन्देह की बनी रहती है। शरीर भी किस समय क्या हो जावेगा कहा नहीं जा सकता। आज प्रत्यक्ष दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं कि इस क्षण में बात करने वाला दूसरे क्षण में हृदयगति बन्द हो जाने से मृत है। ऐसी ही संसार के प्रत्येक प्राणी की हालत है अगले क्षण में उसे क्या होगा कोई कह नहीं सकता है परन्तु यह अस्थिरता अध्यात्ममान से समझनी चाहिए, साधारण लौकमान से नहीं। अन्यथा सन्देहवाद का जन्म हो कर निकम्मापन लोगों में आ जावेगा।

२६

सृष्टि का मूलवृक्ष और उसका नियन्ता

सृष्टि कब उत्पन्न हुई ? किससे हुई और क्यों हुई ? इन के मूल में क्या कारण थे ? इत्यादि प्रश्न सभी सभ्यजातियों के समक्ष उपस्थित हुए और आगे भी बराबर होते रहेंगे । वैदिकप्रक्रिया में इन का समाधान जिस प्रकार से किया गया है विश्व में उससे बढ़कर दार्शनिक अञ्चल देखने को नहीं मिलता । ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त तो वस्तुतः इस विषय के सभी दार्शनिक विचारों का मूलभूत केन्द्र है । परन्तु वेदों में अन्य स्थानों पर भी इसका मौलिक और मनोज्ञ विवेचन मिलता है । यहां पर केवल यजुर्वेद के १७ वें अध्याय के १८, १६, और २० वें मंत्र की एतद्विषयक विद्याका ही दिग्दर्शन कराया जावेगा । जो वस्तुतः एक उच्च भाव से भरी है और पूर्वोक्त प्रश्नों का उत्तर देती हुई लेख के शीर्षक से समन्वय रखती है । १७ वे मन्त्र में प्रश्न का त्रिक उपस्थित किया गया है । उसका प्रथम प्रश्न है कि विश्वकर्मा अर्थात् जगत्स्रष्टा परमेश्वर के ठहरने के लिए सृष्टि की प्रागवस्था मे आधारभूत स्थान क्या था ? दूसरा प्रश्न यह है कि वह द्रव्य कौन सा था जिससे स्रष्टा ने जगत् की रचना प्रारंभ की ? तीसरा प्रश्न उठाया गया कि वह क्रिया कौन सी थी जिससे सर्वद्रष्टा परमेश्वर ने पृथ्वी, द्यु आदि लोकों को उत्पन्न किया? ये तीनों ही प्रश्न अपने स्वभाव से मौलिक हैं और सृष्टि – विज्ञान को इनका उत्तर देना पड़ता है । जब जगत् का रचयिता मौजूद है तो उसके स्थान और क्रिया–कलाप के विषय में प्रश्न उठना ही चाहिए । इससे अगले १८ वें मन्त्र में यह उत्तर दिया गया है कि द्यु और भूमि आदि को रचने वाली शक्ति परमेश्वर सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ–वेदोपदेष्टा. सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक है । वह जीव के धर्म और अधर्म के अनुसार एवं अपने ईक्षण और प्रयत्न के द्वारा प्रमाणुओं से संसार को उत्पन्न करता है । पूर्वोक्त प्रथम प्रश्न का उत्तर तो यह हो गया कि जो शक्ति सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है उसके लिए स्थान की आवश्यकता ही क्या ? स्थान तो मूर्त और परिच्छिन्न द्रव्य घेरता है । व्यापक अपने व्याप्य में भीतर बाहर ओतप्रोत है और देश, काल की परिधि से बाहर है । यदि उसका कोई स्थान हो तो वह देश से परिच्छिन्न ठहरेगा । वह सर्वाधार स्वयं है उसका कोई आधार नहीं । किस द्रव्य से जगत् को रचा उसके उत्तर में बतलाया गया कि "परमाणुवों" से अर्थात् प्रकृति परमाणु वे मूल द्रव्य हैं जिनसे वह जगत् का आरंभ किया करता है । क्रिया जो उसे करनी पड़ती है वह ईक्षण और

प्रयत्न संबन्धी है। सिसृक्षा होने से प्रकृति से संसार प्रारंभ होता है। परमात्मा में ईक्षण और जगत् की रचना का प्रयत्न है जो जगत् को उत्पन्न करता है। उस की इन क्रियाओं को ही स्वभाविकी ज्ञान-बल की क्रियायें कहा गया है। परन्तु जब हम सृष्टि क्यों हुई? इस क्यों का उत्तर देने लगते हैं तो हमे क्रिया की विस्तृत व्याख्या लेनी पड़ती है। परमात्मा अपनी क्रियाओं को केवल निमित्त रूप से वर्तता है। परन्तु उस क्रिया के निमित्त से जगत् सदा क्रियावान् रहता है और जिसके कारण उस का नाम भी जगत् है—यह तभी क्यों के उत्तर के रूप में सोचा जा सकता है जब जीवों द्वारा किये गये पूर्व कर्मों को जो धर्माधर्म के रूप में है-समझ लिया जावे। जगत् की रचना के लिये इन दोनों क्रियाओं की भी अपेक्षा है, क्योंकि सारा वैचित्र्य इनकी दृष्टि पर आधारित है। प्रकृति के सत्व, राजस् और तमस् की साम्यावस्था का भंग परमात्मा के ईक्षण और प्रयत्न से होता है। परन्तु इनके आधार पर परिणाम भेद से होने वाला सृष्टि-वैचित्र्य कर्म पर आधारित है। यह सृष्टि जीवों के कर्मों के फल देने के हेतु और मुक्ति तक पहुँचाने के लिए रची गयी है। जगत् के दृश्य भोग और अपवर्ग के उद्देश्य से हैं। सृष्टिरचना के इस विषय को और भी सुपुष्ट करने के लिए २० वें मंत्र में पुनः प्रश्न किया गया कि वह वन कौनसा है, और कौनसा वृक्ष है? जिससे परमेश्वर ने द्यौ और अन्तरिक्ष आदि लोकों की रचना की। मन्त्र के अन्तिम भाग में इसका उत्तर भी दे दिया गया। अर्थात् समस्त समुत्पन्न भुवनों को धारण करते हुए परमेश्वर जिस द्रव्य का अधिष्ठातृत्व करता है वही कारणभूत प्रकृति द्रव्य वह वृक्ष है, जिससे लोक लोकान्तरों को परमेश्वर ने बनाया। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए ऋग्वेद में भी प्रकृति को वृक्ष ही कहा गया है। प्रश्न में संसार की सामग्री वृक्षरूप में पूछी गयी है अतः उत्तर भी तदनुरूप ही होने चाहिए थे। ऋ० १। १६। २० का मंत्र "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" प्रकृति को वृक्षरूप में ही वर्णन करता है। मुण्डकोपनिषद् में 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो' इस मंत्र से पूर्व बात को और भी स्पष्ट कर दिया गया है। प्रकृति को वृक्ष कहने का कारण भी वृक्ष के भिन्न भिन्न कार्य ही हैं। वृक्ष छाया और फल देता है—साथ ही साथ उससे लकड़ियां निकाल कर अनेक वस्तुएं बनाई जाती है। यही हाल प्रकृति का भी है। प्रकृति से ही जगत् को विविध वस्तुएँ बनती हैं और यही अनेक जीवों के भोगरूपी फलों को परमेश्वर के नियंत्रण में रहकर पैदा करती है। विषय, वासना और भोग आदि के विविध फल इसी में लगते हैं। वृक्ष बीज रूप से अपनी सत्ता को बनाये रखता है। प्रकृति भी परिणामी होती हुई अपने कार्यों से अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त करती है। बीजांकुर न्याय की इसमें सार्थकता है। यजुर्वेद ३५। ४ में संसार को अश्वत्थ! कहा गया है। इसका अर्थ कल पर्यन्त ठहरने वाला अर्थात् क्षण-भंगुर है। परन्तु यहां पर भी वृक्ष वाला भाव निहित है। अश्वत्थ पीपल के वृक्ष का भी नाम है। कठोपनिषद् और गीता में इस

अश्वत्थ का बहुत पल्लवन किया गया है। इन सबका भाव संसार से सम्बद्ध है और वही वास्तविक अश्वत्थ है। यह कल्पना कैसे चली ? कहना पड़ेगा कि उस वैदिक मूल को लेकर। वह भी प्रकृति को वृक्ष और अश्वत्थ के रूप में स्वीकार करके ही। गीता में तो विविध योनियां और विषय आदि को इस वृक्ष की जड़ें तथा कोपले कहा गया है। मुमुक्षुओं के लिए बतलाया गया है कि इस वृक्ष की जड़ों को अपने लिए काटकर असंग हो परमात्मज्ञान से उस प्रभु की ओर बढ़ें। वृक्ष की जड़ में पानी कहां से आता है कि यह हरा भरा रहता है ? इसका उत्तर दिया गया कि 'जीवों के कर्म' इस कार्य की पूर्त्ति करते हैं। इस प्रकार विचार ने से पता चलता है कि वेद में प्रकृति को वृक्ष कहने का भी तात्पर्य भावपूर्ण है और युक्ति संगत है। जीवात्मा और परमात्मा उस वृक्ष पर बैठे पक्षी हैं। परमेश्वर केवल साक्षी मात्र है; जीव उसके फलों का भोक्ता है। मंत्र में स्पष्ट तीनों पदार्थों का वर्णन है परन्तु हठधर्मी से इसी मंत्र से अद्वैत पक्ष घटाने का भी प्रयत्न किया गया था। महर्षि दयानन्द ने इसी मंत्र से तीन पदार्थों का अनादित्व माना है परन्तु शंकर ने मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ में इसका उल्टा पुल्टा अर्थ किया। मण्डन मिश्र ने इस मंत्र को उपस्थित किया था। लेकिन शंकर ने अपना मनमाना अर्थ इसका लिया। वस्तुतः शंकर का अर्थ युक्ति-युक्त नहीं था। इस मंत्र में 'त्रित्ववाद' ही है 'अद्वैत' नहीं। वेद को देखने से त्रित्ववाद ही मिलता है, शंकर प्रतपादित अद्वैत का कहीं दर्शन नहीं मिलता। लेख में पूर्व कहे गये तीनों मन्त्र ये हैं—

१—किम् स्विदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्। यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ १८ ॥

२—विश्वतश्चक्षु विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ १९ ॥

३—किम्स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तयदध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन् ॥ २० ॥ (यजुर्वेद)

[मन्त्रार्थः] (विश्वचक्षाः) सर्वदर्शी, सर्वज्ञ (विश्वकर्म्मा) सृष्टि, स्थिति आदि सकल कार्य्यकर्त्ता भगवान् (महिना) अपनी महती शक्ति के द्वारा (यतः) जिससे जहां से (भूमिम्) भूमि को सृष्टिको (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (द्याम्) द्यौ को (वि+और्णोत्) आच्छादित करता है। वह (अधिष्ठानम्) ठिकाना (किं+ स्वित्) कौनसा (आसीत्) होता है, और (आरम्भणम्) कार्य्य के आरंभ करने का उपादान तथा साधन=करण (कतमत्+स्वित्) कौनसा तथा (कथा) कैसा, किस प्रकार का (आसीत्) होता है, था ॥ १८ ॥

(विश्वतश्चक्षुः) सर्वत्र दर्शन साधनों वाला (विश्वतोमुखः) सर्ववक्ता (विश्वतोबाहुः = भुजाओं = वाहक-धारक शक्तियों वाला (विश्वतस्पात्) सर्वत्र प्राप्त वह (एक+देवः) अद्वितीय परमात्मा (बाहुभ्याम्) अपनी संश्लेषक=संयोजक तथा विश्लेषक=वियोजक=विभाजक शक्ति के द्वारा (पतत्रैः) परमाणुओं से (द्यावापृथ्वी) द्यौ तथा पृथिवी=प्रकाशाप्रकाशलोकों को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (सं+सं+धमति) उचितमात्रा में मिलाने के लिए एकाकार सी प्रकृति को धौंकाता है ॥ १६ ॥

वह (वनम्) वन (किं+स्वित्) कौनसा है और (सः) वह (वृक्षः) वृक्ष (कः+उ) कौनसा (आस) है । (यतः) जिससे (द्यावापृथिवी) प्रकाशाप्रकाशलोक (निः+ततक्षुः) छील कर काट कर बनाए गए हैं (मनीषिणः) बुद्धिमानो ! (मनसा) मन से (तत्) इस बात को (पृच्छत+इत्+उ) पूछो ही तो उत्तर—(यद्) जो (भुवनानि) लोकों को धारयन्) जिलाता हुआ (अधि+अतिष्ठत्) अधिष्ठित करता है, अधिकार में रखता है—

२७

मनुष्य अल्पज्ञ है

मनुष्य बुद्धि और विचार का प्राणी कहा जाता है। उसमें देखने से ज्ञान की पर्याप्ति पायी जाती है। परन्तु इन सब बातों के होने पर भी जब उसके स्वभाव का निरीक्षण किया जाता है तो वह अल्पज्ञ ठहरता है। वह कितना ही ज्ञानकी उड़ान में उड़े फिर भी उसमें अल्पज्ञता का पुट बना रहता है। हो भी क्यों न ऐसा? यह तो जीव के गुणों में भी निहित है। जीव ज्ञान गुण वाला तो है परन्तु वह सर्वज्ञ और पूर्ण नहीं। उसे पूर्णता और सर्वज्ञता के लिये दूसरी सत्ता का मुँह देखना पड़ता है। मनुष्य की इस अल्पज्ञता के कारण ही उसे किसी विषय में अज्ञता, किसी में संशय और किसी में भ्रम होता है। यदि यह सर्वज्ञ होता तो इसे अज्ञता, संशय और भ्रम का शिकार न होना पड़ता।

मनुष्य की अल्पज्ञता का ऋग्वेद १। १६४। ३७ में बहुत सच्चा वर्णन मिलता है। वेद-मन्त्र इस प्रकार है :—

न विजानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। यदा माऽऽगन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः।

अर्थात्—(यद् इव इदम् अस्मि) 'जो यह मैं हूँ वैसा (न विजानामि) मैं नहीं जानता। (निण्यः) मूढ़चित्त मैं (मनसा सन्नद्धः) मनसे बद्ध होकर विचरण कर रहा हूँ। (यदा मा ऋतस्य प्रथमजाः आगन्) जब मुझे ज्ञानमय सत्य प्रकाश की किरणें मिलती हैं तब मैं इस वाणी के सारभूत परमात्मा को प्राप्त हो जाता हूँ। तात्पर्यतः यह बात निकली कि जीव अज्ञता और अल्पज्ञतावश मन से फंसा हुआ संसार में विषयों को उसी मानदण्ड से सोचता है। जब परमेश्वर का उसे ज्ञान प्राप्त होता है तब वह तात्विक ज्ञान वाला होता है और परमेश्वर तथा वास्तविक तत्वों को जान लेता है।

यह अल्पज्ञता क्या है? मनुष्य अल्पज्ञ क्यों कहा जाता है? इसलिये कि उसके ज्ञान में सीमा है, वह एकदेशीय और सीमित है। बड़े बड़े विद्वानों का भी यही विचार है कि विश्व में ज्ञान का अपार सागर हिलोरें ले रहा है। हम उसके एक साधारण सी बूंद को प्राप्त करने का जीवन-पर्यन्त प्रयत्न करते हैं फिर भी उस विषय में हमारा ज्ञान अधूरा ही रहता है, और ज्ञान की बूंद भी पूरी नहीं हो पाती। न्यूटन यही कहा करता था कि ज्ञान के अपार सागर में मैं केवल घोंघियां चुन रहा हूं। भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक उपनिषत्कारों ने भी ऐसा ही कहा है:—

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।

अर्थात् बुद्धिमानों के लिये वह अज्ञात है और मूर्खों के लिये ज्ञात है ।

महाराज भर्तृहरि ने लिखा है कि जब तक मैं मूर्ख रहा मदान्ध हाथी की भांति उन्मत्त रहा । परन्तु जब मेरे हृदय में ज्ञान का प्रकाश हुआ तो मुझे ज्ञात हो गया कि मैं अल्पज्ञ हूँ और केवल अल्पज्ञता के गर्व से गर्वित हो अपने को महाज्ञानी समझ बैठा था। वैसे तो संसार का प्रत्येक मूर्ख यह समझता है कि संसार के समस्त ज्ञान का दो तिहाई उसकी खोपड़ी में है और शेष एक तिहाई में सारा संसार निर्वाह कर रहा है । किन्तु जब वह अपनी बुद्धि की तर्कणा के विरुद्ध अनेक घटनायें घटित होती हुई देखता है तो 'त्राहि माम् त्राहि माम्' करता हुआ भाग्य को कोसने लगता है ।

बहुत से लोग यह कह सकते हैं कि इस प्रकार मनुष्य के ज्ञान को सीमावाला बतलाना तो उसे उत्साहहीन करना है परन्तु किया जावे क्या वास्तविक स्थिति है ही ऐसी। वास्तविकता को समझना ही पुरुषार्थ का सहायक है मिथ्यभिमान या दम्भ नहीं । जबकि मनुष्य ने रेल, तार, वायुयान, जलयान, बेतार के तार निकाले, देश की दूरी को समाप्तप्राय कर दिया, सृष्टि को बदल दिया, समुद्र पाट दिये और पहाड़ काट डाले, नदियों के बहाव को उलट दिया और जंगल को उजाड़ कर बड़े बड़े शहर बनाये। विस्फोटक पदार्थों और परमाणुशक्तियों को द्वारा आज संसार को चकाचौंध में डाल दिया, फिर भी उसका अल्पज्ञता से पिंड नहीं छूटता है । वह इस के चक्कर में होते हुए भी अपनी वास्तविक शक्ति को असीमित समझ बैठता है और गर्व में आकर बहुत सी हानियां कर बैठता है ।

नैपोलियन कहा करता था कि असंभव शब्द मूर्खों के कोश में मिलता है । परन्तु उसे अन्तिम समय में राज्य करना तो दूर रहा पेट भर रोटी मिलनी भी असंभव हो गयी । समस्त संसार पर विजय प्राप्त करने वाला सिकन्दर भी अल्पज्ञता को कोसता हुआ दोनों हाथ खाली कर संसार से बिदा हुआ । रोमन साम्राज्य के दांत खट्टे करने वाले हानिबलको भी संसार की आकस्मिक घटनाओं से घबराना पड़ा। महाशक्तिशाली हिटलरको भी इनका लोहा मानना पड़ा, सभी जानते है कि सन् १९१२ में टाइटनक नाम का एक विशाल जहाज तैयार हुआ था, इसकी लम्बाई एक हजार फीट थी और समुद्रतल से १६४ फीट ऊँचा था। यह वास्तव मे मनुष्य मस्तिष्क की एक महान् देन थी। इसके निर्माताओं की यह गर्वोक्ति थी कि संसार में कोई भी ऐसी शक्ति नहीं जो इसे समुद्र मे डुबादे। जहाज अपने निर्माताओं के गर्व के साथ २३५८ आदमियों को लेकर न्यूयार्क को रवाना हुआ। मनुष्य के हाथ में जितने साधन थे उन सब का प्रयोग किया जा चुका था। न्यूयार्क पहुँचने में केवल २४ घण्टे की देर थी। जहाज तीव्रगति से समुद्र के सीने को फाड़ता हुवा जा रहा था। मुसाफिर शांतिनिद्रा में

सो रहे थे। अधिकारियों के हृदय गर्व से पूरित थे। परन्तु मनुष्य का अल्पज्ञान कुछ सोचता है और ईश्वर कुछ करता है। एक बरफ़ के पहाड़ से जहाज को ठोकर लगी और एक सूराख हो गया कि अनेक प्रयत्न करने पर भी जहाज डूबने से बचाया नहीं जा सका। यह है मनुष्य की कल्पज्ञता। बड़े से बड़े विज्ञानवेत्ता को भी यह नहीं मालूम है कि अगले पलों में क्या होने वाला है; उसके पीठ पीछे क्या घटनायें चल रही हैं। बड़े से बड़ा वैद्य और डाक्टर जो बात की बात में महान् रोगों की चिकित्सा करता है, यह भी नहीं जानता कि उसी क्षण उसके पेट के भीतर क्या हो रहा है ?। ऐसा बहुधा देखा जाता है कि बड़े योग्य डाक्टरों ने जिन रोगियों को असाध्य कहकर छोड़ दिया है उन्हें थोडे दिनों में आराम हो जाता है और जिन्हें साधारण बताया उनकी मृत्यु हो जाती है। एक खगोलविद्या का विद्वान् आकाश में तारों की गति का निरीक्षण करते हुए भी अपनी आंख की किरकिरी को स्वयं निकालने में समर्थ नहीं।

संसार का महान् से महान् पराक्रमी, बुद्धिमान् और विज्ञान-वेत्ता इस बातको भली प्रकार मानता है कि भविष्य की उसको कोई सूचना नहीं है और थोड़ी देर पश्चात् क्या होने वाला है। किसान अपनी हरी भरी खेती देखकर फ़ूला नहीं समाता परन्तु क्षणमात्र में ओले उसकी समस्त आशा पर तुषारपात कर देते हैं। महाराज दशरथ राम को गद्दी पर बैठाने का स्वप्न देख रहे थे कि राम को जंगल जाना पड़ा और महाराज की मृत्यु हुई। उद्यान में स्थित प्रत्येक पौदा बड़े से बडे वैज्ञानिक को प्रतिदिन अन्तिमेत्थम् दे रहा है परन्तु कोई समर्थ नहीं कि उसका पूर्णतया विश्लेषण कर सके।

रात भर लोग निद्रा की गोद में आनन्द ले रहे हैं। परन्तु क्षण में एक भूकम्प आता है और प्रातःकाल नगरवासियों तथा नगर का पता तक नही लगता। राजकीय वेधशालाओं में ऋतु का समाचार बताने वाले बड़े बड़े वेतनों के पाने वाले लोग दैनिक ऋतुविज्ञप्तियां निकालते हैं परन्तु बहुधा ऋतु उसके विपरीत ही देखा जाता है।

महादेव गोविन्द रानडे बचपन में गूंगों की तरह चुप बैठे रहते थे। उनके माता पिता बहुत ही निराश थे। परन्तु पश्चात् वही विद्वान् और नेता हुए।

अकबर के जन्म के समय धाइयों को उपहार तक देने को पैसा नहीं था। हुमायूं ने थोड़ी सी कस्तूरीसे इन्हें संतुष्ट किया था। परन्तु १३ वर्ष की अवस्था में वहीं अकबर सम्राट् बनकर गद्दी पर बैठा। कौन कह सकता है कि भविष्य में क्या होगा। हम सब लाहौर में बैठे कुछ और ही सोच रहे थे, हुआ कुछ और ही ?

ऐसी ही दशा ज्योतिषियों की भी है। वे अपनी किसी कल्पना के आधार पर कभी कुछ कहते हैं। परन्तु घटना उसके विपरीत होती है। ज्योतिष के प्रकाण्ड

विद्वान् पं० सुधाकर द्विवेदी ने अपनी जानकारी में सभी ज्योतिषियों के नियमों का मिलान करके अपनी कन्या का विवाह किया। प्रातःकाल वर महाशय गंगा स्नान करने गए कि अचानक उनका पैर सीढ़ी से फिसल गया और उनकी मृत्यु हो गयी। ऐसी आकस्मिक घटनाओं के विषय में संसार के सारे विद्वान् अवाक् हैं—न कुछ कह सकते हैं और न समझ ही सकते हैं कि कल क्या होगा?

अस्तु जो कुछ भी हो। संसार में प्रत्येक विद्वान को समय समय पर मिलने वाले थपेड़ों से यह अनुभव होता रहता है कि वह जो कुछ भी कल्पना के प्रासद खड़े करता है उनमें कोई ऐसी महान् शक्ति है जिसके नियम से समय समय पर विघ्न पड़ जाता है। वह सब वस्तुओं को अपना क्षेत्र समझकर सोचता कुछ है परन्तु क्षेत्रके महान् स्वामी के नियम उसके सोचे हुए को उल्टा देखकर उसे पूरा नहीं होने देते। हम अपनी अल्पज्ञता से सोचते कुछ हैं पर वह शक्ति सर्वज्ञता से होने वही देती है जो होना चाहिए। उसके सर्वव्यापक नियम पग २ पर ठोकरें देकर हमें अपनी अल्पज्ञता का बोध कराते हैं।

इन घटनाओं से एक महान् शक्ति का ज्ञान होता है, जिसके द्वारा विश्व का सारा काम यथावत् रूप से चल रहा है और जिसकी महिमा को मनुष्य सच्चे ज्ञान के बिना नहीं समझ सकता। उसका ज्ञान तभी होता है जब उसके ज्ञान-प्रकाश की रेखायें हमें मार्ग दिखाती हैं।

२८

मानव के आठ अतिग्रह

मानव जीवन में समय समय पर अनेकों ऊंचे नीचे अञ्चल आते रहते हैं। जीवन का साफल्य इन का सामना करने में है। संसारसंगर में संघर्ष करते हुए मृत्यु भी जीवन की परिभाषा से बाहर नहीं जाती। जीवन का वास्तविक मूल्य मृत्यु से ही आकूत किया जा सकता है। जीने के लिये मरना सीखना ही पड़ता है। बिना इसके कोई भी व्यक्ति जीवनसंग्राम में सफलता का स्वप्न नहीं देख सकता। यह ठीक है कि कभी कभी ऐसी महती बाधायें जीवन में उपस्थित होती हैं कि उनका निवारण कठिन हो जाता है परन्तु मनस्वी लोग उसका भी निराकरणपथ ढूँढ ही लेते हैं। जो इस तत्व को समझते हैं, वे अपने मार्ग से च्युत नहीं होते और जो नहीं समझते वे पदे पदे इन बाधाओं से पराजित होते रहते हैं। मानवता एवं मनुष्य जीवन के तीन महान् शत्रु हैं जिनका प्रत्यक्ष में दर्शन प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक क्षण हो रहा है। वे हैं-ग़रीबी, भूख और अज्ञान। गरीबी, भूख और अज्ञान को दूर करने के लिये संसार के बडे बड़े राष्ट्र प्रयत्नशील हैं परन्तु अभी तक अपने कार्य में वे सफल नहीं हो सके। ये शत्रु मानव को ग्रह की तरह लगे हुए हैं। इन में अज्ञान को अध्यात्मविद् और तत्वदर्शी इन दोनों से अधिक शक्तिशाली मानते है। इसकी निवृत्ति से सबकी निवृत्ति होती है। ग़रीबी और भूख को पृथ्वी पर मानव अपने प्रयत्नों से मिटाने में किसी सीमा तक सफल हो सकता है। परन्तु उनके वास्तविक कारण को मिटाने के लिये अज्ञान को मिटाना पड़ेगा। इस अज्ञान का समूलोच्छेद करने के लिये ही शास्त्रों में ज्ञानार्जन के विविध उपाय बताये गये हैं। जिनसे मनुष्य को सदा संपर्क रखना ही चाहिए। मनुष्य को सुख-दुःख क्यों हैं ? कई तो झटिति यही कह देते हैं कि यह सब कुछ हमारे पूर्व कर्मों के विपाक से है। ठीक है मानव को पूर्वकर्मों से सुख दुःख मिलता है। परन्तु इस जीवन मे किये जाने वाले कर्मों से भी कुछ किया ही जा सकता है। अन्यथा पुरुषार्थ का कोई तात्पर्य नहीं रह जावेगा। आजकल कई लोग यह कहते हैं कि सुख दुःख हमारे ऊपर ग्रहों के इष्ट अनिष्ट होने से आते रहते हैं। जब ग्रह अनिष्ट हो जाते हैं तो दुःखों की भरमार हो जाती है। यहां तक कि मृत्यु भी उनकी अनिष्टता का फल है। जहांतक ज्योतिषशास्त्र मे नव ग्रहों का गणित की दृष्टि से ज्योतिर्विज्ञान के रूप में सम्बन्ध है—वह सभी को मान्य है। उनके कारण भौतिक जगत् में वर्षा, गर्मी, शीत आदि में जो परिवर्तन होते रहते हैं—वे सभी के लिये समान हैं। परन्तु यह नितराम् ग़लत है कि उनका मनुष्य के कर्मफल से भी कोई सम्बन्ध है। मनुष्य के कर्मफल को उलटने एवं सुख दुःख देने में ग्रहों का कोई भी हाथ नहीं और

न वे किसी पर अनिष्ट या इष्ट रूप में अपना कोई प्रभाव ही डालते हैं। ऐसा मानने वालों की कर्मव्यवस्था और परमात्मव्यवस्था दोनों ही सिद्ध नहीं होती है। क्योंकि इनका उनमें हस्तक्षेप बराबर बना रहेगा। हां इन ग्रहों का ऐसा हस्तक्षेप मानव जीवन के सुख दुख में न देखे जाते हुए भी शारीरिक ग्रह ऐसे हैं जो बराबर शरीर में चिपटे रहते हैं। वे आधिदैविक नहीं अपितु आध्यात्मिक अथवा शारीरिक हैं। ये ग्रहों से भी शक्तिशाली हैं और इन्हें इसी लिए शास्त्र में अतिग्रह कहा गया है। ग्रह को तो लोग पकड़ने वाला ही कहते हैं परन्तु अतिग्रह तो ऐसा चिपटते हैं कि छोड़ना जानते ही नहीं। ये तभी छोड़ते हैं जब कि ज्ञान से इनके चंगुलों को सदा के लिये ढीला कर दिया जाता है। शतपथब्राह्मण १४। ६। २। १ मे इनकी संख्या आठ गिनाई गयी है। ये आठ हैं—अपान; रस, नाम, रूप, शब्द; काम: कर्म और स्पर्श। यद्यपि ज्ञानेन्द्रियों के विषय ५ हैं परन्तु वे सभी ऐसे नहीं कि उन्हें अतिग्रह कहा जाये। गन्ध अतिग्रह की परिभाषा में आने योग्य नहीं अत: शब्द; रस; रूप और स्पर्श को ही उसमें ग्रहण किया गया है। प्राण दश की संख्या में हैं परन्तु अतिग्रह का कर्म केवल अपान में ही पाया जाता है। नाम एक ऐसा अतिग्रह है कि सभी के पीछे पड़ा है और मृत्यु के अनन्तर भी नहीं छोड़ता। कामकी अतिग्रहरूपता तो किसी से भी छिपी नहीं। कर्म सदा शरीर में बने ही रहते हैं। कोई भी शरीरधारी क्षणमात्र भी कर्म से रहित नहीं बैठ सकता है। यह कर्म फल के द्वारा शरीर को उत्पन्न करते हैं। शरीर से पुनः कर्म और कर्म से पुनः शरीर-इस प्रकार मुक्ति न होने तक कर्मों का चक्कर मानव को छोड़ता नहीं। यह जन्मजन्मान्तरों तक चलने वाला चक्कर एक महान् अतिग्रह है और इसका ऐसा होना सुतराम् सार्थक ही है। शरीर में अपान की स्थिति गुदाप्रदेश में मानी जाती है। अन्य प्राणों के कार्य शरीर में जहां उपयोगी हैं वहां उनके कार्यों में ऐसी कोई विशेषता नहीं देखी जाती कि जिसमें अतिग्रह का रूप पाया जावे। परन्तु अपान प्राण का कार्यकलाप प्रत्येक को परिज्ञात है। उसका कार्य शरीर में प्रतिक्षण होता रहता हैं। आभ्यन्तरीय वायु का बहिः निस्सारण इसी प्राण का कार्य है। इन्द्रियों के पांचों विषयों में रस का ग्रहण रसना से होता है और वह समीप पदार्थ को ही ग्रहण करती है। शब्द इन्द्रियान्तर्वर्ती होकर विषय के रूप में गृहीत होता है। स्पर्श चर्मेन्द्रिय का विषय है। यह शरीर भर में फैली है इस लिये सारे शरीर में समीपता से स्पर्श का अनुभव होता है। यह दूरदेश से विषय का ग्रहण नहीं करती। रूप आँख से दूरदेश में ग्राह्य होता है अत्यन्त समीप में नहीं परन्तु अन्य विषयों से इसमें अनुरक्ति अधिक है और कोई नेत्रधारी इससे बचता नहीं, अतः यह भी एक अतिग्रह कहा गया। नाम संज्ञा को कहा जाता है। जितने पदार्थ हैं पैदा होते ही उनकी संज्ञा निर्धारित हो जाती है। यह संज्ञा सदा बनी रहती है। काम का तो कहना ही क्या खाना पीना न मिलने पर शरीर के जीर्णशीर्ण होने पर भी यह बलवान् ही रहता है। इससे कोई प्राणी बचा नहीं है। इस प्रकार मनुष्य के शरीर में ये आठ अतिग्रह लगे हैं। इनका निवारण करने पर ही मनुष्य सुख शान्ति को प्राप्त कर सकता है। यह निवारण ज्ञान से होता है और उसकी प्राप्ति के लिए मानव को सदा प्रयत्न करते रहना चाहिए।

२९

मस्तिष्क और बाहु के सहयोग में राष्ट्र-श्री निहित है

मनुष्य में जहां मस्तिष्क है वहां बाहु भी है । मस्तिष्क ज्ञान के लिए है और बाहु रक्षा के लिये । मस्तिष्क ज्ञान का प्रतिरूप है और बाहु बल का । दोनों का ही शरीर मे अपना अपना उपयोग है । शरीर के लिये इन की उपयोगिता प्रत्यक्ष सिद्ध है । यदि मस्तिष्क न हो तो हम एक क्षण भी किसी चीज़ के जानने बूझने और निर्णय में समर्थ न हों । परन्तु यह रहे और बाहु बल न हो, तो बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित हो सकती है । ऐसी अवस्था में हमारे शरीर की रक्षा भी कठिन हो जाये परन्तु इन दोनों के रहते हुये भी यदि इन में परस्पर सहयोग नहीं तो कार्य और भी अधिक बिगड़ सकता है । केवल मस्तिष्क क्या कर सकता है यदि बाहु कमज़ोर है । मस्तिष्क की ताकत का ठप्पा भी लोगों पर बाहु बल से बैठाना पड़ता है । राजपूतों में बाहु बल तो था परन्तु मस्तिष्क नहीं था इस का दुष्परिणाम सामने आया । आजकल बाहु बल की कमी है । सभी उपदेश तो देते हैं परन्तु क्षात्र धर्म से देश विहीन सा हो रहा है । महाभारत दोनों के सहयोग का उदाहरण है । वह एक महान् वृहत्तर भारत की स्थापना का युद्ध था । वहां पर कृष्ण के मस्तिष्क और अर्जुन आदि के बाहुबल का सहयोग था । हमारे शरीर मे जैसे दोनों की अवश्यकता है वैसे ही राष्ट्र या समाज में भी इनकी अत्यन्त आवश्यकता है । राष्ट्र का मस्तिष्क वैदिक भाषा में ब्राह्मण-वर्ग है और उसका बाहुबल क्षात्र वर्ग है । किसी राष्ट्र या समाज में केवल वैज्ञानिक क्षात्रवर्ग=सैन्य के बिना राष्ट्र वा समाज को समुन्नत नहीं कर सकते हैं । केवल सैन्यशक्ति वैज्ञानिक वर्ग के विना सामर्थ्यहीन है । राष्ट्र के जनसमुदाय को वेद ने चार भागों में बांटा है । ब्रह्मण=बुद्धिजीवी वर्ग, क्षत्रिय=सैन्य वर्ग, वैश्य=व्यापारी और शूद्र श्रमिकवर्ग । ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र इन्हीं के परिभावक शब्द हैं । ब्राह्मण राष्ट्र का मस्तिष्क है, वह सारी आभ्यन्तर और बाह्य नीति को अपने हाथ में रखता है । उसे वेद मे राष्ट्रका मुख कहा गया क्षत्रिय उस के अनुसार रक्षा के सूत्र को संचालित करता है । वेद में क्षत्रिय को बाहु कहा गया है जो रक्षा (Defence) का प्रतिरूप है । इंगलिश के Arm और Army शब्द भी इस आर्थ की सन्निकटता के द्योतक हैं ।

अस्तु ! राष्ट्र का कल्याण इसी में है कि मस्तिष्क और बाहु का समन्वय हो । अन्यथा राष्ट्र चमक नहीं सके गा । आर्यों की राजनीति का यह मूलसूत्र रहा और सारी

नीति इसी पर आधारित थी। यही कारण है कि आर्यजाति ने कभी कही पर मुँहकी नहीं खायी। अनेकों कठिनाइयां मार्ग में आयीं विविध परिवर्तन हुये परंतु आर्यों के राजशासन मे कोई अव्यवस्था नहीं आपायी। मस्तिष्क बढ़ने पर वास्तव में आकाशीय उड़ान बहुत बढ़ जाती है और कभी २ उल्टे मार्ग पर-चले जाने पर केवल मनोवेग के बढ़ जाने से कर्त्तव्यहीनता राष्ट्र में आ जाती है। केवल बाहुबल बढ़ जाने पर मस्तिष्क को कभी २ नीचे दब जाना पड़ता है। बाहुबल की उद्दामता राष्ट्र में निरंकुशता पैदा कर देती है। कल्याण इसी में है कि बाहु मस्तिष्क के नीचे रह कर कार्य करे। मनु की राजनीति को हम यदि देखें तो उससे हमें बड़ी प्रेरणा इस विषय में मिलती है। लोग कहते हैं कि वह पुरानी हो गयी परन्तु उन को नहीं मालूम की वह इन नवीन नीतियों की जननी है और नवीन समस्यावों का समाधान भी उस में निहित है। मनु० ६। ३२१ में बतलाया गया है कि—नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाऽक्षत्रं ब्रह्म वर्धते। ब्रह्म क्षत्रञ्च सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्धते॥ अर्थात् क्षात्र शक्ति ब्रह्मशक्ति के बिना समृद्धि को नहीं प्राप्त होती और न क्षात्रशक्ति के बिना ब्राह्मशक्ति ही कृतकार्य होती है। दोनों मिलकर इस और उस लोक में समृद्ध होते हैं। शास्त्रानुशीलन व्यसनियों से यह छिपा नहीं है कि जो कुछ मनु जी कहते हैं वह औषधिरूप ही होता है। वहां पर भी उसी प्रकार यदि समझ लिया जावे तो कितनी उपयोगितापूर्ण शिक्षा हमारे लिये निकल आती है। यह भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब में हमारे लिये उत्तम मार्ग दिखलाने वाली हो सकती है। इस में सन्देह नहीं कि मनु सदा औषधिरूप ही उपदेश दिया करते थे। आज फस्लों की रक्षा के लिये टिड्डीदल को घातक समझा जा रहा है। सर्वत्र उन के हटाने का प्रयत्न जनता और सरकार की तरफ से होता है। मनु ने और हमारे अन्य नीतिकारों ने राज्य के लिये छः आपदों में "शलभों" टिड्डियों को भी गिनाया है। विधानशास्त्र का तो मूल ही मनु से जमा। परन्तु विचारने की बात यह है कि मनु यह बातें कहां से कह रहें है। मनु का आधार वेद है। मनु वही कहते हैं जो वेदसे उन्हें प्राप्त हुआ है। मनु के कितने श्लोक तो वेदों के मन्त्रों को शिक्षा को ज्यों की त्यों दिखलाते हैं। यहां भी मनु की इस शिक्षा का मूल यजुर्वेद ३६। ३० का मन्त्र इस प्रकार है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रञ्च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥

अर्थात् जहां पर ब्रह्मतेज और क्षात्रबल अभिन्न हो कर सहयोग से कार्यों में जुटते हैं वहां राष्ट्र, पवित्र विज्ञान आदि से सम्पन्न और तेजस्वी होता है।

वर्तमान समय में लोग वेदों से विमुख होते जा रहे हैं। यदि वे इन से शिक्षा ग्रहण करें तो अपना और अपने राष्ट्र का कल्याण कर सकते हैं। वेद की सभी शिक्षायें सारभूत हैं। उन पर चलने से ही मानव सुख शान्ति का जीवन व्यतीत कर सकता है।

३०

परमसत्य का खोजी ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है

मनुष्य में धार्मिक प्रवृत्ति स्वाभाविक है। इसके लियें उसे शिक्षा की आवश्यकता नहीं पड़ती। निसर्गतः उसमें इसका बीजोद्रेक हो जाता है। यही कारण है कि सभ्यता आदि का विकास मानवजीवन और उसके धार्मिक विश्वासों के साथ अधिक सम्बन्ध रखता है। धर्म की प्रवृत्ति की भांति ही मानव में आनन्द प्राप्ति की इच्छा भी पायी जातीं है। संसार में सुखी रहने पर भी उसे अत्यन्त शान्ति की चिन्ता बनी रहती है। इसी हेतु वह संसार के सुखों को क्षणभंगुर समझ कर अत्यन्त शान्ति के लाभार्थ विविध शास्त्रविहित कर्मों को करने और कठिन से कठिन त्याग और तपों के अनुष्ठान के लिए समुद्यत होता है। वेदादि–सच्छास्त्रों में इस ब्रह्मानन्द अथवा अत्यन्त शान्ति के विविध उपाय जिज्ञासु और अधिकारिभेद से बतलाये गए हैं। उन उपायों में परमसत्य की खोज भी एक उपाय है जो ब्रह्मानन्द के सन्निकट पहुँचाता है। संसार वास्तव में भोग और अपवर्ग दोनों का साधन है। इस में सत्य और उसका पिधान=अनृत दोनों ही हैं। सत्य प्रकृति के ढकने से ढका है। संसारी पुरुष प्रकृति के इस ढकने में ही मुग्ध हो जाता है और भोगों में ही पड़ा रह जाता है। सत्य का खोजी आभ्यन्तरिक सत्य की खोज करता है और उससे ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है। इसी विषय का अनुपम उपदेश देते हुए परमेश्वर ने यजुर्वेद ४०। १७ में मानव के प्रति बतलाया है कि हे मनुष्यो! प्रकृति के चाकचक्यमय पिधान से सत्य का मुख आवृत है। (सत्य के खोजी लोगो! तुम उस ढकने को खोलकर सत्य का दर्शन करो)। और इस जगत् के अन्तस्तल में जो पुरुषरूपी सत्य=परमेश्वर छिपा हुआ है वह मैं हूँ सबका रक्षक, व्यापक और महान्। इसी भाव का ज्ञापक यह मन्त्र है—हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥

ईशोपनिषद् में इस मन्त्र का आशय बतलाने वाला मन्त्र कुछ इससे भिन्न है, परन्तु भाव विचारने पर एक सा ही निकलता है। वह सत्य जिसे प्रकृति के पिधान में छिपा हुआ कहा गया है, क्या है? इसका निर्णय लोग कई प्रकार से करते हैं। वह सत्य परमेश्वर है, ऐसा वर्णन छान्दोग्यउपनिषद् (प्र० ८। खण्ड ३) का है। उपनिषत्कार ने बतलाया है कि इस लोक में मनुष्य कीं ब्रह्मप्राप्ति आदि की सत्य कामनायें अनृत से ढकी हुई हैं अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति की इच्छा सत्य है और प्राकृतिक विषयों की इच्छा अनृत कही जाया करती है। यह सत्य जगत् में अनृत से ढक जाता है। यही कारण है कि मनुष्य मे ब्रह्मानन्दलाभ आदि की भावनायें नैसर्गिक होते हुए भी प्रबलता नहीं प्राप्त कर पातीं तथा मनुष्य आत्मा, परमात्मा जैसी परोक्ष वस्तुओं का ज्ञान नहीं कर पाता। जैसे ऊपर ऊपर घूमने वाले नीचे भूमि में दबे हुए खजाने को नहीं देख पाते वैसे ही

प्रकृति के ढकने को देखने वाले आभ्यन्तरीय सत्य को नहीं देख पाते। संसार की प्रजायें प्रतिदिन प्रकृति मे विचरती हैं परन्तु अन्तर्वर्ती परमेश्वर को नहीं देख पातीं। जब अनृत का परदा हट जाया करता है तब ब्रह्मरूपी सत्य देख लिया जाता है। अतः आवश्यकता है केवल अनृतरूपी आवरण को हटाने की। मानव-शरीर भी प्रकृति का एक विकार है। इसमें यद्यपि हृदयदेश में परमेश्वररूपी सत्य का भान हो सकता है, परन्तु ऊपरी आवरण से वह भी ढका है। शरीर के आवरण को पार कर हृदयदेश में ज्ञानीजन उस सत्य को देखते हैं। अध्यात्मविद् लोग हृदयपद की निरुक्ति भी इसी प्रकार की करते हैं। उनका कथन है कि हृदयं=हृदि+अयम् है, अर्थात् हृदय में यह= परमेश्वर हैं। इस प्रकार परमात्मरूपी सत्य को हृदयदेश में देखकर मनुष्य ब्रह्मानन्द प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। जब शरीररूपी आवरण को ज्ञानी हटा देता है, तो हृदयस्थ ब्रह्म को जान लेता है। इस हृदयदेश में विद्यमान ब्रह्म का ही नाम सत्य है। यह ही अमृत, अभय और महान् है। यह "सत्य" क्यों है ? इस बात को बतलाने के लिए अध्यात्मविद् लोग सत्य की निरुक्ति इस प्रकार से करते हैं। सत्य में स, ति, यम् इन तीन पदों का समन्वय है। इन तीनों के मेल से "सत्य" ऐसा पद निष्पन्न होता है। "स" का अर्थ है अमृत और "ति" का अर्थ है मर्त्य। यम् दोनों को नियम में रखता है। वास्तव में परमात्मा भोग और अपवर्ग दोनों का नियामक है। इसीलिए वह सत्य कहा जाता है। सत्य की ऐसी ही निरुक्ति महावैयाकरण आचार्य शाकटायन भी किया करता था अतः इस प्रकार के निर्वचन में व्याकरण की कोई आपत्ति नहीं माननी चाहिए।

उपनिषद् के प्रवक्ता ने हमें यह बतलाया कि परमेश्वर ही सत्य है। उसी की खोज जिज्ञासु को करनी चाहिए। प्रकृति का परदा अनृत नाम वाला है। वह चमकीला अर्थात् हिरण्मय है। उससे सत्य आवृत है। प्रवृत्तिमार्ग का उपासक मनुष्य उस आवरण की चमकाहट में ही भूल जाता है और भोगों में ही पड़कर सत्य की खोज से दूर रह जाता है। जो निवृत्तिमार्ग का उपासक है वह प्रकृति के आवरण को हटा देता है और आभ्यन्तरव्यापी परमेश्वर को प्राप्त करता है। प्रकृति की उपासना मे भोग और दुःख है। परमेश्वर की उपासना में अपवर्ग और सुख है। आवरण को खोलने का तात्पर्य प्रकृति को खोलना अर्थात् उसका पूर्ण विवेक करना है। प्रकृति का जब विवेक हो जाता है, तब मनुष्य परमेश्वर के ज्ञान के योग्य बनता है। प्रकृति के ज्ञान से पुरुष को उससे प्राप्त होने वाले भोगों के प्रति विरक्ति हो जाती है और वह परमेश्वर के ज्ञान की ओर बढ़ता है। प्रकृति से परमेश्वर को पृथक् करके देखना ही इस भावना का परमोद्देश्य है। "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" की उक्ति भी ऐसी ही है। यहां पर भी यही भाव निहित है। द्रष्टव्य का भाव वह है कि प्रकृति से पृथक् देखना। सांख्याचार्यों ने इसका अर्थ किया है प्रकृतितः पृथक् द्रष्टव्यः। इस प्रकार जब प्रकृति से परमेश्वररूपी सत्य पृथक् भासमान होने लगता है, तब मनुष्य के प्राकृतिक बन्धन शिथिल हो जाते हैं। बन्धनों के शैथिल्य से ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्म-प्राप्ति से परमानन्द लाभ होता है। यही परम सत्य की खोज का फल है। इसी को पूर्वोक्त वेद मन्त्र में भी दिखलाया गया है।

३१

सृष्टि की आदिम अवस्था में युवा लोग उत्पन्न हुए

भगवान् दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में लिखा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में लोग युवा उत्पन्न हुए। वृद्ध अथवा बालक क्यों नहीं ?—इस का समाधान करते हुए ऋषि ने तर्क यह दिया कि यदि वृद्ध पैदा होते तो आगे संन्तति चलाने में असमर्थ होते और यदि बालक उत्पन्न होते तो उनकी रक्षा के लिए मां बाप की आवश्यकता पड़ती। ऋषि की बात वास्तव में बहुत ही युक्तियुक्त है, परन्तु लोगों को इस पर विश्वास नहीं पड़ता। वास्तव में ऋषि दयानन्द प्रत्येक बात का निर्णय वेद की शिक्षाओं के आधार पर करते थे। जन-साधारण गूढ़ रहस्यें को समझ नहीं पाता, इस कारण ही वह इस पर विश्वास करने मे आना कानी करता है। ऋषि दयानन्द की बात को जाने दीजिये। दर्शनकार भी तो इस गूढ़ रहस्य के विषय में यही धारणा प्रकारान्तर से रखते हैं। वैशेषिककार यह मानते हैं कि अयोनिज सृष्टि भी होती है। ये अयोनिज सृष्टि के व्यक्ति—वे ऋषि जिन पर वेद प्रगट हुए, और अन्य व्यक्ति जो अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न हुए माने जाते हैं, इन को मां गर्भ में नहीं धारण करती है—पृथ्वी में इन का शरीर बनता है। इसी लिये पृथ्वी माता और परमात्मा सब का पिता कहा जाता है। आर्यः ईश्वरपुत्रः (निरुक्त) अर्थात् आर्य ईश्वर का पुत्र है-इस में भी यही भावना अन्तर्निहित मालूम पड़ती है। सृष्टि कितने प्रकार की होती है ? इस का उल्लेख करते हुए आदि दार्शनिक कपिल कहते हैं कि यह छः प्रकार की होती हैः अण्डज, स्वेदज उद्भिज जरायुज सांसिद्धिक और सांकल्पिक। अण्डे से उत्पन्न होने वाले अण्डज और भूमि में होने वाले उद्भिज तथा झिल्ली से उत्पन्न होने वाले जरायुज कहलाते हैं, खनिज पदार्थ सांसिद्धक सृष्टि वाले हैं तथा आदिम अमैथुनी सृष्टि सांकल्पिक कही जाती है। इसके सांकल्पिक होने में दो कारण हो सकते हैं—प्रथम तो यह कि यह परमेश्वर के संकल्प अर्थात् सिसृक्षावश से उत्पन्न होती है, अथवा यह प्रत्येक कल्प की आदि में समान ही रूप में होती है अतः इसे सांकल्पिक कहा गया है। धरा की सभी सभ्य जातियां यह मानती हैं कि आदिम सष्टि संकल्प से होती है। वह संकल्प परमात्मा की सृष्टि रचने की इच्छा है। परन्तु संकल्प का प्रभाव किस पर पड़ा कि वह इस रूप में बन गया, इस पर

परस्पर मतभेद है। विकासवादी और जड़वादी इस विषय को नहीं मानते, परन्तु उनके वाद अब अपने महत्व से हीन होते जा रहे हैं—ज्यों ज्यों दार्शनिक खोजें आगे बढ़ती जा रही हैं। वेद जहां संकल्प को बताता है वहां यह नियम भी साथ २ दिखलाता है कि ऐसी सृष्टि अनिवार्य और सब कल्पों के आदि में होने वाली है। परमेश्वर का संकल्प प्रकृति पर प्रत्येक कल्प के प्रारम्भ में एकसा कार्य करता है और वह सृष्टि को यथा पूर्व बनाता है और याथातथ्य से बनाता है। "यथापूर्वमकल्पयत्" (ऋ० १०। १९०।३) और याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् (य० ४०।८) इत्यादि वेदवाक्यों के तात्पर्य यही हैं। मातापिता से यह आदिम व्यक्ति क्यों नहीं उत्पन्न होते? इसका समाधान यह है कि मातापिता उस के पश्चात् की सन्तति-सृष्टि को चलाते हैं। यदि सभी उत्पत्ति को मातापिता से वर्तमान की भांति माना जावे, तो अनवस्था दोष बराबर बना रहेगा, और इस प्रकार सृष्टि को भी सदा के लिये विद्यमान मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा दृष्टिगोचर और युक्तियुक्त नहीं है। इस अनवस्था की परिसमाप्ति परमेश्वर प्रकृति और जीव में मानी गई है। जो जिस उपादान से उत्पन्न होता है, उसीमें लय को भी प्राप्त होता है। इस प्रकार शरीर का अन्तिम उपादान पांच तत्व हैं। परम्परा से शरीर इन्ही में विलीन होते हैं, अतः वे ही उपादान कारण भी हैं। इन में पृथ्वी शरीर का मुख्य कारण है, अतः पृथ्वी से शरीर की उत्पत्ति का सिद्धान्त बहुत ही वैज्ञानिक है। मातेव वा इयं पृथ्वी भूतानि बिभर्ति यह ब्राह्मणवाक्य भी इसी तथ्य का उद्घाटन करता है। पृथ्वी में पञ्चतत्त्वात्मक शरीरनिर्माणबीज पुष्ट हो कर आदि मनुष्यों के शरीर के रूप में प्रकट होता है। चूँकि ये सब समान अवस्था के होते हैं, अतः इन में परस्पर ज्येष्ठकनिष्ठ का भेद-भाव नहीं होता। काल ही ज्येष्ठता और कनिष्ठता का कारण है। परन्तु जहां पर पूर्व और पहले का व्यवहार नहीं, वहां पर समानकालता ही सबकी होती है। यह समवयस्कता अगर बच्चे के रूप में सब की होती, तो मातापिता की पालनार्थ आवश्यकता होती और मैथुनी सृष्टि भी आगे एक लम्बे काल तक न चल पाती। वृद्धावस्था के रूप में मानने पर आगे सन्तति उत्पत्ति में उन की असमर्थता होती। अतः यह ही समीचीन है कि सभी युवा समुत्पन्न हुए, जिससे वे सृष्टि में सन्तति-उत्पत्ति के क्रम को बराबर चला सकें। मातापिता न तो वृद्ध पैदा कर सकते हैं और न युवा ही। वे केवल बालक उत्पन्न कर सकते हैं। चूंकि सृष्टि के आदिम व्यक्ति युवा होने वांछित थे, अतः इन कारणों की आवश्यकता नहीं पड़ी। यहां लोग यह भी कुतर्क कर सकते हैं कि फिर इस सृष्टि में पुरुष ही उत्पन्न हुए अथवा स्त्रियां भी, और यदि दोनों पैदा हुए तो फिर भाई बहन का सम्बन्ध मानना पड़ेगा! इसका समाधान यह है कि यह प्रश्न रजवीर्य के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए से सम्बद्ध है। मातृपितृभावना व्यक्ति कारण के साथ तो विचारणा रखती है, समष्टि करण के साथ नहीं। एक स्त्री अथवा गाय किसी पुरुष अथवा वृषभ की माता

हो सकती है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि स्त्री जाति-मात्र और गोजातिमात्र उन की माता है। यही बात समष्टिभूत कारण के विषय में भी समझनी चाहिए। सगोत्रता और सपिण्डता का सम्बन्ध रजवीर्य के सम्बन्ध पर निर्भर है, केवल कारण-सम्बन्ध पर नहीं। एक परमात्मा की सब सन्तान हैं—इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि वे परस्पर स्त्री पुरुष के सम्बन्ध नहीं कर सकते—क्योंकि परस्पर भाई बहन ठहरते हैं। परमात्मा की पितृसंज्ञा अथवा सगोत्रता सपिण्डता रजवीर्य सम्बन्ध आदि के कारण से नहीं बल्कि स्वाभाविक है और निरपेक्ष है। ऋग्वेद ५। ६०। ५ का यह मन्त्र इस विषय पर प्रकाश डालता है। मन्त्र निम्न प्रकार है:—अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः, अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में सभी बिना ज्येष्ट कनिष्ठ भाव के, समान-भाई के रूप में पैदा हुए लोग अपने जीवनसंग्राम के विजयार्थ बढ़ते हैं। अजर स्वयम्भू परमेश्वर इन का पिता, और समस्त प्राणोपकारिणी शक्तियों से सम्पन्न उत्तम उत्तम वस्तुओं को देने वाली पृथ्वी इन की माता है।
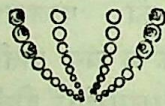
३२

भूखा कोई न मरे

दुनियां जब से उत्पन्न हुई ग़रीबी, अमीरी चली आ रही हैं। परन्तु दोनों भाई भाई के रूप में रहती आईं। कुछ दिनों से दो विभक्तियों के रूप में ये परिवर्तित हो कर संघर्ष का रूप धारण करना चाहती हैं। इस का प्रधान कारण स्वार्थप्रवृत्ति और कुछ पाश्चात्य इज़्मो की चहल पहल है। जहाँ वाद तो बहुत खड़े हो जायें और पालन करने वाले अथवा कर्मशील व्यक्ति कम हों, वहाँ पर ऐसी अवस्था का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। वास्तव में देखा जावे तो शासन-सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य यही है कि प्रत्येक नागरिक अधिकारों को निर्वाध भोगने की स्वतंत्रता हो। जहां इस में तनिक भी हस्तक्षेप हुआ, क्षोभ का वातावरण तत्काल पैदा हो जाता है। परन्तु इन अधिकारों के साथ साथ इन से मुख्य जीवननिर्वाह का अधिकार है–जो प्रत्येक को प्राप्त होना चाहिये। अच्छी व्यवस्था वही है जिस में कोई भूखा न मरता हो, अधिक खाने से भले ही कोई मर जावे। ऋग्वेद १०।११७।८ का यह वाक्य–खण्ड–नवा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुः। उताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः। इसी भावना का संकेतक है। इस मन्त्र वाक्य का यह भाव स्पष्ट है—संचालक विद्वानों को ऐसा संचालन करना चाहिये कि कोई भूखा न मरे अधिक खाने से भले ही कोई मर जावे। कितना उत्तम उपदेश है और कितना महत्त्वपूर्ण ! राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को इसी के अनुरूप प्रयत्न करना चाहिये, जिससे लोगों की सुख–समृद्धि बढ़े। किसी देश का विद्वद्वर्ग उस का नेता समझा जाता है। उस का यह परम कर्त्तव्य है कि वह सदा नये जनवर्ग को उस की आने वाली कठिनाइयों की सूचना देता रहे। वेदों में इस प्रकार के अनेकों अमूल्य उपदेश भरे पड़े हैं, यदि संसार उन पर चले तो महान् लाभ हो सकता है। ऐसे भी स्थल हैं, जहां पर यह भाव अभिव्यक्त किया गया है कि "गले भर पानी में खड़ा हुआ भी, हे भगवन्, मैं प्यास से मरता हूँ। हे इन्द्र· मेरी रक्षा कर।"—अपां मध्ये तस्थिवान्सम्, तृष्णाविदज्जरितारम्। अग्ने सुक्षत्र मृडय॥ यह मन्त्र इसी बात का उन्नायक है। ऐसी अवस्था तब होती है जब लोगों में स्वार्थ की मात्रा अधिक बढ़ जाती है। पानी में बैठे हुए प्यास से मरना—यह साफ अव्यवस्था और स्वार्थाभिवृद्धि के कटु परिणाम को अभिव्यक्त कर रहा है। संसार में समस्त भोगसामग्री पड़ी है परन्तु मुठ्ठी भर लोगों के अधिकार में होने से शेष उस से अपना लाभ नहीं उठा पाते। वस्तुयें उन के सामने हैं, उनके परिश्रम से उत्पन्न होती हैं, परन्तु वे उनका उपयोग नहीं ले सकते। यह घटना संसार में प्रतिक्षण अनुभव हो रही है। परन्तु इसका

निवारण नहीं हो पा रहा है। प्रयत्न सभी करते हैं, परन्तु सफलता दृष्टि से दूर है। सभी आधुनिक वाद जो पश्चिम की उपज हैं, समस्या के सुलझाने के लिये घोड़दौड़ में रत हैं। लेकिन ये सुलझाने के अतिरिक्त कभी कभी उलझन अधिक पैदा कर देते हैं। वर्गवाद के हामी यह समझते हैं कि इन सभी बुराइयों की रामबाण औषधि उन्हीं के पास है, शेष सभी वाद निर्थक हैं। परन्तु, वे यह नहीं देखते कि जहां पर यह वाद सफल हैं, क्या वहां पर ये समस्यायें सुलझ गई हैं,? कहना पड़ेगा—नहीं कभी नहीं। वास्तव में बात यह है कि भौतिकवाद में जीवन को चैन नहीं प्राप्त हो सकती। वह समस्या को सुलझाने में जितना ही प्रयत्न करेगा, समस्या उलझती रहेंगी। वह तो रोगकी दवा रोग के बढ़ाने में समझता है। यही कारण है कि आज जो देश अपने घर की अव्यवस्था सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं, वे ही दूसरे देशों में उसी अव्यवस्था को उत्पन्न करने में प्रयत्नशील हैं। क्योंकि विना ऐसा किये उन की दृष्टि में उनकी समस्या सुलझ नहीं सकती। उनकी समस्यावों का सुलझाव दूसरों की समस्यावों के उलझने और दूसरे के आत्मवलिदानों पर निर्भर है। वैदिकमार्ग इस भौतिकमार्ग से भिन्न है। वह त्याग और अपने स्वार्थों के बलिदान की शिक्षा देता है। उसकी उद्घोषणा है कि त्याग सें त्यागी के साधन घटते नहीं। प्रत्येक व्यक्ति यह समझ ले कि उसे अपनी आवश्यकता से अधिक का संचय नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करना दूसरों को उनकी उतनी ही आवश्यकतायें बढाना है। एक व्यक्ति अपना पेट भरे, यह ठीक है, परन्तु यदि वह सौ आदमियों के पेट भरने जितनी वस्तुवों को अपने अधिकार में रखना चाहता है तो इस का तात्पर्य यह होगा कि सौ व्यक्ति भूखे मरेंगे। प्रत्येक मनुष्यकों अपनी इस 'अधिक' स्वार्थवृत्ति का त्याग करना चाहिए। वह भी किसी दबाव के कारण नहीं, बल्कि स्वेच्छा से और स्वधर्म समझ कर। महात्मा गांधी इसे ही शब्दान्तर से स्वेच्छापूर्वक ग़रीबी का व्रत (Voluntary Poverty) कहा करते थे। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति इस भावना से यदि ओत प्रोत हो तो कभी दुष्परिणाम सामने आ ही न सके। दुष्परिणामों का उपस्थित होना ही इस भावना के अभाव का परिचायक है। वेद के सिद्धान्तों पर चलने में ही लोगों का कल्याण निहित है। लोगों को उस पर ध्यान देना और उसका अनुसरण करना चाहिये।

३३

आत्मघाती अन्धकार को प्राप्त होता है

आत्मघात करना एक महान् पाप माना जाता है। इस पाप का करने वाला व्यक्ति शरीर को छोड़ने पर अन्धकारमय लोकों को प्राप्त होता है। यजुर्वेद ४०-३ के 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।'--मन्त्र का यही आशय है। यद्यपि मन्त्र स्पष्ट है, फिर भी आत्मघात क्या है-यह विचारणीय विषय है। यदि आत्मघात पद का अर्थ ठीक ठीक लग जावे तो फिर मंत्र का भाव बहुत अच्छी प्रकार खुल जाता है। आत्मघात का साधारण अर्थ कई लोग 'आत्महत्या' लेते हैं जिसमें शरीर के साथ स्वयं आत्मा का विच्छेद करना रूप कर्म निहित है। इस अर्थ के लेने से यह भाव होता है कि 'आत्महत्या' (Suicide) करने वाले व्यक्ति को मरने पर अधम योनि प्राप्त होती है। यह क्यों? इस लिये कि आत्मा की सदा यह इच्छा है कि 'मैं बना रहूँ, मरूँ न' और साथ ही साथ यह भी भावना है कि वह समाज में अपने समान सन्तति को देकर अपने आत्मपन को व्यक्त करते रहने का भी पक्षपाती है। यह प्रवृत्ति चेतन में पायी जाती है कि उसकी वंशपरम्परा से उसकी जाति सदा संसार में बनी रहे। आत्महत्या करने से उसकी ये भावनायें आगे के लिये कोई फल देने से वंचित रह जाती हैं और समाज के प्रति अधमर्णताको पूरा करने का पाप भी लगता है। अतः दोनों दृष्टियों से आत्महत्या करने वाले के लिये इस प्रकार की अज्ञानमयी योनि में जाना ठीक ही है। आत्महत्या कर्म भी महती अज्ञानता का विषय है और कर्तव्यच्युति का निदर्शन है। उसका फल भी ठीक उसी के अनुरूप ही है। ऐसी योनि में जहां ज्ञान का अभाव है वहां प्राप्त हो कर वह कर्तव्य-अकर्तव्य के विचार से बिल्कुल रहित हो जाता है। जिन कर्तव्यों से बचने के लिए मनुष्य आत्महत्या करता है- इस अंधकारयुक्त योनि को प्राप्त हो जाने से उसे उसी अवस्था में पहुँच जाना पड़ता है। कई लोग यह भाव आत्मघात का लेते हैं कि "आत्मा की इच्छा अथवा आवाज़के विरुद्ध कार्य करना" क्योंकि आत्मा के अमर होने से उसका घात तो संभव नहीं। फिर उसकी इच्छा का विघात करना ही आत्मघात कहा जा सकता है परन्तु यह आत्मघात इसी अर्थ में लिये जाने पर भी दो बातों की ओर चला जाता है। पहली तो यह कि आत्मा इन्द्रियों का स्वामी है। उसे इन पर स्वामित्व रखकर सदा इनसे व्यापार करना चाहिए। लेकिन वह जब इन इन्द्रियों के अधीन हो विषयासक्त हो जाता है तो वास्तव में वह अपने स्वरूप को खोकर इनका दास बन जाता है। उसकी यह इन्द्रियदासता आत्मघात ही है। दूसरी बात यह है कि आत्मघात का अर्थ सीधा

अन्तःकरण की अवहेलना है। इसे ही अंग्रेजी में Conscience-killing कहा जाता है। यह अन्तःकरण कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय मे एक साधन है। इसकी अवहेलना से मनुष्य कर्तव्यच्युत हो जाता है। इन्द्रियदासता के पक्ष को लेने से यह प्रकट होता है कि विषयासक्ति आत्मा में आजाने से वह अपने निःश्रेयस मार्ग को खो बैठता है। विषयासक्ति ज्ञान के मार्ग में बाधक है। ज्ञान के बिना मोक्ष अथवा निःश्रेयस एवं मानवजीवन का सुख तो मिल नहीं सकता। सभी ज्ञान के आधार पर हैं। ज्ञान का न होना विषयासक्त को ऐसी योनि में पहुँचायेगा ही जहां पर ज्ञान का सर्वथा अभाव हो। फल भी कर्मानुरूप ही है। अन्तःकरण को उल्लंघन करने वाला अर्थ लेने पर भी संगति में कोई वाधा नहीं पहुँचती। अन्तःकरण वस्तुतः मनुष्य के आचार का एक साधन है। जब मानव इसकी प्रेरणा को ठुकरा कर इसके विपरीत कार्य कर बैठता है तो वह वास्तव में आत्मघात करता है। यह आत्मघात उस को बुरे से बुरे कर्मो में प्रवृत्त कर देता है। मनुष्य को वास्तव में दूसरे मनुष्यों के साथ बर्तना है। वह सामाजिक प्राणी है। अकेला तो रह नहीं सकता। समाज में वह किस तरह वर्ते कि अपना भी हित हो और समाज का हित हो—यह बातें उसे प्रत्येक कर्म के पूर्व देखनी पड़ती हैं यदि वह इन्हें नहीं देखता तो सामाजिक जीवन में सफल नहीं हो सकता। सामाजिक जोवन में मानव को दूसरों के सहयोग और उसके साथ समझौता की आवश्यकता होती है। यह समझौता उसका समाज में किसी ऐसी राय का न प्रकट करना और ऐसे कार्य का न करना है, जो समाज के लिए घातक हो। प्रत्येक मनुष्य की सम्मति की तीन अवस्थाएं हैं--सम्मति का प्रकट करना; सम्मति का बनाना; और सम्मति का पालन करना। सम्मति के बनाने और पालन करने में सब स्वतन्त्र हैं। इसके लिए किसी के साथ किसी सन्धि की आवश्यकता नहीं। परन्तु सम्मति के प्रकट करने में दूसरे से विचार करना पड़ता है। कोई मनुष्य किसी ऐसी सम्मति को नहीं प्रकट कर सकता जो किसी व्यक्ति या समाज के लिए अहितकर हो। नीति-नियमों में इसका पालन परमावश्यक है। मनु ने इसी बात को ध्यान में रखकर यह लिखा है कि "न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्" [=मनुष्य अप्रिय सत्य न बोले।] परन्तु यदि कोई व्यक्ति पूर्वोक्त विषयों में अर्थात् सम्मतिनिर्धारण और उसके पालन में भी किसी सुलह को पसंद करता है और हस्तक्षेप को स्वीकार करता है तो वह अन्तःकरण के प्रतिकूल उस की अवहेलना करता है। यह भी एक प्रकार का आत्मघात है। ऐसा मनुष्य मनुष्यता से वास्तव में गिर जाता है। इन दृष्टियों से इस मंत्र पर विचार करने से पता चलता है कि मन्त्र मे वैयक्तिक एवं सामाजिक आचार-संबन्धी एक उच्च शिक्षा दी गयी है।

३४

हम बुराइयों से सर्वदा दूर रहें

वैदिक आदर्श मानवसमाज को बुराइयों से दूर रहने की शिक्षा देता है। इसी में धर्म का रहस्य और मानवता का सार छिपा हुआ है। बुराई मनुष्य को दानव और अच्छाई मानव बनाती है। यदि वर्तमान मानवसमाज इस रहस्य को समझ कर चले तो सर्वथा शान्ति का वातावरण हो सकता है। वेदों में हमें पदे पदे इस विषय का उपदेश मिलता हैं। "यद्भद्रन्तन्न आसुव" दुरितानि परासुव, भद्रंभावातिनः पुरः, मुञ्चत्वं-हसः 'न मे दुरितानि शंसातु" इत्यादि वेदवाक्य इसी महान् उद्देश्य की तरफ निर्देश कर रहे हैं। इस के आगे यह भी कहा गया है कि "वयंस्याम वरुणे अनागाः, परमात्मा के दरवार में हम निष्कलङ्क सिद्ध हों। वह प्रभु हमारे सभी कर्मो को देखा करता है अतः हम सदा दुर्गुणों से दूर रहें। ये दुर्गुण, दुरित या दुष्कर्म क्या हैं? सुगुण भद्र और सुकर्म क्या हैं इन का विवेचन हमें शास्त्रों में भली प्रकार देखने को मिलता हैं। कर्म और अकर्म क्या है? इस का विवेचन करने वाले कर्त्तव्य मीमांसाशास्त्र का जब अन्य देशों में उदय भी नहीं हुआ था उस के बहुत पहले भारत में इस सम्बन्ध के शास्त्रों का प्रणयन हो चुका था। यह बात इन वेदों की देन है जिन से कि ज्ञान का प्रकाश धरा पर इस सर्ग के प्रारम्भ में हुआ। ज्ञान की निधि ये वेद हमें कर्मो के विषय में बहुत उच्च ज्ञान प्रदान करते हैं। वैदिकधर्म में कर्म के स्वार्थ और परिणाम पर जितना विवेचन है अन्य जगह उस का अंश भी उपलब्ध नहीं होता है। यजुर्वेद का यह मन्त्र हमें इस दिशा में ले जाता है। इस प्रकार के इसमें और अन्य वेदों में शतशः मन्त्र हैं।

यद्देवा देवहेडनं देवासः चकृमा वयम् अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वंहसः-यजुः २०।१४-अर्थात् हे दिव्यगुण वाले विद्वान्! हम ने जो कुछ भी देव कर्म में अवहेलना की हो अग्नि परमेश्वर उन सभी बुराइयों से हमें दूर रखे। इसी प्रकार 'एनस्, अहंस्, दुरित आदि शब्दों द्वारा बुराइयों का अभिधान मान कर उन से दूर रहने के अनेकों उपदेश वेदों में मिलते हैं। परन्तु जब हम मन्त्रों की रचना और अन्तःस्थिति की परीक्षा करते हैं तो हमारे सामने जटिल समस्यायें भी खड़ी हो जाती हैं। यदि हम इन पदों से बुराई या दुर्गुणों का ही तात्पर्य सामान्य रूप से ग्रहण करें तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि इन मे बुराइयों से दूर रहने की शिक्षा दी गयी है। परन्तु जब हम उन्हें विस्तृत व्यापक अर्थ में पाप, अथवा अपुण्य कर्म का अभिधायक मान कर चलते हैं तब यह प्रश्न समक्ष

उपस्थित होता है कि क्या परमेश्वर या विद्वान् जन उनसे से हमें मुक्त कर सकते हैं ? स्पष्टतया यह कहना पड़ता है कि क्या परमेश्वर या विद्वज्जन हमारे पाप को क्षमा कर सकते हैं। उत्तर मिलेगा विद्वान् तो क्षमा कर सकेगा जहां तक उसकी सामर्थ्य का उस कर्म से सम्बन्ध है परन्तु परमेश्वर तो किसी भी कर्म के लिए किसी को क्षमा नहीं कर सकता। पुनः पापकर्म भी दो अवस्थाओं में होगा—एक किया जा चुका हुआ और दूसरा करने की धारणा बनाया हुआ। जहां तक किये हुए का सम्बन्ध है कोई उस से किसीको मुक्त नहीं करा सकता, उस का फल भोगना ही पड़ेगा। परमात्मा यदि ऐसा करे तो फिर कृतहान दोष आता है और किये पाप के विपरीत भी मोचनरूप फल मिलने से अकृताभ्यागम भी। इस प्रकार परमेश्वर की व्यस्था ही अनुचित रूप धारण कर लेगी। रही बात करने की धारणा बनाये हुए पाप की, उस को उपदेश आदि से अच्छी भावनावों का उदय कर छुड़ाया जा सकता है। पापकर्मों के करने की आदत भी छुड़ाई जा सकती है परन्तु किए गये कर्म से छूट साधारण अवस्था में सम्भव नहीं यजुर्वेद में जब ८। १६ मन्त्र के 'यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार यच्चाविद्वांस्तस्य सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि - वाक्य को देखते हैं तो विचारणीय विषय की गम्भीरता और भी बढ़ जाती है। इसी प्रकार यजुः २०-१५,१६ मन्त्र के क्रिया पद 'चकृमा' को देख कर भी असमंजस में साधारण जन पड़ जाते हैं। ऋग्वेद (१०। ६२। १४) कृतादकृतादेनसः-पद आये हैं:—जो विचार को और भी आगे ले जाते हैं। साधारणजनों को यह बात खटकने लगती है कि क्या अन्य धर्मों की भांति वैदिक धर्म में भी किया पाप क्षमा हो सकता है। जब यह धारणा वैदिक है कि पाप का फल अवश्य भोगना पड़ेगा तो फिर यह क्षमा का विचार वेद का अपना कैसे हो सकता है।

इस विषय में दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। एक तो यह कि इन मन्त्रो में साधारणतया की गयी बुराइयों की आदत से तात्पर्य है और दूसरी यह कि भविष्य में होने वाले बुरे कर्मों से तात्पर्य है। पहली दृष्टि से यह भाव निकलेगा कि बुराइयां हम करते हैं इन की आदत से हमें परमेश्वर या विद्वान् लोग छुडावें। दूसरी दृष्टि का भाव यह होगा कि भविष्य के पापकर्मों से हमें छुड़ावें कि हम उन्हें न करें। इस प्रकार भाव लेने पर किये कर्मों के फल भोगने की अनिवार्यता बनी रहेगी और यह सिद्धान्त भी अक्षत बना रहेगा कि किया हुआ पाप क्षमा नहीं हो सकता है। ऋषि दयानन्द यजुः ८। १३ के "चकार" क्रियापद का अर्थ "करिष्यामि, कुर्मो वा" किया है। अर्थात् जो पाप कर्म भविष्य में करूँ या जिन के करने की इच्छा बन चुकी है अथवा जो करने जा रहा हूं उन से हमें हे प्रभो बचाओ। कुछ लोग कहेंगे की जिस पाप कर्म का अभी अस्तित्व ही नहीं जो भविष्य का विषय है उसे कैसे छुड़ाया जा सकता है ? समाधान सरल है कि भविष्य में जब भी उसकी धारणा बने या अस्तित्व में आने लगे उस से बचने की प्रार्थना की गई है। एक और कठिनाई इस मार्ग में

आती है वह यह कि फिर "प्रायश्चित्त" का फल क्या होगा। परन्तु सुलझाव इस का भी विचार से निकलता है। प्रायश्चित्त से किये हुए पाप नष्ट नहीं हो जाते, केवल उन के भविष्य में न करने की भावना बनती है। प्रायश्चित्त करने वाले का यह विचार बनता है कि यह पाप कर्म है अब इसे नहीं करूंगा। प्रायः नाम तप का है और चित्त उस के विशोधन को कहते हैं।

किसी भी किये कर्म को तीन श्रेणियों में लिया जा सकता है:-इस जन्म में भोग्य, पश्चाद्भावीजन्म मे भोग्य और इस तथा उस दोनों जन्मो में भोग्य। इन्हें ही दृष्टजन्मवेदनीय, अदृष्टजन्मवेदनीय और दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय शब्दों से कहा जा सकता है। भोजन पकाना कृषि आदि कर्म इस जन्म में ही भोगे जाते हैं। जन्म-परिवर्तन, योनिका बदलना अर्थात् जातिरूप तथा और भी बहुत इस तरह के फल दूसरे जन्म में भोग्य हैं। कई कर्म ऐसे हैं जिन का फल दोनों में भोगना पड़ता है। एक आदमी कत्ल करता है, या चोरी करता है, उस का उसे दण्ड मिलता है परन्तु इस दण्ड से अगले जन्म में उसे पुनः इन कर्मों का फल न मिले, ऐसा नहीं। कर्म की वासना जो बनी हुई है उस का निवारण इहलौकिक फलों से नहीं होता। उस के निवारणार्थ परमात्मा फल-भोग-रूप दण्ड देता है। फलों की तीन किस्में हैं जो जाति, आयु, और भोग कहे गए हैं। अच्छे कर्मों के फल अच्छे होते हैं बुरे कर्मों के बुरे फल। सात्विक कर्म सुखदायी तामस दुःखदायी, परन्तु किस कर्म का क्या फल होगा:-इस प्रकार का विवरण नहीं दिया जा सकता है। दार्शनिक ऋषियों ने इस विषय को दुर्विज्ञान कह कर छोड़ा है।

अस्तु ! यह सुतराम् ग्राह्य है कि किये पाप का फल भोगना अवश्य पड़ेगा। परन्तु एक असाधारण अवस्था भी है जिस में पहुँचने पर कर्म का लेप नहीं रह जाता है। उस अवस्था में कर्मों का फल अंतःकरण के समाप्त हो जाने से स्वयं समाप्त हो जाता है। वह अवस्था ब्रह्मप्राप्ति की अवस्था है। ब्रह्मसाक्षात्कार से हृदय की गांठें खुल जाती हैं सारे संशय क्षीण हो जाते हैं और सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में कर्म फल के लिए शेष नहीं रह जाता है। परन्तु यह अवस्था सर्वसाधारण नहीं। यह असाधारण अवस्था है।

इस प्रकार अधिक विवेचन न कर के प्रस्तुत विषय को यहीं पर समाप्त किया जाता है और यही कहना श्रेष्ठकर है कि वैदिक शिक्षा में मनुष्य को बुराइयों से दूर रहने का उपदेश किया गया है। मानव का कल्याण इसी में है कि वह इन शिक्षाओं पर चले।

३५

सत्य में ही श्रद्धा रखो

धर्म वास्तव में सूक्ष्मदृष्ट्या क्या है? यह हर एक साधारण बुद्धि के व्यक्ति की समझ का विषय नहीं है। धर्म के स्थूलरूप को ही जनसाधारण समझता है। ऋषियों ने इस भाव को भली प्रकार समझा था और इसी कारण धर्म का स्वरूप बतलाते हुए कहा था कि सत्य ही धर्म है और धर्म ही सत्य है। "सत्यं वदन्तमाहुः धर्मं वदतीति धर्मं वदन्तमाहुः सत्यं वदतीतिः-अर्थात् सत्य बोलते हुए को कहते हैं कि वह धर्म का कथन कर रहा है। इस प्रकार सत्य धर्म का स्थूल लक्षण है।

पुनश्च सत्य क्या है? और अनृत क्या है? यह भी विचारणीय हो जाता है। यथार्थ, यथावत् और अविपरीत सत्य है तथा विपरीत असत्य है। यथातथ्य में सत्यता है और अयाथातथ्य अनृत है। इन सत्य और असत्य के स्वरूपका विश्लेषण वेदों में अनेक स्थलों पर किया गया है। इसी प्रसंग में यहां यजुर्वेद १६।७७ का मंत्र निम्न प्रकार है।—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः। अनृते ऽश्रद्धामदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः। ....यजु० १६।७७ अर्थात् सत्य और अनृत के वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण परमेश्वर ने किया है। असत्य में श्रद्धा रखने का विधान किया और सत्य में श्रद्धा का उपदेश किया। आर्यसमाज का नियम भी हमें यही बतलाता है कि असत्य का परित्याग करने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए। इस प्रकार सत्य धर्म है और वह श्रद्धा का विषय है तथा असत्य अधर्म है और वह अश्रद्धा का विषय है।

मंत्र में रचना की दृष्टि से एक व्यतिक्रम देखा जाता है, वह सकारण ही है। पहले वाक्य में सत्य का प्रथम और अनृत का पश्चात् ग्रहण है परन्तु द्वितीय वाक्य में अनृत और अश्रद्धा पूर्व आये हैं और सत्य तथा श्रद्धा बाद में ग्रहण किये गए हैं। भाव यह मालूम पड़ता है कि अनृत (असत्य) चूँकि ऋत (सत्य) का उल्टा है अतः उसमें अश्रद्धा करने के अनन्तर ही सत्य में श्रद्धा जम सकती है। असत्य और अश्रद्धा दोनों ही दोषरूप हैं अतः इनके निवृत्त होने पर ही गुण या निर्दोष का ग्रहण होसकता है। किसी वस्तु का विपरीत ज्ञान वृत्ति में पूर्व भासित होता है यथार्थ ज्ञान बाद का विषय है, यतः यथार्थ ज्ञान से मिथ्या ज्ञान का विनाश होता है। यह बात यहां पर भी है। सत्य और अनृत के विश्लेषण से अनृत में अश्रद्धा पहले होती है पश्चात् सत्य में श्रद्धा जमती है। यदि वस्तु मे यथातथ्य पूर्व ही विदित होजावे तो फिर उल्टे ज्ञान के उदय का अवकाश ही कहां रहता है।

श्रद्धा पद में श्रत्+धा दो पद मिले हुए हैं। 'श्रत्' का अर्थ है सत्य और 'धा' धारणार्थक है। जिससे सत्य का धारण किया जावे उसका नाम 'श्रद्धा' है। इसके विपरीत का नाम अश्रद्धा है। किसी वस्तु में श्रद्धा कठिनता से जमती है जब कि अश्रद्धा सर्वत्र सुलभ है। क्योंकि श्रद्धा का संबन्ध याथातथ्य से है और अश्रद्धा का सम्बन्ध उल्टी वृत्ति से है। मनुष्य का मस्तिष्क अनेक प्रकार की क्रियायें करता रहता है। वह कभी संकल्प-विकल्प कभी संशय, कभी उल्टा ज्ञान और कभी निर्णय आदि कार्यों को करता है। जिस समय जैसी वृत्ति प्रबल होती है उस समय वैसे ही कार्य होते हैं। संशय बहुत ही बुरी चीज़ है। यह किसी प्रकार के विश्वास को जमने नहीं देता। भ्रम इससे भी अधिक अनर्थकारी है। संशय जहां लघु मिथ्याज्ञान है वहां भ्रम बिल्कुल उल्टे ज्ञान का नाम ही है। संशय में "इदं वा नेदं वा, स्थाणुर्वा पुरुषो वा" अर्थात् यह ऐसा है या ऐसा नहीं है, यह वृक्ष है या पुरुष है-इत्यादि दो कोटियों का ज्ञान होता है। भ्रम में यह विकल्प नहीं-वहां पर रज्जौ सर्पः' रज्जु में सर्प ही है-की प्रतीति होने से एक कोटि का ज्ञान होता है। यद्यपि संशय भ्रम से प्रथम दर्जे में है, फिर भीं इस की बुराई शास्त्रों में अधिक दिखलायी गयी है। संशयात्मा विनश्यति'= संशयालु स्वभाव वाले का नाश हो जाता है, यह कहावत अत्यन्त प्रसिद्ध है। ऐसा क्यों? इसलिए कि संशय में व्यक्ति त्रिशङ्कु की तरह लटका रहता है; न इधर का न उधर का। इसमें किसी प्रकार का निश्चय नहीं। भ्रम में ज्ञान होता है उल्टा परन्तु एक तरफा रहता, है। संशय में निश्चय नहीं परन्तु भ्रम में निश्चय है। स्थाणु में पुरुष की प्रताति निश्चयात्मिका नहीं परन्तु रज्जु में सर्प की प्रतीति यह दिखलाती है कि यह सर्प ही है। यह 'ही' निश्चयालिङ्गित है इसी लिए संशय को भ्रम से अधिक खतरनाक कहा गया है।

यद्यपि संशय और भ्रम दोनों ही मिथ्या ज्ञान हैं परन्तु इन दोनों में संशय तर्क का उत्थापक होने से ज्ञान का साधक भी है। जब तक संशय न उठे तर्क का उत्थान नहीं होता है। बिना तर्क के वस्तु के याथातथ्य का निर्णय नहीं होता। निर्णय के बिना विश्वास अथवा श्रद्धा का जमना कठिन होता है इसी लिए तर्क के उत्थान में संशय उपकारी है। परन्तु अत्यन्त संशय गर्हित है। मस्तिष्क की वह वृत्ति जो तर्क करती है, बड़ी ही उपादेय है, क्योंकि तर्क सत्यासत्य के निर्णय में सहायक है। बिना तर्क के किसी वस्तु के वास्तविकत्व का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। यही वस्तु के स्वरूपनिर्णय में एक सहायक साधन है। यद्यपि तर्क का महत्त्व अधिक है परन्तु कोरा तर्क भी अच्छा नहीं। शुष्क तर्क की शास्त्र में महा—निन्दा की गयी है। यह बुद्धि को कहीं पर स्थिर नहीं होने देता। बिना बुद्धिस्थैर्य के विश्वास का पांव नहीं जमता। विश्वास के लिये कोरा तर्क विघातक है।

अतः सुष्ठु यही है कि किसी वस्तु के निर्णय के लिए पहिले संशय=जिज्ञासावृत्ति का उत्थान कर तर्क करना चाहिए। उससे वस्तु का निर्णय हो जाने पर तथ्य को ग्रहण करना और अतथ्य को छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार करने सें निर्णीत में विश्वास पैदा होगा और श्रद्धा जमेगी। सत्य का निर्णय करना तो आवश्यक है परन्तु निर्णय हो जाने पर श्रद्धा का होना उससे भी अधिक आवश्यक है। निर्णीत सत्य में श्रद्धा मनुष्य को मनुष्यता से देवतत्व की ओर लेजाती है। मनुष्य इस से देवता बनजाता है। जिससे मनुष्य जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति हो वही तो धर्म है, और अन्य क्या है। जब सत्य का पालन मनुष्य की उस उन्नति का दाता है तब उसे धर्म समझना ही चाहिए। इसी भावना को लेकर लिखा भी गया है कि "नहि सत्यात्परो धर्मः" अर्थात् सत्य से बढ़कर और कोई धर्म-नहीं। जब यह परम धर्म है तो इस में मनुष्य को श्रद्धा रखनी ही चाहिये। इसी में कल्याण है।
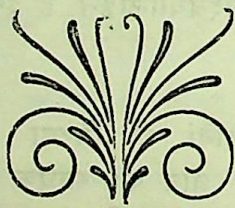
३६

मृत्युञ्जयता का मार्ग

संसार में यह नियम अटूट रूप से देखा जाता है कि जो जन्म लेता है वह मरता है। कोई जन्म लेने वाला मरा नहीं अथवा जो मरा वह कभी जन्मा नहीं था, ऐसा देखने में कभी नहीं आया। बलवान् से बलवान्, ज्ञानी से ज्ञानी को भी मौत के चक्कर में एक दिन आना ही पड़ता है। फिर संसार में तो जन्मने और मरने का सत्र निरन्तर चल ही रहा है। इसी कारण से कि इसमें बराबर जन्म मरण का चक्र चलता रहता है-कभी कभी संसार को भी प्रेत्य-भाव शब्द से उद्घोषित किया जाता है। संसार में यदि कोई महान् दुःख है तो वह मृत्यु है। मृत्यु से बढ़कर और कोई दुःख नहीं। बड़े से बड़े विद्वान् और छोटे से छोटे कृमि को भी वह दुःख त्रासित करता है। यदि इस मृत्यु का कोई प्रतीकार हो सकता तो मानव फिर संसार में किसी बात से नहीं डरता। परन्तु यह है सर्वथा असंभव। हां इतना अवश्य हो सकता है कि इस मृत्यु के आक्रण की भयंकरता को जो समय समय पर डराती रहती है, शिथिल कर दिया जावे। साहित्य की कथाओं में यह सुना जाता है कि देवता अमर होते हैं-परन्तु ऐसा देखने में आया नहीं कि आज तक देव लोग मरे ही नहीं। यदि ऐसा होता तो सृष्टि के आदि से और यही सृष्टि क्यों? अनेक सृष्टि के अमर देवों से संसार भर गया होता। फिर बात इसमें तथ्यभूत क्या है? यही कि देवों को मृत्यु के भयंकर भय पराजित नहीं कर पाते। वे सदा उसका सामना बहादुरी से करते हैं और अपने समय पर ही मृत्यु को आने के लिए बाधित कर देते हैं। सदा का उसका भय दूर होकर समय पर ही उसकी उपस्थिति होती है। वह भी इस लिए कि वह अनिवार्य है और शरीर का धर्म ही है। उन्हें मृत्यु का भय विचलित नहीं कर पाता, । जिस प्रकार शरीर की अन्य कौमार्य, जरा आदि अवस्थायें समय पर आती रहती हैं, वैसे ही मृत्यु भी एक अवस्था बन जाती है- और समय पर अपना कार्य कर जाती है। जब देव लोग भी मरते ही हैं तो फिर उनका अमरपना क्या है? यह प्रश्न लोगों में सहजतः उठ सकता है। इस का समाधान ब्राह्मण-ग्रन्थों किया गया है। शतपथ और ताण्ड्य में अमृत की जो कि अमर पद का पर्याय है, व्याख्या करते हुए यह बतलाया गया है कि यह है मनुष्यों के लिये अमृतत्त्व जो कि सारी आयु प्राप्त होती है। सारी आयु कितनी है? इसका उत्तर मनु ने दिया है "वेदोक्तमायुर्मर्त्यानाम्-अर्थात् मनुष्यों की आयु वही है जो वेदमें कथित है। वेद में सौ शरद् ऋतु तथा उससे भी अधिक अर्थात् तिगुनी आयु कही गयी है। इस आयु को पूर्ण करके मरना ही अमरत्व है। देव लोग नियमों और व्रतों से इसको पूरा करके मरते हैं। अतः

वे मरते हुए भी अमर कहे जाते हैं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए शतपथ १०।२। ६।८ में बतलाया गया है कि जो न्यून से न्यून शत वर्ष अथवा उससे अधिक जीता है वही वस्तुतः अमृत को प्राप्त करता है। इस प्रकार भाव यह निकला कि पूर्ण आयु का भोगना, उसके बीच में मौत का भय बार बार न लगा रहे, समय पर मौत का ग्रास होना पड़े—यही अमरत्व है। इस अमरत्व की प्राप्ति का अमोघ साधन ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य से यह अमरता देवों को प्राप्त होती है। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में लिखा है कि ब्रह्मचर्य, तप आदिके पालनसे मनुष्य सौ वर्षों से अधिक अर्थात् उसकी तिगुनी आयु तक प्राप्त कर सकता है। यह ब्रह्मचर्य, योग आदि इस जीवन में पूरी आयु के भोगने के योग्य जहां बनाते हैं—वहां आगे के लिए मृत्यु-पाश का छेदन करने में भी समर्थता प्रदान करते हैं। मृत्युपाश के छेदन को ही वस्तुः अमरत्व कहा जा सकता है। इस अमरत्व को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य फिर बार बार मृत्यु के चक्र में एक लम्बे समय के लिए नहीं पड़ता। सारतः बात यह निकली कि ब्रह्मचर्य और तप आदि ही इस अमरत्व के साधन हैं। उसके पालन में ही यह मृत्युं-जयता मानव को प्राप्त हो सकती है। अथर्व ११।५।१६ में इसको इस प्रकार दिखलाया गया है-ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य स्वराभरत्॥-अर्थात् ब्रह्मचर्य के तप से इन्द्रियां और विद्वान् मृत्यु के दुःख को नष्ट करते हैं और जीवात्मा इस ब्रह्मचर्य के प्रताप से इन्द्रियों में प्रकाश एवं सुख को धारण करता है। योग में भी ठीक ही कहा गया है कि 'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः' अर्थात् ब्रह्मचर्य का जितना पालन होता है उतना ही मृत्यु के दुःख से पिण्ड छूटता है। ब्रह्मचर्य के पालन में जितनी न्यूनता वर्ती जाती है, उतनी ही मृत्यु के दुःख की संभावना बढ़ती जाती है। ब्रह्मचारी जो ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला है उसके विषय में शतपथ ब्राह्मण में एक बहुत अच्छी बात लिखी है। इस सन्दर्भ से मृत्यु को ब्रह्मचारी किस प्रकार दूर करता है—इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ब्राह्मणग्रन्थकार कहते हैं कि ब्रह्म ने सारी प्रजा को मृत्यु के लिये दिया लेकिन ब्रह्मचारी को नहीं दिया। मृत्यु ने कहा कि ऐसा क्यों? इसमें भी हमें स्थान मिलना चाहिए। ब्रह्म ने कहा जिस रात्रि में ब्रह्मचारी समिधा विना लाये रहे, उस रात्रि में उस की आयु में तुम विघ्न डाल सकती हो। इस लिये ब्रह्मचारी को सदा सायं प्रातः समिधा लाकर हवन आदि करना चाहिए। जिस दिन वह ऐसा नहीं करता अपनी आयु का वस्तुतः क्षय करता है। ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करता हुआ वह आयु को ठीक रखता है और न पालन करता हुआ वह अपनी आयु को क्षींण करता है। मनुष्य को मृत्युञ्जय बनने के लिए ब्रह्मचर्य आदि तपों का पालन करना चाहिए और यही मृतुञ्जयता का वेदादि सच्छास्त्रों द्वारा प्रतिपादित मार्ग है।

३७

देवों की पवित्र पुरी

मानवशरीर वस्तुतः परम पावन और महत्तम उद्देश्यों की पूर्त्यर्थ परमेश्वरद्वारा निर्मित है। इसी लिए इसकी इस महत्ता को समझते हुए मानव को संसार में मानव की भांति, नहीं नहीं, देवबुद्धि से वर्तना चाहिए। प्रत्येक मानव यदि इस मूल्य का अङ्कन कर ले तो संसार स्वर्ग बन सकता है और अशान्ति के सारे वातावरण समाप्त हो सकते हैं। अथर्व १०।२।३१ मे [अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः=आठ चक्रों वाली, नौ द्वारों वाली यह (शरीर) देवों की पुरी अयोध्यापुरी है, उसमें प्रकाश से आवृत्त मोक्ष तक पहुँचाने वाला हिरण्यमय=हितरमणीय कोश है]—मानव-शरीर को चक्रों वाली, देवों की पुरी अयोध्या कहा गया है। अयोध्या यह इस लिए है कि यह अजेय है और इसकी यह अजेयता भी इसलिये है कि यह देवों की पुरी है। जब तक देवों को देवरूप में रखा जाता है और राक्षसों का उसमें प्रवेश नहीं होने दिया जाता तब तक इसको संसार में कोई पराजित नहीं कर सकता। देव सदा से प्रकाशप्रिय हैं जब कि राक्षसों को अन्धकार प्यारा है। देव और निशिचर शब्द से भी ऐसा ही व्यक्त होता है। इसीलिए देवों को देव बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि प्रकाश को बुझने न दिया जाये। जहां प्रकाश बुझा कि राक्षस अवश्य देवों की भूमि में प्रवेश कर जाते हैं। देवों और प्रकाश के इस सम्बन्ध को जताने के लिए ही पूर्वोक्त अथर्ववेदीय मन्त्र में इस अयोध्यापपुरी में प्रकाशमय कोश की कल्पना की गई है जिसमें कि सदा प्रकाश बना रहता है। यही "हिरण्यय कोश" है। इस देवपुरी में कौन से देवता कहां पर निवास करते हैं अथवा कौन सा उनका इस शरीर में स्थान है, इस विषय पर अथर्ववेद ११। ८ के कतिपय मन्त्रों (८-३२) में अच्छा विचार मिलता है। सर्वप्रथम यह प्रश्न मिलता है कि इन्द्र, सोम, त्वष्टा, अग्नि और धाता का अस्तित्व कहां से आया। इन्होंने अपनी शक्ति को शरीर में किस प्रकार स्थान देकर स्थापित किया। फिर ये किस प्रकार से इस शरीर मे रहने लगे। शरीर के कार्यभार को वहन करने वाले और दिव्यस्मृतियों से प्रति दिन सींचने वाले देव पुरुष में 'संसिच' नामक देव के रूप में रहते हैं—ऐसा समाधान भी किया गया है। देवता लोग इस शरीर को गृह बना कर इसमें बसे और वे वीर्य को घृत बना कर शरीर में प्रविष्ट हुए। सूर्य नेत्र के रूप में वायु, प्राण के रूप मे, इस शरीर में प्रविष्ट हैं। इसलिए ज्ञानीजन इस शरीर को ब्रह्म=महान् कहते हैं क्योंकि इसमें सारे देवता

गोष्ठ में गायों की भांति विराजमान हैं। यह तो वेद की बात हुई जो सूत्रवत् है। परन्तु इस धारणा को उपनिषद् ने और भी पल्लवित करने का प्रयास किया है। उसका यह पल्लवन भी अपना नहीं अपितु वेदों के विविध स्थलों से संगृहीत कर एकत्र कर दिया गया है। ऐतरेय उपनिषद् १।२ में यह भाव इस प्रकार मिलता है। उपनिषत्कार कहता है कि अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हुआ और वायु प्राण होकर नासिका मे स्थित हुआ। सूर्य नेत्र बन आंखों मे और दिशायें श्रोत्र बन कर कानों में जा बैठे। औषधि और वनस्पतियों ने त्वचामे स्थान बनाया। चन्द्रमा मन होकर हृदय में मृत्यु अपान होकर नाभि मे, तथा जल वीर्य होकर प्रजननेन्द्रिय में प्रविष्ट हुए। इस प्रकार इन समस्त देवों ने इस पवित्र पुरी में यथास्थान अपना आसन जमाया और शरीर का सारा कार्य बराबर चलने लगा। यह पुरी विश्वकी पुरी से समता रखती है। ये ही देव विश्व में प्राकृतिक शक्तियों के रूप में कार्य कर रहे हैं और ये ही हमारे शरीररूपी पुरी में भी शक्तियां देकर कार्य को चला रहे हैं। विश्वरूपी पुरी में व्यापक इन देवों का देव महान् देव परमेश्वर है जो 'पुरुष' के नाम से व्यवहृत होता है। इस शरीररूपी पुरी में देवों का देव महान् देव परम पुरुष परमेश्वर भी साक्षीरूप में व्याप्त है और इसका भोक्ता तथा अधिष्ठाता जीव भी पुरुष नाम की सार्थकता का लाभ करते हुए विद्यमान है। परमेश्वर करणभाव से रहित होकर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और निर्लेप रूप में है परन्तु जीव इसमें करणभावयुक्त, अल्पज्ञ तथा परिच्छिन्न रूप से इसका भोक्ता होकर इसमें बंधा है। इस पुरी में रहने से ही वह भी पुरुष कहा जाता है। देवगण दोनों पुरुषों की पुरी में कार्य करते हैं परन्तु कार्यों में महान् अन्तर है। इस शरीर में होने वाले नेत्ररूप में घटित सूर्य के कार्य से विश्व की पुरी में होने वाला सूर्य का कार्य बहुत बड़ा है। ऐसा ही अन्तर अन्य देवों के कार्यों में भी है। वेद की इस शैली में एक महान् विज्ञान छिपा है जिसका वर्णन करना यहां पर संभव नहीं, यह तो समय से पुनः कभी किया जावेगा। यहां पर केवल साधारण विचार ही किया जा रहा है। अथर्ववेद में देवताओं के इस शरीर में प्रवेश करने के मार्गों का दिग्दर्शन कराते हुए यह भी ऊपर दिखलाया गया है कि देवों ने रेतः अर्थात् वीर्य को आज्य एवं घी बना कर इस पुरी में प्रवेश किया। यह वर्णन वस्तुतः बहुत ही मनोज्ञ है। विश्वरूपी पुरी में देवों को अग्निमुख कहा गया है। ये अग्नि के द्वारा हव्य पदार्थों को ग्रहण करते हैं। अग्नि भी 'हवि' और आज्य के द्वारा देवताओं के मुख होने के कार्य को पूर्ण करता है। घृत अग्नि में जल कर हवि के सहित देवों का भाग बनता है। देवों का एक विभाग आज्यपा है। यही हाल शरीर में वीर्य का है। शरीर के अङ्ग-अङ्ग मे देव विद्यमान हैं, वीर्य्य भी अङ्ग अङ्ग में विद्यमान है और अङ्ग अङ्ग का रस है। सन्तति भी वीर्य-सेंचन से उत्पन्न होकर अङ्ग-अङ्ग से प्रस्यूत द्वारा उत्पन्न कही जाती के। शरीर से पुत्र आदि शरीर के रूप में इन देवों का गमन इस वीर्य के द्वारा हुआ करता है। अमैथुनी-सृष्टि मे ये देव इस मार्ग का

अवलम्बन नहीं करते परन्तु मैथुनी-सृष्टि में इनका इसी मार्ग से पुत्र आदि के शरीर में जाना होता है। चूँकि वीर्य अ -अङ्ग से सम्बन्ध रखता है अतः देवताओं के लिये यही माध्यम भी ठीक है। इसी माध्यम से ये शरीर के विभिन्न अङ्गो में अपना स्थान पा सकते हैं। इस प्रकार ये देव सदा अपना कार्य इस पुरी में करते रहते हैं। इनमें स्वतः कोई प्रमाद नहीं परन्तु बाहरी वृत्तियों से जब इनमें कोई प्रमाद एवं राक्षसपना घुस जाता है तो इनकी वृत्ति का प्रवाह बदल जाता है। विकारों की बाढ़ मे वह कर ये देव भी राक्षस बन जाते हैं और देवपुरी राक्षसों की पुरी बन जाती है। इस देव-पुरी में राक्षसी भाव न घुसने पावें, इसलिए उपनिषदों में मानव के लिए तीन कर्म बतलाये गये हैं। वे कर्म हैं दान, दया और दमन। इन तीनों के द्वारा मनुष्य मानव बना रहता है और देव देव के रूप में इस पुरी में अपना कार्य करते रहते हैं। पुरी में इससे प्रकाश सदा बना रहता है और देव भी प्रकाशित रहते हैं। प्रकाश का अभाव जब न हो तो फिर देवों को देवत्व से कोई हटा नहीं सकता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह ज्योति को जलते रहने दे, कभी बुझने न दे। ज्ञान की ज्योति सदा जागृत रहने पर इस देवों की पुरी पर किसी का आक्रमण भी नहीं हो सकेगा। मनुष्य को चाहिए कि वह इस पुरी को एक देवपुरी समझ कर देवों की भांति इसमें रहे और इसके महान् उद्देश्य को इसके द्वारा पूरा करे। ऐसा करने से वह देव बनता है और इसीमें उसके जीवन की सफलता भी है। वेदद्वारा इसी मार्ग का प्रदर्शन किया गया है।

३८

अश्वत्थ

आजकल भी हिन्दूजातिमे पीपलकी पूजा होती है। पीपल और तुलसी को पौराणिक दृष्टि से विशेष महत्व दिया जाता है। पौराणिक धारणा के अनुसार तुलसी का सम्बन्ध जहां विष्णु से है और केतकीका सम्बन्ध ब्रह्मासे, वहां पीपल का शिव अथवा वासुदेवसे सम्बन्ध माना जाता है। लोगोंका विचार है कि पीपल के पत्ते पत्ते पर देवता निवास करते हैं। भारत के देहातों में पीपल के वृक्ष को लोग काटने नहीं देते। किसी जातिमें प्रचलित किसी भी कल्पनाका मूल तो कोई अवश्य होना चाहिये। ऐसी कल्पनायें और रूढियां लगभग सभी जातियों में पायी जाती हैं। परन्तु ये मूल वस्तुवों को छोड़ कर विकृत रूप ही होती हैं। तथा कुछ मूर्खतावश वस्तु का रूप ही बदल जाता है। वर्तमान आर्यों में यह प्रथा इसी विकृत रूपमें है। उसके इस रूप में अन्तर है। मूल भावमें यह वर्तमान धारणा नहीं। वेदसे लेकर गीता आदि तक अर्यों का वाङ्मय अश्वत्थकी कल्पना से रिक्त नहीं। यजुर्वेदमें अश्वत्थका वर्णन करके अध्यात्मका उपदेश दिया गया है। उसके बारहवें अध्याय के ७९ मन्त्र में यह दर्शाया गया है कि "जीव. तेरा निवास 'अश्वत्थ' पर है और पत्तेपर तेरी स्थिति है।" जब तक तुम शरीर के दास हो, तब तक तुम्हारी यही अवस्था रहती है।

यह अश्वत्थ क्या है?। वास्तव म यह प्रकृति-रूपी वृक्ष ही अश्वत्थ है भिन्न-भिन्न शरीर उसके पत्ते हैं प्रकृति के विकार परिणामी होनेसे क्षणभंगुर हैं; अतः वे कलपर्यन्त न रहनेवाले कहे गये हैं। 'अश्वत्थ' में भी अ+श्वः+स्थ अर्थात् कल पर्यन्त न रहनेवाला, यही भाव ओतप्रोत है। अश्वत्थके पत्ते बहुत ही चञ्चल होते हैं। संस्कृत-साहित्य में पीपल के पत्ते को 'चलदल' भी कहा जाता है; अर्थात् चञ्चल दल=वृन्तवाले। पता नहीं किस क्षणमें क्या स्थिति हो जाये। अश्वत्थ का अर्थ प्रकृतिरूपी वृक्ष अथवा यह जगत् है—इसके लिये ऋग्वेद १। १६४। २० में आत्मा, विश्वात्मा और जगत् के मूल कारण प्रकृति का अलङ्कारसे वर्णन करते हुए यह बतलाया गया है कि दो उत्तम पर्णवाले पक्षी अपने समान कालमें रहनेवाले एक वृक्षपर बैठे हुए हैं। उनमेंसे एक जीवात्मा उसके स्वादु फलों को खाता है और दूसरा विश्वात्मा उनके फलोंको न खाता हुआ सर्वत्र साक्षीमात्र हो रहा है। यहांपर यद्यपि 'वृक्ष' पदका प्रयोग है अश्वत्थका नहीं। परन्तु वृक्ष क्या है? प्रकृति अथवा उसका विकार जगत् ही अभिप्रेत है। अश्वत्थ नाम भी उसका इसी धारणा से दिया गया प्रतीत होता और है भी सर्वथा उपयुक्त।

प्रकृति के फलों = भोगोंको जो खाता अथवा भोगता है, वह वास्तव में संसार में प्रकृतिमें पड़ा रहा जाता है। अध्यात्मतत्वान्वेषी को उसमें नहीं पड़ना चाहिये और उसे वैराग्य-भावना से रहना ही उचित है।

उपनिषदोंमें कठोपनिषद् अत्यन्त शिक्षाप्रद और अध्यात्मके प्रेमियों के लिये बहुत ही उपयोगी है। उसमें ६। १ में नचिकेता को उपदेश देते हुए महान् अध्यात्मवित् यमाचार्य कहते हैं कि यह एक 'अश्वत्थ' वृक्ष है, जिसकी जड़ें ऊपर को हैं और शाखायें नीचे को हैं। यह वृक्ष अनादिकाल से है उसीमें सारे लोक आश्रित हैं। इस स्थलपर भी वही अश्वत्थ वर्णित है, जो यजुर्वेदमें वर्णित किया किया गया है, इस उपनिषद्का मूल स्रोत भी यजुर्वेद ही है। अतः उस कल्पनाका यहां पर आना कोई आश्चर्यका विषय नहीं। परन्तु जड़ें ऊपर हैं और शाखायें नीचेको-यह यहां पर विशेष विचारणीय है। यहां पर प्रकृतिरूपी वृक्षको समष्टिमें न घटित करके मानव-शरीर में ही घटित कर दिखलाया गया हुआ प्रतीत होता है। मनुष्य-शरीरमें सिर उसका मूल है। कर-चरण आदि शाखायें हैं। मूल ऊपर हैं और शाखाये नीचे हैं। यह जब से संसार है; बराबर प्रवाह रूपसे चला आता हैं, इसी कारणसे इसे सनातन कहा गया प्रतीत होता है। जबतक मानव अपने जीवनकी इस शरीरसम्बन्धी गुत्थीको नहीं सुलझा लेता, शरीर उसके लिये बना ही हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के आचार्यने इस वृक्षके विषयका दिग्दर्शन करते हुए परमात्म-तत्त्व का बहुत ही मनोज्ञ वर्णन किया है। उनका कथन है कि वह परमेश्वर—जिससे यह सारा विश्व-प्रपञ्च प्रवृत्त हो रहा है—उस प्रकृतिरूपी वृक्षके काल और आकृतियोंसे भिन्न है। वह परमतत्त्व धर्मका प्रवर्तक है और अज्ञान आदि पापोंसे दूर है। उसको प्राप्तकर उपासक भवबाधाओंसे मुक्त हो जाता है।

गीता १५। १ में 'अश्वत्थ' का विशेष पल्लवन किया है। गीतामें उपनिषदों के सिद्धान्तोंका संग्रह है। उपनिषद्में इस वृक्षका वर्णन आया है; ऐसा ऊपर दिखलाया गया है। गीतामें भी उसका आना ठीक ही है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि ऊपर मूल और नीचे शाखाओंवाला एक अश्वत्थ है, जो अव्यय है। जो उसको जानता है, वह विज्ञ है। इस वृक्षका विशेष वर्णन करते हुए वहां यह भी दिखलाया गया है कि इसकी शाखायें चारों तरफ फैली हुई हैं। सत्व, रजस् और तमस् गुणोंसे ये वृद्धिको प्राप्त हो रही हैं। संसार के विविध विषय और भोग इस वृक्षकी कोपलें हैं। नाना योनियां इसकी जड़ें हैं, जो मनुष्य-लोकमे विस्तृत हो रही हैं। परंतु संसारावस्थामें इसका विस्तार इतना है कि इसका वास्तविक रूप और इसका आदि-अन्त नहीं दिखलायी पड़ता। जो मनुष्य ज्ञान-वैराग्य के शस्त्रसे इस 'अश्वत्थ' के दृढ़ मूलको काट देता है, वह परमपदको प्राप्त करता है। गीताका सन्दर्भ वास्तवमें वेद और उपनिषदोमें कहे गये उस अश्वत्थ वृक्षका विस्तार है। अश्वत्थ वृक्षके प्रकृति होनेमें जो कुछ सन्देह रह गया था, वह भी इसमें "गुणप्रवृद्धाः" और विषयप्रवालाः" विशेषणोंसे खोल दिया गया है। सत्व, रजस्

और तमस् गुण प्रकृतिके ही हैं। ये ही इस संसार-वृक्षको अभिवृद्धि देनेवाले हैं। इन गुणोंमें क्षोभ होकर विषमावस्था उत्पन्न होती है और जगत् की उत्पत्ति होती है। गुणोंकी साम्यावस्थामें प्रकृति अपने स्वरूपमें रहती है और संसार प्रलयावस्थामें रहा करता है। संसार-दर्शनकी यही विचारधारा है, जो दर्शनिक क्षेत्रमें अपना एक अद्भुत स्थान रखती है। संसारके प्रत्येक पदार्थको, जो इन्द्रियोंका विषय है, विषय-पदसे कहा जाता है। वस्तवमें भोग ही विषय हैं। प्रकृति-वृक्षमें विषयरूपी फल लगा करते हैं। पुरुष संसारमें इन विषयोंको भोगता है और बन्धनका अनुभव करता हैं। बन्धन और मोक्ष विषयोंसे संसर्ग और विनिवृत्ति हैं। परन्तु हैं ये बड़े आकर्षक और स्वादु, इसी कारण इन्हें प्रकृतिरूपी वृक्षका कोपल कहा गया है।

वेदोंकी शाखाओंका अध्ययन करनेपर पता चलता है कि उनमें जगत् की प्रागवस्थाके विषयमें विविध प्रश्नोत्तर पाये जाते हैं। एक स्थलपर इस प्रकार प्रश्न किया गया है, कि इस जगत् की रचना किस वनके किस वृक्षसे की गयी है? उत्तरमें कहा गया कि ब्रह्म नामका वन है और उसमें प्रकृति नामका वृक्ष है, जिसकी लकड़ियोंसे इस दृश्यमान जगत्की रचना हुई। प्रकृतिको वृक्षके रूपमें वर्णन करने की परम्पराका ही फल है कि आज मूल भाव को न जानने से पीपलके वृक्षकी पूजा हिंन्दुओंमें होने लगी। प्रकृतिको अश्वत्थ कहनेमें एक दृष्टिकोण यह भी है कि उसका प्रत्येक विकार क्षणभंगुर होनेसे काल और देशसे सीमित है। जो वस्तु काल और देशके परिच्छेदमें आती हैं, वह शाश्वतिक तो कही नहीं जा सकती। फिर भी, इस वृक्षको जो अव्यय आदि विशेषणों से युक्त किया गया है, उसका कारण प्रवाहरूपसे इसकी अनादिता है। परिणामों के बदलते हुए भी प्रवाह अनादि है। अश्वत्थका अर्थ पीपल भी लौकिक साहित्य में प्रसिद्ध है। पीपलके प्रत्येक पत्रपर देवताओं का वास मानना ठीक प्रकृतिकी ही कल्पनाका विकृत रूप है। प्रकृतिवृक्षके प्रत्येक अंशपर वास्तवमें अनेक जीवों और दिव्य शक्तियोंका वास है। वासुदेव भी उस परमतत्वका कल्पित रूप है, जो वास्तवमें प्रकृति-वृक्षपर बैठा हुआ उसके फलो को नही खाता और उसका साक्षी हो रहा है। वैदिक कालमें यह अश्वत्थ की कल्पनाका एक दार्शनिक रूप था, परन्तु पाश्चात्कालिक भारतमें वह दार्शनिकता तो समाप्त हो गयी केवल पीपलका वृक्ष और उसकी पूजा रह गयी। कुछ भी हो, कल्पनाका उद्देश्य बहुत ही उत्तम था। विश्वकी पहेलीको इससे अधिक सरल ढगपर और समझाया ही कैसे जा सकता था। यह है "अश्वत्थ" जिसका यहाँ थोड़ा सा विवेचन किया गया।

३९

ब्रह्मवित् कौन है ?

ब्रह्मवित् कौन है ? यह एक जटिल प्रश्न है, जिसका समाधान भिन्न भिन्न प्रकार से आचार्यों ने करने का प्रयत्न किया है । अथर्ववेद में इसका समाधान एक मन्त्र मे इस प्रकार किया गया है—यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोता प्रजा इमाः । सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत् । अथर्व० १० । ८ । ३७ अर्थात् जो इस वितत (फैले हुए) सूत्र=नियम को जिसमें सारी प्रजायें ओत प्रोत हैं, जानता है और उस सूत्र के संचालक सूत्र को भी जानता है, वह हीं ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मवित् है । बृहदारण्यक ३ । ७ वें ब्राह्मण में भी इस सूत्र का प्रश्न उठाया गया है । वहां पूछा गया है कि हे काप्य ! क्या तू उस सूत्र को जानता है जिससे यह लोक परलोक और प्राणी ग्रथित हैं । नकारात्मक उत्तर मिलने पर पतंजल ने सूत्र की प्रशंसा करते हुए कहा कि हे काप्य जो भी ज्ञानी उस सूत्र के सूत्र (अन्तर्यामी) को जानता है वह ब्रह्मवित्, लोकवित्, वेदवित्, भूतवित् और देववित्, आत्मवित् और सर्ववित् हो जाता है । गन्धर्व ने कहा कि वह उस सूत्र को जानता है; और याज्ञवल्क्य से संकेत करते हुए उसने कहा कि यदि उस रहस्य को विना जाने ब्राह्मणों के निमित्त लाई गई गौवों को वह ले जायगा तो उसे इस अनभिज्ञता के कार्य पर ज्ञानियों के समक्ष लज्जित होना पड़ेगा । परन्तु याज्ञवल्क्य ने एक न सुनी और कहा कि मैं उस सूत्र को जानता हूँ । पूछने पर उन्होंने कहा कि वह सूत्र 'वायु' है जिससे यह लोक और परलोक ग्रथित हो रहे हैं । सबका बन्धन सूत्रात्मा वायु ही है । इसीलिये मरे हुये पुरुष में इसका अभाव हो जाने से उसके सारे अंग ढीले पड़ जाते हैं । अतः 'वायु' अंगो को ग्रथित रखता है । सूत्र के सूत्र अर्थात् अन्तर्यामी के विषय को बताते हुए याज्ञवल्क्य ने अन्तर्यामी परमेश्वर का विशद वर्णन किया । यही वेदान्त-दर्शन में अन्तर्याम्यधिकरण में भी वर्णित किया पाया जाता है ।

अस्तु ! शब्दों का जो भी भेद हो. परन्तु बात वही कही गई ज्ञात पड़ती है जो ऊपर वेद में कही गई है । सूत्र और सूत्र के सूत्र को जानने वाला ब्रह्मवित् होता है और उसके लिये दृश्य और अदृश्य जगत् के सारे रहस्य खुल जाते हैं । वह सूत्र क्या है ? याज्ञवल्क्य ने वायु बतलाया । वायु से ऋषि का तात्पर्य कार्यकारण-भावात्मक-धारक प्रकृतिशक्ति अभिप्रेत जान पड़ता है । हम शब्दान्तर से अन्य नियमों का भी ग्रहण कर सकते हैं । हम उसें ऋत-सूत्र भी कह सकते हैं । ऋत का अर्थ ज्ञानपूर्वक-

नियम है जो सृष्टि में कार्य कर रहा है। अंग्रेज़ी में इसे Laws eternal कहा जा सकता है जिससे समस्त विश्व (Universe) संचालित हो रहा है। वेदों में ऋत से ज्ञानमय ईश्वरीय नियम ही अभिप्रेत है। ऋग्वेद में इस 'ऋत' की बड़ी महिमा गायी गई है। इसके ही आधार पर समस्त संसार का संचालन बतलाया गया है। यही वास्तव में संसार का संचालन-सूत्र है। ऋग्वेद में यहां तक बतलाया गया है कि हरी घास खाने वाली लाल गायें भी सफेद दूध 'ऋत' के वश में होकर उत्पन्न करती हैं। इस वर्णन से ऋत' का भाव स्पष्ट हो जाता है।

वस्तव में संसार में वितत नियम-सूत्र 'ऋत' है और संसार उसकी तुलना की परिभाषा में 'सत्य' है। ऋत और सत्य का ही यह समस्त जगत् खेल है। सत्य=प्रकृति परिवर्तनशील है परन्तु ऋत परिवर्तनरहित है। प्रकृति के परिणाम ऋत के अन्तर्गत बदलते रहते हैं परन्तु 'ऋत' अटूट अटल रहता है। उदाहरणार्थ पानी, वाष्प, बरफ और पुनः पानी के रूप में परिवर्तित होता है परन्तु यह नियम कि अमुक तापांश पर ये परिवर्तन पानी में होंगे, अपरिवर्तनीय है। यही हाल 'ऋत' और सत्य का भी है। प्रकृति इतनी व्यापक विशाल है कि उसके समस्त परिणामों का एक एक करके जानना कठिन है। उनके ज्ञान के लिए 'ऋत' का समझना आवश्यक जान पड़ता है। ऋत के समझ लेने से उसके सारे परिणाम आसानी से समझे जा सकते हैं। समूचा विश्व प्रकृति का परिणाम है, उसे समझने के लिये सूत्र का समझना आवश्यक है। प्रकृति के सत्व, रजस् तमस्, गुण इतने चांचल और परिणामशील हैं कि उसके परिणाम ज्ञान में पकड़े नहीं जा सकते। क्षण में अगणित परिणाम दृष्टि-पथ में आ जाते हैं। बहुत से ऐसे आन्तरिक परिणाम घटते रहते हैं, जिनका हमें अस्तित्व भी प्रतिभात नहीं होता। परन्तु ये सब के सब अनर्गल नहीं हैं, एक नियम के अन्दर । उस नियम के अध्ययन से ये सब अधीत हो जाते हैं। यह नियम 'ऋत' है।

ऊपर कहा गया है सूत्र तो ऋत हुआ, फिर सूत्र का सूत्र क्या है? इसका समाधान है कि 'अन्तर्यामित्व'। परमात्मा का अन्तर्यामित्व ही समस्त सूत्र का सूत्र है। वही इस सूत्र में समस्त विश्व के पदार्थों को मणि की तरह पिरो कर चला रहा है। सूत्र की शाश्वतिक अक्षुण्णता का कारण भी अन्तर्यामी की अन्तर्यामित्व शक्ति है जो अन्दर अन्दर सूत्र को अक्षुण्ण रूप में स्थिर रखती है। इस अन्तर्यामी शक्ति को ही वेदों में ऋतस्य गोपाः अर्थात् ऋत का पालक कहा गया है। ऋत पूर्वोक्त नियमसूत्र है और उसका पालक अन्तर्यामी स्वयं है। ऋतस्य-गोपाः" को अंग्रेज़ी के शब्दों में 'Upholder of laws eternal कहा जा सकता है।

यह सूत्र ही ज्ञानात्मक सूत्र भी है। समस्त ज्ञान इस के अंश हैं। प्रकृति या उसके कार्य विश्व का ज्ञान परिणामी है। वह देश, काल, शब्द और वितर्क से युक्त

है । परन्तु ऋत में यह बात नहीं । प्रकृति के किसी परिणाम के ज्ञान को लीजिये, वह किसी वस्तु का होगा, फिर वस्तु किसी देश में और किसी काल में होगी। उसमें नाम-रूपात्मकता होगी । वह विशुद्ध ज्ञान न हो कर शब्द, अर्थ और ज्ञान से संकीर्ण होगा। घट कहने से घट शब्द, घट अर्थ और घट ज्ञान तीनों संकीर्ण पाये जाते हैं । वास्तविक घट जो अवयवी रूप है; वह उस ज्ञान का विषय है जो समाधिप्रज्ञा कहा जाता है। हमें प्रकृति परिणामों का जो भी ज्ञान होता है वह प्रकृति के इन्द्रिय परिणामों द्वारा होता है । ये इन्द्रियां मन आदि, स्वयं परिणाम होने से देश और काल की सीमा से परे नहीं जाते । मन को एक समय में कई वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता । यह उसकी न्यूनतायें उसे सर्वज्ञातृत्व से परे रखती हैं । इसीलिये सर्वज्ञातृत्व के विना समस्त प्रकृति का ज्ञान भी नहीं हो पाता । समाधि में मन के निर्धूत हो जाने से जब उसकी यह न्यूनता भी दूर हो जाती है तो उसमें भ्रम का अभाव हो जाता है और एक काल में अनेक वस्तुओं का अक्रमोपारूढ ज्ञान होता है । समाधि में जो प्रज्ञा प्राप्त होती है, उसका नाम ऋतम्भरा है । यह ऋतम्भरा भी ऋत से सम्बद्ध है, इसीलिये मन में इस अवस्था में सर्वज्ञातृत्व आ जाता है । 'ऋतम्भरा' के उदय से वास्तव मे 'ऋत' का प्रकाश मन में आ जाता है और इसीलिये देश काल की सीमा वहां समाप्त हो जाती है और उस समय मन को सर्वविषय (Omni-Objective) सर्वथाविषय (Immediate) और अक्रमोपारूढ (Simultaneous) ज्ञान होता है ।

इस प्रकार यह परिणाम निकला कि जिससे समस्त प्रजा, लोक और परलोक सभी ओत है, यह सूत्र 'ऋत-सूत्र' है । इस ऋतसूत्र का सूत्र अन्तर्यामि सूत्र है । अन्तर्यामिसूत्र अन्तर्यामी प्रभु की अपनी शक्ति है । ऋत से समस्त प्रकृति और जीवों का परिज्ञान होता है । इस सूत्र के अभ्यन्तर विद्यमान सूत्र तक यह पहुँचता है । जब इस सूत्र के संचालक सूत्र के सूत्र का ज्ञान हो जाता है तो अन्तर्यामी परमेश्वर का ज्ञान होता है । उसके ज्ञान से समस्त रहस्य खुल जाते हैं । तस्य भासा सर्वमिदं विभाति " (उसके प्रकाश से सब प्रकाशता है) तस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' [उसके जान लेने पर सबकुछ जान लिया जाता है] की उक्ति के अनुसार सब कुछ जान लिया जाता है । फिर कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती है ।

उपनिषद् का यह कहना कि सूत्र और अन्तर्यामी का जानने वाला ब्रह्मवित्, लोकवित्, वेदवित्, देववित्, भूतवित्, आत्मवित् और सर्ववित् हो जाता है, ठीक ही उतरता है।

ऋतसूत्र के ज्ञान से ब्रह्म का ज्ञान होता है। दोनों के ज्ञान के हो जाने पर लोकों और अपने शरीर में संचालित तत्वों का परिज्ञान होता है। दैविक और भौतिक जगत् भी सूत्र के ही अन्तर्गत हैं अतः उनका भी परिज्ञान होना कठिन बात नहीं। प्रकृति के दैविक, भौतिक परिणामों के ज्ञान होने पर आत्मा का ज्ञान होना स्वभाविक ही है। ऋतसूत्र ब्रह्म, आत्मा का ज्ञान हो जाने पर सर्ववित्पना तो हो ही जाता है। उस समय कोई वस्तु ऐसी नहीं रह जाती जो इनसे अतिरिक्त सर्व शब्द से कही जासके। यही तो वास्तव में सर्व हैं। यह सर्ववित् पद सर्वज्ञातृत्व की अवस्था का द्योतक हैं। उस समय ज्ञेय शेष नहीं रह जाता हैं, सब कुछ ज्ञात हो जाता है।

निष्कर्ष– अन्ततो-गत्वा यह निकला कि ब्रह्मवित् वही है जो संसारसंचालन सूत्र के सूत्र को जानता है। इनके ज्ञान वाले को ही वास्तव में ब्रह्मवित् समझना चाहिए। विना सूत्र के ज्ञान के ब्रह्म का ज्ञान बड़ी ही कठिनाई से होता है। ऋतसूत्रज्ञ ही ब्रह्मवित् है।

४०

लाजा-होम अवैदिक नहीं

कुछ दिन हुए कि सार्वदेशिक तथा अन्य पत्रों ने एक शंका कठाई थी। शंका का संबन्ध संस्कारविधि में होने वाले विवाह-प्रकरणस्थ लाजा-होम की वैदिकता के विषय में था। शंका करने वाले महानुभाव का कथन था कि महर्षि दयानन्दजी ने यजुर्वेद १९ वें अध्याय के ८१ वें मंत्र के भाष्य में लिखा है कि भुना हुआ सूखा अन्न आदि होम करने के योग्य नहीं होता, और दूसरी तरफ संस्कारविधि में 'इमांल्लाजानाव पाम्यग्नौ आदि पारस्करगृह्यसूत्र के मंत्रों से लाजा होम का विधान किया गया है। यदि महर्षि के भाष्यानुसार वेद की पूर्वोक्त सम्मति होम में लाजा (जो कि भुना हुआ सूखा अन्न है) छोड़ने के विपरीत है तो फिर यह पारस्कर-प्रतिपादित लाजा-होम अवैदिक है, अतः इसे नहीं करना चाहिये।

पूर्वोक्त शंका वास्तविक है। जिस सज्जन ने उसे उठाया उन्होंने पूरे विचार के बाद ही उठाया होगा, इस में संदेह करने की आवश्यकता नहीं। कई उत्तरदाताओं ने यह लिखा कि शंकाकर्त्ता ने ध्यान से इन स्थलों को नहीं देखा परन्तु यह बात सर्वथा ठीक नहीं। शंकाकर्त्ता ने जो लिखा है वह ठीक देख कर ही लिखा है। महर्षि-भाष्य में स्पष्ट "भुजा हुआ सूखा अन्न आदि होम करने योग्य नहीं होता" ऐसे शब्द पड़े हैं। इससे यह सिद्ध है कि शंका ठीक है। रही बात उसके समाधान की इसी का आगे की पक्तियों में प्रयास किया जाता है।

समाधान

मेरे माननीय मित्र एक वैदिक विद्वान् ने इस शंका का समाधान लिखा जो कि स्यात् सार्वदेशिक पत्र में छप भी चुका है। उस मे उन्हों ने यह समाधान दिया है कि पूर्वोक्त मंत्र में ज्ञान-दान-यज्ञ का वर्णन है इन साधारण यज्ञों का नहीं-अतः वहां महर्षि का आशय यह है कि ऐसे ज्ञानदान यज्ञ में भुंजे हुए अन्न की आहुति नहीं दी जाती। समाधानकर्त्ता ने बात तो बड़ी अच्छी सुझाई और ऐसी सूझ की अवश्य प्रशंसा करनी चाहिए। परन्तु विचारणीय बात यह है कि क्या शंका का इससे समाधान हो गया ? यदि वहां ज्ञान-यज्ञ का वर्णन है तो फिर सूखे भुने हुए अन्न होम के योग्य नहीं होते इस निषेध की आवश्यकता क्या। क्योंकि ज्ञान-यज्ञ में तो होमद्रव्य की आहुतियां देनी प्राप्त ही नहीं हैं। दूसरे स्वामीजी महाराज ने यह

भी तो साथ ही भाष्य करते हुये लिखा है कि चर्म और मांस भी होम के योग्य नहीं होते। यदि ज्ञानयज्ञ का ही वहां पर वर्णन है तो फिर चर्म और मांस के हवन से वहां सम्बन्ध ही क्या है, कि इसका निषेध लिखने की आवश्यकता पड़ी। चर्म, मांस तो किसी भी लौकिक वैदिक यज्ञ में नहीं पड़ते। महर्षि ने पूर्वोक्त मंत्र में आए हुए त्वक्, मांसम् और लाजाः, शब्दों के ही अर्थ चर्म, मांस और भुजा हुआ सूखा अन्न किया है।

यदि ऋषि ने इस मंत्र का अर्थ ज्ञान-दान मात्र में किया होता तब तो समाधान किसी अंश में खड़ा हो सकता था। लेकिन जब महर्षि ने उस मन्त्र का अर्थ ही आधियाज्ञिक किया है तो फिर शंका ज्यों की त्यों बनी ही रही। मन्त्र का भाष्य प्रारम्भ करने से पूर्व महर्षि संगति - वाक्य में लिखते हैं कि "कौन पुरुष यज्ञ करने योग्य हैं इस विषय को [लिखा जाता] है। यहां पर तो ऋषि ने सीधा याज्ञिकप्रक्रिया में ही अर्थ दिखलाया है फिर ज्ञानयज्ञ की कल्पना करके समाधान करना विचारान्तर और अपने मन की मानी बात का समाधान करना है न कि पूर्वोक्त शंका का। शंकाकर्त्ता ने तो महर्षि के अर्थानुसार शंका की है, अतः उत्तर भी उसी के अनुरूप होना चाहिए।

यह ठीक है कि मन्त्रो का अर्थ इस ज्ञान-दान प्रक्रिया में भी त्रिविध प्रक्रिया के सिद्धान्तानुसार होता है परन्तु याज्ञिकप्रक्रिया में भी तो मन्त्र का अर्थ होगा ही। अतः केवल ज्ञानदान यज्ञ का वर्णन मान कर समाधान करने पर भी तो जब मन्त्र का याज्ञिक प्रक्रिया में यज्ञविषयक अर्थ किया जायगा तो पूर्वोक्त शंका पुनः समक्ष उपस्थित होगी। इसलिए अर्थान्तर का सहारा न लेकर मेरे विचार में याज्ञिक अर्थ से ही समाधान किया जाना चाहिये। ऋषि ने मांस, त्वक् और लाजाः शब्दों के अर्थ क्रमशः मांस, चर्म और भुजा सूखा अन्न किया है परन्तु विद्वान् महोदय ने अर्थ उसके विपरीत ही दिया है। माननीय मित्र आगे और भी लिखते हैं कि उन्हों ने स्वामीजी के भाष्य को स्पष्ट किया है परन्तु भाष्य देखने से पता चलता है कि भाष्य उन के स्पष्टीकरण की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। भाष्य में यज्ञ करने वाले पुरुष की योग्यता और यज्ञ में पड़ने और न पड़ने वाली वस्तुओं का वर्णन है। उक्त लेखक का लेख तो याज्ञिक पुरुष की योग्यता का ही संस्थापक है जो कि मंत्र का एक विषय-भाग है यदि इतना ही तात्पर्य है, जो लेखक ने लिखा है तो फिर नीचे की पंक्तियों का जो भाष्य में लिखी हैं, क्या अर्थ किया जायगा! "वह हवनरूप यज्ञ ऐसा है कि जिसमें मांस, क्षार, खट्टे से भिन्न पदार्थ वा तीखा आदि गुणरहित, सुगन्धि, पुष्ट, मिष्ट तथा रोग नाशकादि गुणों के सहित हो, वही हवन करने के योग्य होवे" ये पंक्तियां प्रकट करती हैं कि यहां यज्ञ का स्पष्ट वर्णन है। इससे उक्त लेखक की कल्पना समाधान पक्ष के अनुकूल नहीं पड़ती, समाधान तो दूर रहा और भी शंकायें बढ़ सकती हैं।

इस शंका का समाधान करने से पूर्व यह आवश्यक है कि मंत्र और महर्षि के भाष्य की स्थिति को पूरा पूरा समझ लिया जावे। महर्षि के कथनानुसार मंत्र मे "कौन पुरुष यज्ञ करने योग्य हैं" इस विषय का वर्णन है। उनके अनुसार भाषा में पदार्था-नुसार मंत्रार्थ यह है। हे मनुष्यो! अच्छे प्रकार देने वाले, पढ़ने पढ़ाने और परीक्षा करने वाले तीन विद्वान् लोग उत्तम प्रजा और कर्मों के साथ बहुत प्रकारों से जिस यज्ञ को और दीर्घ लोमो के साथ लोमो को धारण करें, उस इस यज्ञ के नाशरहित रूप को तुम लोग जानो। यह बालकों से नहीं अनुष्ठान करने योग्य [है] और इसके मध्य त्वचा, मांस और लाजाः=भुजा हुआ सूखा अन्न आदि होम करने योग्य नहीं होता, इस को भी तुम जानो।

इस भाष्य-संदर्भ से मंत्र का आशय यह हुआ कि जो बहुत काल-पर्यन्त दाढ़ी मूँछ धारण पूर्वक ब्रह्मचारी अथवा पूर्णविद्या वाले जितेन्द्रिय भद्र जन हैं, वे ही यज् धातु के अर्थ को जानने योग्य अर्थात् यज्ञ करने योग्य होते हैं अन्य बालबुद्धि अविद्वान् नहीं हो सकते, वह हवनरूप यज्ञ ऐसा है कि जिसमें मांस, क्षार, खट्टे से भिन्न पदार्थ वा तीखा आदि गुणरहित सुगन्धि पुष्ट मिष्ट तथा रोग नाशकारी गुणों से सहित हो, वही हवन करने योग्य होवे। यह आशय ही महर्षि के इस मंत्र के भावार्थ में दिया है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि कौन पुरुष यज्ञ करने योग्य है और कौन सी वस्तुयें यज्ञ में नहीं छोड़नी या छोड़नी चाहिए। विद्वान् जितेन्द्रिय पुरुष यज्ञ करने योग्य है। मिष्ट आदि पदार्थ यज्ञ में आहुतिरूप में देने चाहिए, मांस, त्वक् और सूखे भुजे अन्न आदि नहीं।

यहां पर शंका करने वाले सज्जन का आशय अब स्वयं उपस्थित हो जाता है कि जब सूखा भुना अन्न यज्ञ में नहीं डालना मंत्र और महर्षि भाष्य में लिखा है तो फिर लाजा हवन में क्यों छोड़ा जावे। शंका को एक और कारण से भी पूरा अवकाश मिलता है कि मंत्र में "लाजाः" शब्द ही पड़ा है। इसका ही अर्थ महर्षि ने भुजा हुआ सूखा अन्न किया है। जब महर्षि ने लाजा शब्द के ही अर्थ भुजे सूखे अन्नादि कर के उसको होम करने के अयोग्य लिखा है तो फिर वास्तव में लाजा होम की प्रक्रिया विचारणीय हो जाती है। अतः इसी विचारणीय विषय पर अधिक प्रकाश डाला जाता है।

हवन में लाजा छोड़ा जाना पूर्ण वैदिक है

पूर्वोक्त शंका कि हवन में, भुना सूखा अन्न होने से लाजा महर्षि और वेद के अनुसार नहीं छोड़ा जा सकता, निर्मूल हो जायगी, यदि यह प्रमाणित कर दिया जाय कि वेद और महर्षि दोनों ही लाजा का हवन में डालना स्वीकार करते हैं। संस्कार-

विधि या गृह्यसूत्रों में जहां भी लाजा-होम का विवाह में वर्णन है वहां धान के लाजा का ही प्रायः ग्रहण है। भुना हुआ धान ही लाजा शब्द से वहां अभिप्रेत है। भुने हुए धान को लाजा मान कर ही पारस्कर का वह लाजाहोम वाक्य विनियुक्त है। भुने हुए धान को यज्ञ में डालने का विधान वेद में है। इस के अतिरिक्त भुने हुए सूखे अन्न का भी डालना सिद्ध है और इसी आधार पर ज्वार का लाजा भी ऋषिने डालने को लिखा है। प्रमाण के लिए वेद मंत्र उपस्थित किया जाता है।

धानाः करम्भः सक्तवः परीवापः पयो दधि।
सोमस्य रूपम् हविषु आमिक्षा वाजिनम्मधु॥

यजुः १९। २१

इस मंत्रका अर्थ करनेसे पूर्व महर्षि संगतिवाक्य यें लिखते हैं, इसमें कौन पदार्थ होम के योग्य है, विषयको [लिखा जाता है]। यहां पर होमयोग्य द्रव्य का महर्षि ने वर्णन किया है। वे द्रव्य मन्त्र में धान, करम्भ, सक्तु, परीवाप, पय; दधि, आमिक्षा और मधु आदि कहे गए हैं। इस पर पूरा भाष्य महर्षि का पाठकजन स्वयं देखें। यहां पर संक्षेप में ही वर्णन किया जाता है। महर्षि ने "धानाः" का अर्थ भुने हुए अन्न किया है और "सक्तवः"का अर्थ सत्तू किया है और इन्हें होम का पदार्थ बतलाया है। यदि पहले कहे गए मान्त्रानुसार भुने सूखे अन्न का हवन में डालना निषिद्ध होता तो फिर इस मंत्र में स्वयं महाराज जी द्वारा भुना अन्न और सक्तु होम द्रव्य क्यों कहा जाता। क्या ये भुने सूखे अन्न नहीं। यहां पर यह बात इस मन्त्रप्रमाण और महर्षि के वाक्य से सिद्ध हो गयी कि भुना हुआ सुखा अन्न होम में पड़ सकता है, अतः यह भी सिद्ध है कि लाजाहोम वैदिक है। परन्तु एक और विचारणीय बात उपस्थित हो जाती है, कि दो विरुद्ध बातें महर्षि ने स्वयं वेदभाष्य में कैसे कहीं, इसका परिहार इस प्रकार है। लाजा शब्द से सब चीजों के लावे का अर्थ साधारणतया लिया जाता है। पहले १८। ८१ वें मन्त्र में महर्षि का लाजा शब्द से अभिप्राय है भुने धान से इतर अन्य लाजों का। अर्थात् धान के लाजे और ज्वार के अतिरिक्त अन्य भुजे सूखे अन्न मक्की के लावे आदि हवन में नहीं डाले जाते। धान का लावा(भुना सूखा धान)और भुने सूखे यव का सत्तू आदि हवन में पड़ सकता है। इसी विचार से ऋषि ने १९। २१ में 'धाना" का अर्थ भुने सूखे अन्न किये हैं और उसे हवन में डालने योग्य कहा है। अतः यह स्पष्ट है कि सामान्यतया सब लाजों का निषेध है परन्तु धान या विकल्प मे ज्वार के लाजे आदि विशेषतया हवनमें पड़ सकते हैं। सामान्य लावे मक्की आदि हवन के द्रव्य नहीं परन्तु विशेष विधियों में धान के लावे आदि का हवन होता है। इन पंक्तियों में प्रमाणद्वारा यह सिद्ध किया गया कि लाजाहोम जो संस्कारविधि में लिखा गया है वेदानुकूल और महर्षि सम्मत है। इस विषय में कुछ विशेष बातें आगे कही जाती हैं।

विशेष

पूर्व कहा गया है कि लाजा हवन वेद और महर्षि सम्मत है अब अन्य प्रकार से विचार किया जाता है। १९। ८१ मन्त्र और १९। २१ दोनों ही मन्त्र

यजुर्वेद १९ वें अध्याय के हैं। ८१ वें में महर्षि ने लिखा कि यह वस्तु हवन में नहीं पड़नी चाहिये परन्तु उससे पूर्व २१ वें मंत्र में पड़ने वाली वस्तुओं को भी बतलाया है। परन्तु यह बात यहां पर उपस्थित होती है कि क्या यह लाजा और सक्तू आदि सामान्य यज्ञों की सामग्री है? तो संस्कार विधि में इनका वर्णन न कर अन्य सामग्रियां क्यों लिखी गयीं। इसका उत्तर यह है कि ये सामग्रियां विशेष हैं। सामान्य का मिश्रित वर्णन ऋषि ने दोनों मंत्रों के भावार्थ में कर दिया है जो दोनों जगहों पर समान हैं और संस्कार विधि में भी उन्हीं का वर्णन है। पूर्वोक्त मंत्र जिस १९ वें अध्याय के हैं वह और २० वां अध्याय दोनों ही याज्ञिक प्रक्रियानुसार "सौत्रामणी" याग में विनियुक्त हैं। इनमें सौत्रामणी-विषयक विधि का वर्णन है साथ ही विशेष सामग्री का भी वर्णन कर दिया गया है। इस सौत्रामणी का वर्णन कात्यायन श्रौत सूत्र की १९ वीं कण्डिका में किया गया है। इसी का वर्णन शतपथ ब्राह्मण १२। ७ में किया गया है। यजुर्वेद के इन्हीं अध्यायों के मन्त्रानुसार प्रक्रियायें दोनों में बर्ती गई हैं। यजुर्वेद के १९ वें अध्याय में २१ मंत्र में उसी सौत्रामणी-विषयक सामान का वर्णन है। २१ वें मन्त्र में धान, करंभ, सक्तू, परीवाप, पय, दधि, आमिक्षा और मधु आदि तथा १४ वें मंत्र में मासर और नग्नहु का वर्णन है। इसी प्रकार इस के रूपान्तर में कर्कन्धु आदि चूर्णों का भी वर्णन है। ८१ वें में शष्प और तोक्म का वर्णन है। इनका यथास्थान यथाप्रकरण प्रयोग सौत्रामणी में कात्यायन श्रौतसूत्र और शतपथब्राह्मण में बतलाया गया है। शतपथ ने कुछ एक की बड़ी उत्तम व्याख्या भी कर दी है। इस प्रकार सौत्रामणी में पूर्वोक्त द्रव्यों का उपयोग होता है। याज्ञिकों के अनुसार इनका अर्थ भी दे दिया जाता है। विरूढ, व्रीहि, धान शष्प है। विरूढ यवों को तोक्म कहा जाता है। भुने हुए धान को लाजा कहते हैं। सर्ज की छाल, त्रिफला, शुण्ठी, पुनर्नवा, चतुर्जातक, पिप्पली, गजपिप्पली, वंशावका, वृहच्छत्रा, चित्रका, इन्द्रवारुणी, अश्वगन्धा, धात्यक, यवानी, दोनों जीरा, दोनों हरिद्रा, विरूढ़ यव और व्रीहि एक कर देने पर "नग्नहु" कहलाते हैं। धान और श्यामक के चावल को बहुत अधिक जल में पकाकर चरु बना लेने पर इन दोनों भातों का जो बहुत पतला ऊष्णजल है, उस में नग्नहु और शष्प, तोक्म, लाजा के चूर्णों को मिलाने पर ' मासर " कहलाता है। इसी प्रकार धान शब्द से भुना धान अभिप्रेत है। उसे ही लाजा भी यहां कहा गया है। उदकमन्थ को करम्भ कहते हैं। सक्तु प्रसिद्ध यवसक्तु। परीवाप हविष्पंक्ति है तथा पय दुग्ध का नाम है। दधि लोक में प्रसिद्ध दधि। दही दूध और मीठे का मिलाया द्रव्य आमिक्षा कहलाता है। मधु लोक में प्रसिद्ध ही है। ये सब वस्तुएं सौत्रामणी में प्रयोग में आती हैं। इनमें लाजा और सक्तु दोनों ही भुने सूखे अन्नों से बनते हैं। अतः यह सिद्ध है कि लाजा हवन में पड़ सकता है। इस प्रकार पारस्करप्रतिपादित लाजाहोम वास्तव में वेदविरुद्ध नहीं, ऋषि दयानन्द को भी यह मन्तव्य है।